जीवन और शिक्षण

विनोबा

सत्साहित्य-प्रकाशन

जीवन और शिक्षण

—युवकोपयोगी लेखों तथा भाषणों का संग्रह—

विनोबा

१९६५

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पांचवीं बार : १९६५
मूल्य :
अढ़ाई रुपये
संशोधित मूल्य . 3)

मुद्रक
राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स
दिल्ली-६

2532

प्रकाशकीय

आचार्य विनोबाजी की कई पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं; लेकिन उनके एक ऐसे संग्रह की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी, जो विशेष रूप से युवकों के लिए उपयोगी हो और जिसे पढ़कर वे जान सकें कि सच्ची शिक्षा एवं संस्कृति क्या है, और उन्हें किस प्रकार अपने जीवन का निर्माण तथा विकास करना चाहिए, जिससे वे समाज और राष्ट्र की अधिक-से-अधिक सेवा कर सकें।

प्रस्तुत संग्रह इसी कमी को पूरा करने के विचार से निकाला जा रहा है। युवकों, विशेषकर विद्यार्थियों की दृष्टि से लगभग सभी आवश्यक विषयों का समावेश इसमें हो गया है। हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिए, वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को किस प्रकार लाभदायक बनाया जा सकता है, शिक्षकों में किन-किन गुणों का होना ज़रूरी है, विद्यार्थियों को आत्मविकास के लिए किन-किन मूलभूल बातों को अपने अन्दर विकसित करना चाहिए, शरीर-श्रम क्यों आवश्यक है, वास्तविक अर्थशास्त्र क्या है, हमें ग्रामों की सेवा पर अपना ध्यान क्यों केंद्रित करना चाहिए, ग्रामोद्योग को प्रोत्साहन देने से क्या लाभ है, हमारे जीवन में साधना का क्या महत्त्व है, त्याग और दान का क्या स्थान है, आज की सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं को सर्वोदय के सिद्धांत द्वारा किस प्रकार दूर किया जा सकता है, महापुरुषों के जीवन से हमें क्या-क्या शिक्षाएं मिलती हैं, आदि-आदि दर्जनों विषयों पर इस पुस्तक में प्रकाश डाला गया है। विनोबाजी जो कुछ कहते हैं, उसके व्यावहारिक पक्ष को पहले देख लेते हैं। अतः इस पुस्तक में सिद्धांत और व्यवहार, दोनों का बड़ा ही सुन्दर समन्वय पाठकों को मिलेगा।

विनोबाजी महान चिंतक और साधक हैं। देश के करोड़ों भूखे, नंगे और पीड़ित लोगों की पुकार उन्हें पवनार से खींचकर उनके बीच ले आई है और वह समाज में अहिंसक क्रांति उत्पन्न करने के लिए देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पैदल यात्रा कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि उनके विचारों का अध्ययन, मनन और स्वाध्याय करके पाठक उस महान ध्येय की पूर्ति में योग देंगे, जिसके लिए विनोबाजी ने अपने प्राणों की बाजी लगा रखी है।

पांचवां संस्करण

प्रस्तुत पुस्तक का पांचवां संस्करण पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हुए हमें बड़ा हर्ष हो रहा है। पुस्तक में शिक्षा और संस्कृति के विषय में बुनियादी विचार हैं और इन विचारों का जितना अधिक प्रचार होगा, उतना ही लाभदायक है। हम चाहते हैं कि पुस्तक प्रत्येक युवक के हाथ में पहुंचे, जिससे अपने जीवन-निर्माण में उसे सही मार्ग-दर्शन प्राप्त हो।

हमें विश्वास है कि पुस्तक उत्तरोत्तर लोकप्रिय होगी।

—मंत्री

गंभीर अध्ययन

अध्ययन में लंबाई-चौड़ाई महत्व की चीज़ नहीं है। महत्व है गंभीरता का। बहुत देर तक घंटों-के-घंटे और भांति-भांति के विषयों का अध्ययन करते रहने को मैं लंबा-चौड़ा अध्ययन कहता हूं। समाधिस्थ होकर नित्य-निरंतर थोड़ी देर तक किसी निश्चित विषय के अध्ययन को मैं गंभीर अध्ययन कहता हूं। दस-बारह घंटे सोना, बिस्तर पर करवटें बदलते रहना या सपने देखने रहना—ऐसी नींद से विश्रांति नहीं मिलती; बल्कि पांच ही छः घंटे सोवें, किंतु गाढ़ निद्रा हो तो इतनी नींद से पूर्ण विश्रांति मिल सकती है। यही बात अध्ययन की है। समाधि अध्ययन का मुख्य तत्व है।

समाधियुक्त गंभीर अध्ययन के बिना ज्ञान नहीं। लंबा-चौड़ा अध्ययन बहुत-कुछ फालतू ही होता है। उसमें शक्ति का अपव्यय होता है। अनेक विषयों पर गाड़ीभर पढ़ाई करते रहने से कुछ हाथ नहीं लगता। अध्ययन से प्रज्ञा, बुद्धि स्वतंत्र और प्रतिभावान होनी चाहिए। प्रतिभा के मानी हैं बुद्धि में नई-नई कोंपलें फूटते रहना। नई कल्पना, नया उत्साह, नई खोज, नई स्फूर्ति, ये सब प्रतिभा के लक्षण हैं। लंबी-चौड़ी पढ़ाई के नीचे यह प्रतिभा दबकर मर जाती है।

वर्तमान जीवन में आवश्यक कर्मयोग का स्थान रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए, अन्यथा भविष्य-जीवन की आशा में वर्तमान काल में मरने-जैसा प्रकार बन जाता है। शरीर की स्थिति पर कितना विश्वास किया जाता है, यह प्रत्येक के अनुभव में आनेवाली बात है। भगवान की हम सब पर अपार कृपा ही समझनी चाहिए कि हममें वह कुछ-न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि यह कमी जानकर हम जाग्रत रहें।

दो बिंदुओं से रेखा का निश्चय होता है। जीवन का मार्ग भी तो दो बिंदुओं से ही निश्चित होता है। हम हैं कहां, यह पहला बिंदु; हमें जाना कहां है, यह दूसरा बिंदु। इन दो बिंदुओं का तय कर लेना जीवन की दिशा तय कर लेना है। इस दिशा पर लक्ष्य रखे बिना इधर-उधर भटकते रहने से रास्ता तय नहीं हो पाता।

'ग्रामसेवावृत्त' से] —विनोबा

विषय-सूची

जीवन और शिक्षण

: १ :

रोज की प्रार्थना

ॐ असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्माऽमृतं गमय ।।

हे प्रभो, मुझे असत्य में से सत्य में ले जा। अंधकार में से प्रकाश में ले जा। मृत्यु में से अमृत में ले जा।

इस मंत्र में हम कहां हैं, अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है, और हमें कहां जाना है, अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है। हम असत्य में हैं, अंधकार में हैं, मृत्यु में हैं। यह हमारा जीव-स्वरूप है। हमें सत्य की ओर जाना है प्रकाश की ओर जाना है, अमरत्व को प्राप्त कर लेना है। यह हमारा शिव-स्वरूप है।

दो बिंदु निश्चित हुए कि सुरेखा निश्चित हो जाती है। जीव और शिव ये दो बिंदु निश्चित हुए कि परमार्थ-मार्ग तैयार हो जाता है। मुक्त के लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है, कारण उसका जीव-स्वरूप जाता रहा है। शिव-स्वरूप का एक ही बिंदु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया। जड़ के लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है। कारण, उसे शिव-स्वरूप का भान नहीं है। जीव-स्वरूप का एक ही बिंदु नजर के सामने है, इसलिए मार्ग आरंभ ही नहीं होता। मार्ग बीचवाले लोगों के लिए है। बीचवाले लोग अर्थात् मुमुक्षु। उनके लिए मार्ग है और उन्हींके लिए इस मंत्रवाली प्रार्थना है।

'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा,' ईश्वर से यह प्रार्थना करने के मानी हैं, 'मैं असत्य में से सत्य की ओर जाने का बराबर प्रयत्न करूंगा', इस तरह

की एक प्रतिज्ञा-सी करना। प्रयत्नवाद की प्रतिज्ञा के बिना प्रार्थना का कोई अर्थ ही नहीं रहता। यदि मैं प्रयत्न नहीं करता और चुप बैठ जाता हूं, अथवा विरुद्ध दिशा में जाता हूं, और जवान से 'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' यह प्रार्थना किया करता हूं, तो इससे क्या मिलने का? नागपुर से कलकत्ते की ओर जानेवाली गाड़ी में वैठकर हम 'हे प्रभो, मुझे बंवई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करें, तो उसका क्या फायदा होना है? असत्य से सत्य की ओर ले चलने की प्रार्थना करनी हो तो असत्य से सत्य की ओर जाने का प्रयत्न भी करना चाहिए। प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी प्रार्थना करने में यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना रुख असत्य से सत्य की ओर करूंगा और अपनी शक्तिभर सत्य की ओर जाने का भरपूर प्रयत्न करूंगा।

प्रयत्न करना है तो फिर प्रार्थना क्यों? प्रयत्न करना है, इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए। मैं प्रयत्न करनेवाला हूं। पर फल मेरी मुट्ठी में थोड़े ही है। फल तो ईश्वर की इच्छा पर अवलंवित है। मैं प्रयत्न करके भी कितना करूंगा? मेरी शक्ति कितनी अल्प है? ईश्वर की सहायता के बिना मैं अकेला क्या कर सकता हूं? मैं सत्य की ओर अपने कदम बढ़ाता रहूं तो भी ईश्वर की कृपा के बिना मैं मंजिल पर नहीं पहुंच सकता। मैं रास्ता काटने का प्रयत्न तो करता हूं, पर अंत में मैं रास्ता काटूंगा कि बीच में मेरे पैर ही कट जानेवाले हैं, यह कौन कह सकता है? इसलिए अपने ही वलबूते मैं मंजिल पर पहुंच जाऊंगा, यह घमंड फिजूल है। काम का अधिकार मेरा है, पर फल ईश्वर के हाथ में है। इसलिए प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर की प्रार्थना आवश्यक है। प्रार्थना के संयोग से हमें वल मिलता है। यों कहो न कि अपने पास का संपूर्ण बल काम में लाकर वल की ईश्वर से मांग करना, यही प्रार्थना का मतलव है।

प्रार्थना में दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय है। दैववाद में पुरुषार्थ को अवकाश नहीं है, इससे वह वावला है। प्रयत्नवाद में निरहंकार वृत्ति नहीं है, इससे वह घमंडी है। फलतः दोनों ग्रहण नहीं किये जा सकते। किंतु दोनों को छोड़ा भी नहीं जा सकता। कारण, दैववाद में जो नम्रता है, वह जरूरी है। प्रयत्नवाद में जो पराक्रम है, वह भी आवश्यक है। प्रार्थना इनका मेल

साधती है। 'मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः' गीता में सात्विक कर्ता का यह जो लक्षण कहा गया है, उसमें प्रार्थना का रहस्य है। प्रार्थना मानी अहंकाररहित प्रयत्न। सारांश, 'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' इस प्रार्थना का संपूर्ण अर्थ होगा कि 'मैं असत्य में से सत्य की ओर जाने का, अहंकार छोड़कर, उत्साहपूर्वक सतत प्रयत्न करूंगा।' यह अर्थ ध्यान में रखकर हमें रोज प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि—

हे प्रभो, तू मुझे असत्य में से सत्य में ले जा। अंधकार में से प्रकाश में ले जा। मृत्यु में से अमृत में ले जा।

: २ :

जीवन और शिक्षण

आज की विचित्र शिक्षण-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकड़े हो जाते हैं। आयु के पहले पन्द्रह-बीस बरसों में आदमी जीने के झंझट में न पड़कर सिर्फ शिक्षा को प्राप्त करे और बाद को शिक्षण को बस्ते में लपेट रखकर मरने तक जिये।

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथभर लम्बाई का बालक साढ़े तीन हाथ का कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरों के ध्यान में भी नहीं आता। शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश क्रम-क्रम से, थोड़ी-थोड़ी होती है। इसलिए उसके होने का भान तक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रात को सोये तब तो दो फुट ऊंचाई थी और सवेरे उठकर देखा तो अढ़ाई फुट हो गई। आज की शिक्षण-पद्धति का तो यह ढंग है कि अमुक वर्ष के बिल्कुल आखिरी दिन तक मनुष्य-जीवन के विषय में पूर्ण रूप से गैर जिम्मेदार रहे, तो भी कोई हर्ज नहीं। यही नहीं, उसे गैरजिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। संपूर्ण गैरजिम्मेदारी से संपूर्ण जिम्मेदारी में कूदना तो एक हनुमान-कूद ही हुई। ऐसी हनुमान-कूद की कोशिश में हाथ-पैर टूट जायं तो क्या अचरज !

भगवान ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता कही। पहले भगवद्गीता के 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवन की तैयारी का ज्ञान कहते हैं उसे जीवन से बिल्कुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञान से मौत की ही तैयारी होती है।

बीस वरस का उत्साही युकक अध्ययन में मग्न है। तरह-तरह के ऊंचे विचारों के महल बना रहा है। "मैं शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूंगा। मैं वाल्मीकि-सा कवि बनूंगा। मैं न्यूटन की तरह खोज करूंगा।" एक, दो, चार, जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करने का भाग्य भी थोड़ों को ही मिलता है। पर जिनको मिलता है, उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओं का आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकड़ी के फेर में पड़ा, जब पेट का प्रश्न सामने आया, तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवन की जिम्मेदारी क्या चीज है, आजतक इसकी बिल्कुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करता है? फिर पेट के लिए वन-वन फिरनेवाला शिवाजी, करुण गीत गानेवाले वाल्मींकि, और कभी नौकरी की, तो कभी औरत की, कभी लड़की के लिए वर की और अंत में श्मशान की शोध करनेवाले न्यूटन—इस प्रकार की भूमिकाएं लेकर अपनी कल्पनाओं का समाधान करता है। यह हनुमान-कूद का फल है।

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से पूछा, "क्यों जी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कालेज में जाऊंगा।"

"ठीक है। कालेज में तो जाओगे। लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर अभी से उसका विचार क्यों किया जाय? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थी से वही सवाल पूछा।

"अभी तक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार हुआ नहीं, यानी? लेकिन विचार किया था क्या?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें? कुछ सूझता नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा' ये वे ही शब्द हैं जो तीन वर्ष पहले कहे गए थे। पर पहले की आवाज में वेफिक्री थी। आज की आवाज में थोड़ी चिंता की झलक थी।

फिर डेढ़ वर्ष बाद उसी प्रश्नकर्ता ने उसी विद्यार्थी से—अथवा कहो, अब 'गृहस्थ' से—वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिंताक्रांत था। आवाज की वेफिक्री विल्कुल गायब थी। ततः किम् ? ततः किम् ? ततः किम् ? यह शंकराचार्यजी का पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमाग में कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब नहीं था।

आज की मौत कलपर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसंग नहीं आता जो 'मरण के पहले ही' मर लेते हैं, जो अपना मरण आंखों से देखते हैं। जो मरण का 'अगाऊ' अनुभव कर लेते हैं, उनका मरण टलता है और जो मरण के अगाऊ अनुभव से जी चुराते हैं, खिंचते हैं, उनकी छाती पर मरण आ पड़ता है। सामने खंभा है, यह बात अंधे को उस खंभे का छाती में प्रत्यक्ष धक्का लगने के बाद मालूम होती है। आंखवाले को वह खंभा पहले ही दिखाई देता है। अतः उसका धक्का उसकी छाती को नहीं लगता।

जिंदगी की जिम्मेदारी कोई निरी मौत नहीं है और मौत ही कौन ऐसी बड़ी 'मौत' है ? अनुभव के अभाव से यह सारा 'हौआ' है। जीवन और मरण दोनों आनंद की वस्तु होनी चाहिए। कारण, अपने परमप्रिय पिता ने—ईश्वर ने—वे हमें दिये हैं। ईश्वर ने जीवन दुःखमय नहीं रचा। पर हमें जीवन जीना आना चाहिए। कौन पिता है, जो अपने बच्चों के लिए परेशानी की जिंदगी चाहेगा। तिसपर ईश्वर के प्रेम और करुणा का पार है ? वह अपने लाड़ले बच्चों के लिए सुखमय जीवन का निर्माण करेगा कि परेशानी और झंझटों से भरा जीवन रचेगा ? कल्पना की क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिये न। हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है, उसके उतनी ही सुलभता से मिलने का इन्तजाम ईश्वर की ओर से है। पानी से हवा ज्यादा जरूरी है, तो ईश्वर ने पानी से हवा को अधिक सुलभ किया है। जहां नाक है, वहां हवा मौजूद है। पानी से अन्न की जरूरत कम होने की वजह से पानी प्राप्त करने की बनिस्वत अन्न प्राप्त करने में अधिक परिश्रम

करना पड़ता है। 'आत्मा' सबसे अधिक महत्व की वस्तु होने के कारण वह हरेक को हमेशा के लिए दे डाली गई है। ईश्वर की ऐसी प्रेमपूर्ण योजना है। इसका खयाल न करके हम निकम्मे, जड़ जवाहरात जमा करने जितने जड़ बन जायं तो तकलीफ हमें होगी ही। पर यह हमारी जड़ता का दोष है, ईश्वर का नहीं।

जिंदगी की जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नहीं है। वह आनंद से ओत-प्रोत है, बशर्ते कि ईश्वर की रची हुई जीवन की सरल योजना को ध्यान में रखते हुए अयुक्त वासनाओं को दबाकर रखा जाय। पर जैसे वह आनंद से भरी हुई वस्तु है वैसे ही शिक्षा से भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिंदगी की जिम्मेदारी से वंचित हुआ, वह सारे शिक्षण का फल गंवा बैठा। बहुतों की धारणा है कि बचपन से जिंदगी की जिम्मेदारी का खयाल अगर बच्चों में पैदा हो जाय तो जीवन कुम्हला जायगा। पर जिंदगी की जिम्मेदारी का भान होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है। पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षण-शास्त्रियों की भी है, और इसका मुख्य कारण है जीवन के विषय में दुष्ट कल्पना। जीवन मानी कलह, यह मान लेना। ईसप-नीति के अरसिक माने हुए, परन्तु वास्तविक मर्म को समझनेवाले मुर्गे से सीख लेकर ज्वार के दानों की अपेक्षा मोतियों को मान देना छोड़ दिया तो जीवन के अंदर का कलह जाता रहेगा और जीवन में सहकार दाखिल हो जायगा। बन्दर के हाथ में मोतियों की माला (मरकट-भूषण अंग) यह कहावत जिन्होंने गढ़ी है, उन्होंने मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध न करके मनुष्य के पूर्वजों के संबंध में डार्विन का सिद्धान्त ही सिद्ध किया है। 'हनुमान के हाथ में मोतियों की माला' वाली कहावत जिन्होंने रची, वे अपने मनुष्यत्व के प्रति वफादार रहे।

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चों को उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर अगर जीने लायक वस्तु हो तो लड़कों को उसमें जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हें शिक्षण नहीं मिलने का। भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्र में कही गई, वैसे शिक्षा जीवन-क्षेत्र में देनी चाहिए, दी जा सकती है। 'दी जा सकती है', यह भाषा भी ठीक नहीं है, वहीं वह मिल सकती है।

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसीका नाम शिक्षा है। बच्चों को खेत में काम करने दो। वहां कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान की या दूसरी जिस चीज की जरूरत हो उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चों को रसोई बनाने दो। उसमें जहां जरूरत हो रसायनशास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो'। व्यवहार में काम करनेवाले आदमी को भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चों को भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चों के आस-पास जरूरत के अनुसार मार्ग-दर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी 'जीवन जीनेवाले' हों, जैसे व्यवहार में आदमी जीवन जीते हैं। अन्तर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालों का जीवन विचारमय होगा, उसमें के विचार मौके पर बच्चों को समझाकर बताने की योग्यता उसमें होगी। पर 'शिक्षक' नाम के किसी स्वतन्त्र धन्धे की जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्य-कोटि से बाहर किसी प्राणी की। और 'क्या करते हो' पूछने पर 'पढ़ता हूं' या 'पढ़ाता हूं' ऐसे जवाब की जरूरत नहीं है। 'खेती करता हूं' अथवा 'बुनता हूं' ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिये या व्यावहारिक कहिये, पर जीवन के भीतर से उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम-लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र का लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षा के लिए उन्होंने दशरथ से लड़कों की याचना की। उसी काम के लिए दशरथ ने लड़कों को भेजा। लड़कों में भी यह जिम्मेदारी की भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षण के 'काम' के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मण ने क्या किया, तो कहना होगा कि 'यज्ञ-रक्षा की'। 'शिक्षण प्राप्त किया' नहीं कहा जायगा। पर शिक्षण उन्हें मिला, जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्तव्य कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्तव्य करता है उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है। लड़कों को भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरों को वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लड़कों में आज उतनी शक्ति नहीं आई है, इसलिए उनके आस-पास ऐसा वातावरण बनाना

चाहिए कि वहुत ठोकर न खाने पायें और धीरे-धीरे वे स्वावलम्वी वनें, ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है। और 'मा फलेषु कदाचन' यह दर्यादा फल के लिए भी लागू है—खास शिक्षण के लिए कोई कर्म करना यह भी सकाम हुआ—और उसमें भी 'इदमद्य मया लब्धम्'—आज मैंने यह पाया, 'इदं प्राप्स्ये'—कल वह पाऊंगा, इत्यादि वासनाएं आती ही हैं। इसलिए इस 'शिक्षण-मोह' से छूटना चाहिए। इस मोह से जो छूटा, उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। मां बीमार है, उसकी सेवा करने में मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षण के लोभ से मुझे माता की सेवा नहीं करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्तव्य है, इस भावना से मुझे माता की सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करने से मेरी दूसरी चीज—जिसे मैं 'शिक्षण' समझता हूं वह—जाती है तो इस शिक्षण के नष्ट होने के डर से मुझे माता की सेवा नहीं टालनी चाहिए।

प्राथमिक महत्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षण में स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षण-शास्त्रियों का इसपर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षण की दृष्टि से ही दाखिल किये जायं, पेट भरने की दृष्टि से नहीं। आज 'पेट भरने' का जो विकृत अर्थ प्रचलित है, उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हद तक वह ठीक है। पर मनुष्य को 'पेट' देने में ईश्वर का हेतु है। ईमानदारी से 'पेट भरना' अगर मनुष्य साध ले तो समाज से बहुतेरे दुःख और पातक नष्ट हो ही जायं। इसीसे मनु ने 'योऽर्थशुचिः स हि शुचिः—जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है वही पवित्र है, यह यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। 'सर्वेषामविरोधेन' कैसे जियें, इस शिक्षण में सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोध वृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यह कर्तव्य करने से ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्रा के लिए उपयोगी परिश्रम करने को ही शास्त्रकारों ने 'यज्ञ' नाम दिया है। 'उदर-भरण नोहे, जाणिजे यज्ञकर्म'—यह उदर-भरण नहीं है, इसे यज्ञ कर्म जान। वामन पण्डित का यह वचन प्रसिद्ध है। अतः मैं शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हूं, यह भावना उचित है। शरीर-यात्रा से मतलब अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की यात्रा न समझकर समाज-

शरीर की यात्रा, यह उदार अर्थ मन में बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा मानी समाज की सेवा और इसीलिए ईश्वर की पूजा, इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और इस ईश्वर-सेवा में देह खपाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेक में होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चों में भी होनी चाहिए। इसके लिए उनकी शक्तिभर उन्हें जीवन में भाग लेने का मौका देना चाहिए और जीवन को मुख्य केंद्र बनाकर उसके आस-पास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षण की रचना करनी चाहिए।

इससे जीवन के दो खंड न होंगे। जीवन की जिम्मेवारी अचानक आ पड़ने से उत्पन्न होनेवाली अड़चन पैदा न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर 'शिक्षण का मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी।

: ३ :

कौटुंबिक पाठशाला

विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार-शून्य बन जाता है। मनुष्य घर में जीता है और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओर से घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुंब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्र को चाहिए कि कौटुंबिक पाठशाला स्थापित करे।

छात्रालय अथवा शिक्षकों के घर को शिक्षा की बुनियाद मानकर उसपर शिक्षण की इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुंबिक शाला है। ऐसे कौटुंबिक शाला के जीवनक्रम के संबंध में—पाठ्यक्रम को अलग रखकर—कुछ सूचनाएं इस लेख में करनी हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. ईश्वर-निष्ठा संसार में सार वस्तु है। इसलिए नित्य के कार्यक्रम

में दोनों वेला सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थना का स्वरूप संत-वचनों की सहायता से ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासना में एक भाग नित्य के किसी निश्चित पाठ को देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधेन' यह नीति हो। एक प्रार्थना रात को सोने के पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठने पर।

२. आहार-शुद्धि का चित्त-शुद्धि से निकट संबंध है, इसलिए आहार सात्विक रखना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले हुए पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थों का त्याग करना चाहिए। दूध और दूध से बने पदार्थों का मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

३. ब्राह्मण से या दूसरे किसी रसोइए से रसोई नहीं बनवानी चाहिए। रसोई की शिक्षा शिक्षा का एक अंग है। सार्वजनिक काम करनेवाले के लिए रसोई का ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी, सबको यह आनी चाहिए। स्वावलंबन का वह एक अंग है।

४. कौटुंबिक पाठशाला को अपने पाखाने का काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ किसीसे छूतछात न मानना ही नहीं, किसी भी समाजोपयोगी काम से नफरत न करना भी है। पाखाना साफ करना अंत्यज का काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छता की सच्ची तालीम भी इसमें है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखने के ढंग का अभ्यास है।

५. अस्पृश्यों सहित सबको मदरसे में स्थान मिलना चाहिए, यह तो है ही, पर 'कौटुंबिक' पाठशाला में पंक्ति-भेद रखना भी संभव नहीं। आहार-शुद्धि का नियम रहना काफी है।

६. स्नानादि प्रातःकर्म सवेरे ही कर डालने का नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य-भेद से अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठंडे पानी से करना चाहिए।

७. प्रातः-कर्मों की तरह सोने के पहले के 'सायं-कर्म' भी जरूर होने चाहिए। सोने के पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायं-कर्म का गाढ़ निद्रा और ब्रह्मचर्य से संबंध है। खुली हवा में अलग-अलग सोने का नियम होना चाहिए

८. किताबी शिक्षा के बजाय उद्योग पर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे तो उद्योग में देने ही चाहिए। इसके बिना अध्ययन तेजस्वी नहीं होने का। 'कर्मातिशेषेण' अर्थात् काम करके बचे हुए समय में वेदाध्ययन करना श्रुति का विधान है।

९. शरीर को तीन घंटे उद्योग में लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य स्वतः करने का नियम रखने के बाद दोनों समय व्यायाम करने की जरूरत नहीं है। फिर भी एक वेला अपनी-अपनी जरूरत के मुताबिक खुली हवा में खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

१०. कातने को राष्ट्रीय धर्म की प्रार्थना की भांति नित्य कर्म में गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योग के समय के अलावा कम-से-कम आधा घंटा वक्त देना चाहिए। इस आधे घंटे में तकली का उपयोग करने से भी काम चल जायगा। कातने का नित्य कर्म यात्रा में या कहीं भी छोड़े बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकली पर कातना तो आना ही चाहिए।

११. कपड़े में खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजें भी, जहां तक संभव हो, स्वदेशी ही लेनी चाहिए।

१२. सेवा के सिवा दूसरे किसी भी काम के लिए रात को जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमी की सेवा इसमें अपवाद है। पर मौज के लिए या ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी रात का जागरण निषिद्ध है। नींद के लिए अढाई पहर रखने चाहिए

१३. रात में भोजन नहीं रखना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा तीनों दृष्टियों से इस नियम की आवश्यकता है।

१४. प्रचलित विषयों में संपूर्ण जागृति रखकर वातावरण को निश्चल रखना चाहिए।

प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कौटुंबिक शाला के जीवनक्रम के संबंध में चौदह सूचनाएं दी गई हैं। इनमें किताबी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के बारे में ब्योरा नहीं दिया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में जिन्हें 'रस' है, वे इन सूचनाओं पर विचार करें।

: ४ :

राष्ट्रीय शिक्षकों का दायित्व

एक देशसेवाभिलाषी से किसीने पूछा, "कहिये, अपनी समझ में आप क्या काम अच्छा कर सकते हैं?"

उसने उत्तर दिया, "मेरा खयाल है, मैं केवल शिक्षण का काम कर सकता हूं और उसीका शौक है।"

"यह तो ठीक है। अक्सर आदमी को जो आता है, मजबूरन उसका उसे शौक होता ही है। पर यह कहिये कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नहीं?"

"जी नहीं। दूसरा कोई काम नहीं करना आयेगा। सिर्फ सिखा सकूंगा और विश्वास है कि यह काम तो अच्छा कर सकूंगा।"

"हां-हां, अच्छा सिखाने में क्या शक है; पर अच्छा क्या सिखा सकते हैं? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे?"

"नहीं, वह नहीं सिखा सकता।"

"तब, सिलाई? रंगाई? बढ़ईगिरी?"

"न, यह सब कुछ नहीं।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरा घरेलू काम सिखा सकेंगे?"

"नहीं, काम के नाम से तो मैंने कुछ किया ही नहीं, मैं केवल शिक्षण का..."

"भाई जो पूछा जाता है, उसीमें 'नहीं', 'नहीं' कहते हो और कहे जाते हो, 'केवल' शिक्षण का काम कर सकता हूं। इसके मानी क्या हैं? बागवानी सिखा सकियगा?"

देशसेवाभिलाषी ने जरा चिढ़कर कहा, "यह क्या पूछ रहे हैं? मैंने शुरू में ही तो कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नहीं आता। मैं साहित्य पढ़ा सकता हूं।"

प्रश्नकर्ता ने जरा मजाक से कहा, "ठीक कहा। अब की आपकी बात कुछ तो समझ में आई! आप 'रामचरितमानस' जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते हैं?"

अब तो देशसेवाभिलाषी महाशय का पारा गरम हो उठा और मुंह से कुछ ऊटपटांग निकलने को ही था कि प्रश्नकर्ता बीच में ही बोल उठा, "शांति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे ?"

अब तो हद हो गई। आग में जैसे मिट्टी का तेल डाल दिया हो। यह संवाद खूब जोर से भभकता, लेकिन प्रश्नकर्ता ने तुरन्त उसे पानी डालकर बुझा दिया—"मैं आपकी बात समझा। आप लिखना-पढ़ना आदि सिखा सकेंगे और इसका भी जीवन में थोड़ा-सा उपयोग है, बिल्कुल न हो, ऐसा नहीं है। खैर, आप बुनाई सीखने को तैयार हैं ?"

"अब कोई नई चीज सीखने का हौसला नहीं है और तिसपर बुनाई का काम तो मुझे आने का नहीं, क्योंकि आज तक हाथ को ऐसी कोई आदत ही नहीं।"

"माना, इस कारण सीखने में कुछ ज्यादा वक्त लगेगा, लेकिन इसमें न आने की क्या बात है ?"

मैं तो समझता हूं, नहीं ही आयेगा। पर मान लीजिये, बड़ी मेहनत से आया भी तो मुझे इसमें बड़ा झंझट मालूम होता है। इसलिए मुझसे यह नहीं होगा, यही समझिये।"

"ठीक,जैसे लिखना सिखाने को तैयार हैं,वैसे खुद लिखने का काम कर सकते हैं?"

"हां, जरूर कर सकता हूं। लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे लिखते रहने का काम भी है झंझटी, फिर भी उसके करने में कोई आपत्ति नहीं है।"

यह बातचीत यहीं समाप्त हो गई। नतीजा इसका क्या हुआ, यह जानने की जरूरत नहीं।

शिक्षकों की मनोवृत्ति समझने के लिए यह बातचीत काफी है। शिक्षण यानी—

किसी तरह की जीवनोपयोगी क्रियाशीलता से शून्य;

कोई नई काम की चीज सीखने में स्वभावतः असमर्थ हो गया है;

क्रियाशीलता से सदा के लिए उकताया हुआ;

'सिर्फ शिक्षण' का घमंड रखनेवाला पुस्तकों में गड़ा हुआ, आलसी जीव;

'सिर्फ शिक्षण' का मतलब है जीवन में तोड़कर बिलगाया हुआ मुर्दा; शिक्षण और शिक्षक के मानी मृत-जीवी मनुष्य।

'मृत जीवी को ही कोई-कोई बुद्धिजीवी कहते हैं। पर यह है वाणीका व्यभिचार। बुद्धि-जीवी कौन है ? कोई गौतम बुद्ध, कोई सुकरात, शंकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर बुद्ध-जीवन की ज्योति जगाकर दिखाते हैं। 'गीता' में बुद्धि-ग्राह्य जीवन का अर्थ अतींद्रिय जीवन वतलाया है। जो इंद्रियों का गुलाम है, जो देहासक्ति का मारा हुआ है, वह बुद्धि-जीवी नहीं है। बुद्धि का पति आत्मा है। उसे छोड़कर जो बुद्धि देह के द्वार की दासी हो गई वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धि का जीवन ही मरण है। और उसे जीनेवाला मृत-जीवी। सिर्फ शिक्षण पर जीनेवाले जीव विशेष अर्थ में मृत-जीवी हैं। सिर्फ शिक्षण पर जीनेवालों को मनु ने 'मृतकाध्यापक' उर्फ 'वेतन-भोगी शिक्षक' नाम देकर श्राद्ध के काम में इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्ध में तो मृत पूर्वजों की स्मृति को जिंदा करना रहता है और जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवन को मृत कर दिखाया है, उनका इस काम में क्या उपयोग ?

शिक्षकों को पहले आचार्य कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान्: स्वयं आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र से उसका आचरण करा लेनेवाला आचार्य है। ऐसे आचार्यों के पुरुषार्थ से ही राष्ट्र का निर्माण हुआ है। आज हिंदुस्तान की नई तह बैठानी है। राष्ट्र-निर्माण का काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षकों के बिना वह संभव नहीं है।

तभी तो राष्ट्रीय शिक्षण का प्रश्न सबसे महत्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और व्याप्ति-हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्र का सुशिक्षित वर्ग निरग्नि और निष्क्रिय होता जा रहा है। इसका उपाय राष्ट्रीय शिक्षण की आग सुलगाना ही है।

पर वह अग्नि होनी चाहिए। अग्नि की दो शक्तियां मानी गई हैं। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तियां जहां हैं, वहां अग्नि है। 'स्वाहा' के मानी हैं आत्माहुति देने की, आत्मत्याग की शक्ति, और 'स्वधा' के मानी हैं आत्म-धारण की शक्ति। ये दोनों शक्तियां राष्ट्र-शिक्षण में जाग्रत

होनी चाहिए। इन शक्तियों के होने पर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायेगा। वाकी सव मृत—निर्जीव—है, कोरा शिक्षण।

ऊपर-ऊपर से दिखाई देता है कि अवतक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकों ने वड़ा आत्मत्याग किया है, पर वह उतना सही नहीं है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्याग के मानी आत्मत्याग नहीं हैं। उसकी कसौटी भी है। जहां आत्मत्याग की शक्ति होगी, वहां आत्मधारण की शक्ति भी होती है। न हुई तो त्याग कोई काहे का करेगा ? जो आत्मा अपने को खड़ा ही नहीं रख सकता वह कूदेगा कैसे ? मतलव, आत्मत्याग की शक्ति में आत्मधारण पहले से शामिल ही है। यह आत्मधारण की शक्ति 'स्वधा' राष्ट्रीय शिक्षकों ने अभीतक सिद्ध नहीं की है। इसलिए आत्मत्याग करने का जो आभास हुआ, वह आभास मात्र ही है।

पहले स्वधा होगी, उसके वाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षण को अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकों को अव स्वधा-संपादन की तैयारी करनी चाहिए।

शिक्षकों को 'केवल शिक्षण' की भ्रामक कल्पना छोड़कर स्वतंत्र जीवन की जिम्मेदारी—जैसी किसानों पर होती है वैसी—अपने ऊपर होनी चाहिए और विद्यार्थियों को भी उसीमें दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारों ओर शिक्षण की रचना करनी चाहिए अथवा अपने-आप होने देनी चाहिए। 'गुरोः कर्मातिशेषेण' इस वाक्य का अर्थ 'गुरु के काम पूरे करके वेदाभ्यास करना' यही ठीक है, नहीं तो गुरु की व्यक्तिगत सेवा—इतना ही अगर 'गुरोः कर्म' का अर्थ लें तो गुरु की सेवा आखिर कितनी होगी ? और उसके लिए कितने लड़कों को कितना काम करने को रहेगा ? इसलिए 'गुरोः कर्म' करने के मानी हैं गुरु के जीवन में जिम्मेदारी से हिस्सा लेना। वैसा दायित्व-पूर्ण भाग लेकर उसमें जो शंकाएं वगैरा पैदा हों उन्हें गुरु से पूछे और गुरु को भी चाहिए कि अपने जीवन की जिम्मेदारी निबाहते हुए और उसीका एक अंग समझकर उसका यथाशक्ति उत्तर देता जाय। यह शिक्षण का स्वरूप है। इसीमें थोड़ा स्वतंत्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यास के लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वर की उपासना का ही हो, पर वैसा करके भी सुवह-शाम थोड़ा समय उपासना के लिए देना पड़ता है। यही न्याय वेदाभ्यास अथवा शिक्षण पर लागू करना चाहिए। मतलव, जीवन की

जिम्मेदारी के काम ही दिन के मुख्य भाग में करने चाहिए और उन सभीको शिक्षण का ही काम समझना चाहिए। साथ ही, रोज एक-दो घंटे (period) 'शिक्षण के निमित्त' भी देना चाहिए।

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवन में उतारना राष्ट्रीय शिक्षक का कर्तव्य है। यह कर्तव्य करते रहने से उसके जीवन में अपने-आप उसके आस-पास शिक्षा की किरणें फैलेंगी और उन किरणों के प्रकाश से आस-पास के वातावरण का काम अपने-आप हो जायगा। इस प्रकार का शिक्षक स्वतःसिद्ध शिक्षण-केंद्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्य को पवित्र जीवन बिताने की फिक्र करनी चाहिए। शिक्षण की खबरदारी रखने के लिए वह जीवन ही समर्थ है। उसके लिए 'केवल शिक्षण' की हवस रखने की जरूरत नहीं।

: ५ :

तेजस्वी विद्या

जब मैं अपने को विद्यार्थियों में पाता हूं तो मुझे बहुत खुशी होती है। इसका कारण यह है कि आपकी और मेरी जाति एक है। आप विद्यार्थी हैं, और मैं भी विद्यार्थी हूं। हर रोज कुछ-न-कुछ नया ज्ञान हासिल कर ही लेता हूं।

यूनिवर्सिटी में रहकर आप लोग कुछ ज्ञान कमाते हैं और समझते हैं कि यह ज्ञान आपको अपने भावी जीवन में लाभ पहुंचायेगा। वास्तव में जहां यूनिवर्सिटी का ज्ञान खतम होता है, वहां विद्या का आरंभ होता है। यूनिवर्सिटी का अध्ययन पूरा करने का अर्थ इतना ही है कि अब आप अपने प्रयत्न से विद्या प्राप्त कर सकते हैं। आप निजाधार बनें, निराधार न रहें।

आप बाल्यावस्था में हैं। बाल-पदवी आपको प्राप्त है। बाल तो वह होता है जो बलवान् है, जो मानता है कि यह सारी दुनिया मेरे हाथ से

मिट्टी-जैसी है, उसकी जो भी चीज मैं बनाना चाहूंगा बना लूंगा। सारांश यह कि आपको अपनी बुद्धि स्वतन्त्र रखनी चाहिए।

विद्यार्थियों के बारे में मेरी यह शिकायत है कि उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक किसी बात पर सोचने ही नहीं दिया जाता। आजतक हर हुकूमत (स्टेट) की यह कोशिश रही है कि बने-बनाये विचार विद्यार्थियों के दिमाग में ठूंस दिये जायं, फिर चाहे वह स्टेट सोशलिस्ट (समाजवादी) हो, कम्यूनिस्ट (साम्यवादी) हो, कम्यूनलिस्ट (साम्प्रदायिकतावादी) हो या और भी कोई इष्ट या अनिष्ट हो। लेकिन यह तरीका गलत है। एक जमाना था जब हमारे गुरु विद्यार्थियों को पूरा विचार-स्वातंत्र्य देते थे। वे अपने शिष्यों से कहते कि हमारे दोषों का नहीं, अच्छी बातों का ही अनुकरण करो। गुरु को तो अपने उस शिष्य पर अभिमान होना चाहिए, जो सोच-समझकर विचारपूर्वक गुरु की बात को मानने से इन्कार कर देता है। आजकल तो जो उठता है, अपनी ही बात मनवाना चाहता है। विद्यार्थियों के लिए यह एक बहुत बड़ा खतरा है। मानो ये लोग विद्यार्थियों का यन्त्रीकरण ही करना चाहते हैं। आपको ऐसे किसी यन्त्र का पुर्जा नहीं बनना चाहिए। आपको सन्त बनना है, पंथ नहीं बनना है। सन्त वह है जो सत्य का उपासक होता है और पंथ वह है जो किसी बने-बनाये पंथ पर जड़वत् चलता है। आप लोग अलग-अलग यूनियनें बनाते हैं। इन यूनियनों में रहने के लिए एक खास विचार-प्रणाली का अनुसरण जरूरी होता है? मैं आप से पूछता हूं, शेरों का कभी कोई यूनियन बनता है क्या? यूनियन तो भेड़ों का बनता है। मेरा मतलब यह नहीं है कि दूसरों के साथ आपको सहकार ही नहीं करना है। अच्छी बातों में सहकार जरूर करना है। लेकिन विचारों को स्वतन्त्र रखना है और सत्य-दर्शन के लिए उसमें आवश्यक परिवर्तन करने को सदा तैयार रहना है। इसे ही सत्यनिष्ठ कहते हैं और बलवान बनने का यही रास्ता है।

बलवान बनने के लिए एक और जरूरी बात है संयम। मैं इन्द्र हूं। ये इन्द्रियां मेरी शक्तियां हैं। उनपर मेरा काबू होना चालिए। विद्यार्थी-अवस्था में आपको संयम की महान् विद्या सीख लेनी है। जब आप

संयम की शक्ति का संग्रह कर लेंगे तो एकाग्रता भी, जो जीवन की एक महान् शक्ति है, पा लेंगे।

आप आंख और पांव का भेद समझें। आंख सारी दुनिया के निरीक्षण के लिए खुली होनी चाहिए। उसको स्वैर-संचार की पूरी आजादी होनी चाहिए। लेकिन पांव तो नियत मार्ग पर चलने चाहिए। तभी प्रवास होगा। बारिश का सारा पानी अलग-अलग दिशाओं में जहां-तहां बह जाय तो नदी नहीं बनेगी। नदी बनने के लिए नियत दिशा चाहिए। संयम की शक्ति इस दृष्टान्त से समझ लीजियेगा।

एक बार मुझे विद्यार्थियों के 'तरुण उत्साही मण्डल' में जाना पड़ा। मैंने कहा कि उत्साही मण्डल तो वृद्धों के होने चाहिए। जिस राष्ट्र को अपने विद्यार्थियों को उत्साहित करने की जरूरत पड़ती है, वह राष्ट्र तो खत्म ही हुआ समझिये। तरुणों को धृति की आवश्यकता है। उसीसे उत्साह टिकता और कारगर होता है। जैसे गीता में कहा गया है कि धृति और उत्साह मिलकर कर्मयोग बनता है। आपको कर्मयोगी बनना है।

एक सवाल हर वक्त पूछा जाता है कि विद्यार्थियों को राजनीति में भाग लेना चाहिए या नहीं। विद्यार्थियों को आत्मनीति में प्रवीण बनना है। हर बात में उनको जागरूक रहकर अपनी नीति निश्चित करनी है। राजनीति में विद्यार्थी साक्षी और अध्यक्ष बनकर रहें। हम अध्यक्ष उसे कहते हैं, जिसकी आंख सारी दुनिया पर रहती है। विद्यार्थी-दशा में आप जीवन से संबंधित सारे प्रश्नों पर अध्यक्ष की भूमिका से निरीक्षण-परीक्षण करते रहें और अपने निर्णय बनाते रहें। समय आने पर उनपर अमल करें।

कर्मयोगी बनने के लिए विद्यार्थियों को कुछ-न-कुछ निर्माण-कार्य करते रहना चाहिए। निर्माण के बिना निःसंशय ज्ञान भी नहीं होता। प्रयोग से प्राप्त ज्ञान ही निःसंशय ज्ञान होता है। मैं विद्यार्थियों से पूछता हूं, "आप लोग रोटी बनाना जानते हैं?" वे कहते हैं, "नहीं, हम तो सिर्फ खाना जानते हैं। रोटी पकाना तो लड़कियों का काम है।" रोटी पकाना अगर लड़कियों का काम है तो रोटी खाना भी लड़कियों का ही काम रहने दीजिये। अपने लिए 'ज्ञानामृतं भोजनम्' रख लीजिये। जिन लोगों ने लड़कियों और लड़कों के

कार्यों को इस तरह विभाजित किया, उन्होंने दोनों को गुलाम बनाने का तरीका ढूंढ़ निकाला है और ज्ञान को पुरुषार्थ-हीन बनाया है।

श्रीकृष्ण बचपन में हाथों से काम करता था, मेहनत-मजदूरी करता था। इसीलिए गीता में इतनी स्वतंत्र प्रतिभा का दर्शन हमें होता है। हमें ढेर-की-ढेर विद्या हासिल नहीं करनी है। तेजस्वी विद्या हासिल करनी है। जिस विद्या में कर्तव्य-शक्ति नहीं, स्वतंत्र रूप से सोचने की बुद्धि नहीं, खतरा उठाने की वृत्ति नहीं, वह विद्या निस्तेज है। मैं चाहता हूं कि आप सब तेजस्वी विद्या प्राप्त करने की वृत्ति रखें।

: ६ :

नई शिक्षा-प्रणाली का आधार

'ब्रेड लेबर' के मानी हैं 'रोटी के लिए मजदूरी'। यह शब्द आपमें से कई लोगों ने नया ही सुना होगा। लेकिन यह नया नहीं है। टॉल्स्टॉय ने इस शब्द का उपयोग किया है। उन्होंने भी यह शब्द बांदरेसा नामक एक लेखक के निबंधों से लिया और अपनी उत्तम लेखन-शैली द्वारा उसको दुनिया के सामने रख दिया। इस विषय पर विचार ही नहीं, बल्कि वैसा ही आचार करने की कोशिश भी मैं बीस साल से करता आ रहा हूं, क्योंकि जीवन में और साथ-साथ शिक्षण में भी शरीर-श्रम को मैं प्रथम स्थान देता हूं।

हम जानते हैं कि हिंदुस्तान की आबादी चालीस करोड़ है और चीन की साठ करोड़ के लगभग। ये दोनों राष्ट्र प्राचीन हैं। इन दोनों को मिला दिया जाय तो कुल आबादी अस्सी करोड़ तक हो जाती है। इतनी जनसंख्या दुनिया का सबसे बड़ा और महत्व का हिस्सा हो जाता है। और यह भी हम जानते हैं कि यही दोनों देश आज दुनिया में सबसे ज्यादा दुखी, पीड़ित और दीन हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों मुल्कों ने वृत्ति का जो आदर्श अपने सामने रखा था, उसका पूरा अनुसरण उन्होंने नहीं किया और बाहर के

राष्ट्रों ने उस वृत्ति को कभी स्वीकार ही नहीं किया। मेरे कहने का मतलब यह है कि हिंदुस्तान में शरीर-श्रम को जीवन में प्रथम स्थान दिया गया था और उसके साथ यह भी निश्चित किया गया था कि वह परिश्रम चाहे जिस प्रकार का हो, कातने का हो, बढ़ई का हो, रसोई बनाने का हो, सबका मूल्य एक ही है। भगवद्गीता में यह बात साफ शब्दों में लिखी है। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो, किसीको चाहे जितना छोटा या बड़ा काम मिला हो, अगर उसने उस काम को अच्छी तरह किया है तो उस व्यक्ति को संपूर्ण मोक्ष मिल जाता है। अब उससे अधिक कुछ कहना बाकी नहीं रह जाता। मतलब यह है कि हरेक उपयुक्त परिश्रम का नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है। इस प्राचीन धर्म का आचरण तो हमने किया नहीं, पर एक बड़ा भारी शूद्रवर्ग निर्माण कर दिया। शूद्रवर्ग यानी मजदूरी करनेवाला वर्ग। यहां जितना बड़ा शूद्रवर्ग है, उतना बड़ा शायद ही किसी दूसरी जगह हो। हमने उससे अधिक-से-अधिक मजदूरी करवाई और उसको कम-से-कम खाने को दिया। उसका सामाजिक दर्जा हीन समझा। उसे कुछ भी शिक्षा नहीं दी। इतना ही नहीं, उसे अछूत भी बना दिया। नतीजा यह हुआ कि कारीगर वर्ग में ज्ञान का पूरा अभाव हो गया। वह पशु के समान केवल मजदूरी ही करता रहा।

प्राचीन काल में हमारे यहां कला कम नहीं थी। लेकिन पूर्वजों से मिलनेवाली कला एक बात है और उसमें दिन-प्रतिदिन प्रगति करना दूसरी बात। आज भी काफी प्राचीन कारीगरी मौजूद है। उसको देखकर हमें आश्चर्य होता है। अपनी प्राचीन कला को देखकर हमें आश्चर्य होता है, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है! आश्चर्य करने का प्रसंग हमारे सामने क्यों आना चाहिए? उन्हीं पूर्वजों की तो हम संतान हैं न? तब तो उनसे बढ़कर हमारी कला होनी चाहिए। लेकिन आज आश्चर्य के सिवा हमारे हाथ में और कुछ नहीं रहा। यह कैसे हुआ? कारीगरों में ज्ञान का अभाव और हममें परिश्रम-प्रतिष्ठा का अभाव ही इसका कारण है।

प्राचीन काल में ब्राह्मण और शूद्र की समान प्रतिष्ठा थी। जो ब्राह्मण था वह विचार-प्रवर्तक, तत्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था। जो किसान था वह ईमानदारी से अपनी मजदूरी करता था। प्रातःकाल उठकर

भगवान् का स्मरण करके सूर्यनारायण के उदय के साथ खेत में काम करने लग जाता था और सायंकाल सूर्य भगवान् जब अपनी किरणों को समेट लेते तब उनको नमस्कार करके घर वापस आता था। ब्राह्मण में और इस किसान में कुछ भी सामाजिक, आर्थिक या नैतिक भेद नहीं माना जाता था।

हम जानते हैं कि पुराने ब्राह्मण 'उदर-पात्र' होते थे, यानी उतना ही संचय करते थे जितना कि पेट में समाता था। यहां तक उनका अपरिग्रही आचरण था। आज की भाषा में कहना हो तो ज्यादा-से-ज्यादा काम देते थे और बदले में कम-से-कम वेतन लेते थे। यह बात प्राचीन इतिहास से हम जान सकते हैं। लेकिन बाद में ऊंच-नीच का भेद पैदा हो गया। कम-से-कम मजदूरी करनेवाला ऊंची श्रेणी का और हर तरह की मजदूरी करनेवाला नीची श्रेणी का माना गया। उसकी योग्यता कम, उसे खाने के लिए कम और उसकी प्रगति, ज्ञान प्राप्त करने की व्यवस्था भी कम।

प्राचीन काल में न्यायशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, वेदांतशास्त्र इत्यादि शास्त्रों के अध्ययन का जिक्र हम सुनते हैं। गणितशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र इत्यादि शास्त्रों की पाठशालाओं का जिक्र भी आता है। लेकिन उद्योगशाला का उल्लेख कहीं नहीं आया है। इसका कारण यह है कि हम वर्णाश्रम धर्म माननेवाले थे, इसलिए हरेक जाति का धंधा उस जाति के लोगों के घर-घर में चलता था और इस तरह हरेक घर उद्योगशाला था। कुम्हार हो या बढ़ई, उसके घर में बच्चों को बचपन ही से उस धंधे की शिक्षा अपने पिता से मिल जाती थी। उसके लिए अलग प्रबंध करने की आवश्यकता न थी। लेकिन आगे क्या हुआ कि एक ओर हमने यह मान लिया कि पिता का ही धंधा पुत्र को करना चाहिए, और दूसरी ओर बाहर से आया हुआ माल सस्ता मिलने लगा, इसलिए उसीको खरीदने लगे। मुझे कभी-कभी सना-तनी भाइयों से बातचीत करने का मौका मिल जाता है। मैं उनसे कहता हूं कि वर्णाश्रम-धर्म लुप्त हो रहा है, इसका अगर आपको दुःख है तो कम-से-कम स्वदेशी धर्म का तो पालन कीजिये। बुनकर से तो मैं कहूंगा कि अपने बाप का धंधा करना तुम्हारा धर्म है, लेकिन उसका बनाया हुआ कपड़ा मैं नहीं लूंगा, तो वर्णाश्रम-धर्म कैसे जिंदा रह सकता है ? हमारी इस वृत्ति से उद्योग गया और उद्योग के साथ उद्योगशाला भी गई। इसका

कारण यह है कि हमने शरीर-श्रम को नीच मान लिया। जो आदमी कम-से-कम परिश्रम करता है, वही आज सबसे अधिक बुद्धिमान और नीतिमान माना जाता है।

किसीने कहा, "अब विनोबाजी किसान-जैसे दीखते हैं," तो दूसरे ने कहा, "लेकिन जबतक उनकी धोती सफेद है तब तक वह पूरे किसान नहीं हैं।" इस कथन में एक दंश था। खेती और स्वच्छ धोती की अदावत है, इस धारणा में दंश है। जो अपने को ऊपर की श्रेणीवाले समझते हैं उनको यह अभिमान होता है कि हम बड़े साफ रहते हैं, हमारे कपड़े बिल्कुल सफेद बगले के पर-जैसे होते हैं। लेकिन उनका यह सफाई का अभिमान मिथ्या और कृत्रिम है। उनके शरीर की डाक्टरी जांच—मैं मानसिक जांच की तो बात ही छोड़ देता हूं—की जाय और हमारे परिश्रम करने-वाले मजदूरों के शरीर की भी जांच की जाय और दोनों परीक्षाओं की रिपोर्ट डाक्टर पेश करके कह दे कि कौन ज्यादा साफ है। हम लोटा मलते हैं तो बाहर से। उसमें अपना मुंह देख लीजिये। लेकिन अंदर से हमें मलने की जरूरत ही नहीं जान पड़ती। हमारे लिए अंदर की मरम्मत ही नहीं होती। हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है। हमें शंका होती है कि खेत की मिट्टी में काम करनेवाला किसान कैसे साफ रह सकता है। लेकिन मिट्टी में या खेत में काम करनेवाले किसान के कपड़े पर मिट्टी का रंग लगता है, वह मैल नहीं है। सफेद कमीज के बदले किसी ने लाल कमीज पहन लिया तो उसे रंगीन कपड़ा समझते हैं। वैसे ही मिट्टी का भी एक प्रकार का रंग होता है। रंग और मैल में काफी फर्क है। मैल में जंतु होते हैं, पसीना होता है, उसकी बदबू आती है। मृत्तिका तो 'पुण्यगंध' होती है। गीता में लिखा है, "पुण्योगंधःपृथिव्यांच"। मिट्टी का शरीर है, मिट्टी में ही मिलने वाला है, उसी मिट्टी का रंग किसान के कपड़े पर है। तब वह मैला कैसे हो।

अपनी उच्चारण-पद्धति पर भी हमें ऐसा ही मिथ्या अभिमान है। देहाती लोग जो उच्चारण करते हैं, उसे हम अशुद्ध कहते हैं। लेकिन पाणिनि तो कहते हैं कि साधारण जनता जो बोली बोलती है, वही व्याकरण है। तुलसीदासजी ने रामायण आम लोगों के लिए लिखी। वह जानते थे कि देहाती

लोग 'ष', 'श' और 'स' के उच्चारण में फर्क नहीं करते। आम लोगों की जबान में लिखने के लिए उन्होंने रामायण में सब जगह 'स' ही लिखा। वह नम्र हो गये। उनको तो आम लोगों को रामायण सिखानी थी, तो फिर उच्चारण भी उन्हीं का होना चाहिए।

हम में से कोई गीतापाठ, भजन और जप करता है या कोई उपनिषद् कंठ कर लेता है, तो वह बड़ा भारी महात्मा बन जाता है। जप, संध्या, पूजा-पाठ ही धर्म माना जाता है। लेकिन दया, सत्य, परिश्रम में हमारी श्रद्धा नहीं होती। जो धर्म बेकार, निकम्मा, अनुत्पादक हो उसी को हम सच्चा धर्म मानते हैं। जिससे पैदावार होती है, वह भला धर्म कैसे हो सकता है ? भक्ति और उत्पत्ति का भी कहीं मेल हो सकता है ? लेकिन वेद भगवान में हम पढ़ते हैं, "विश्व की उत्पत्ति करनेवालों को कुछ कृति अर्पण करो। उसने विश्व की सृष्टि का रास्ता दिया, उसका अनुसरण करो।" लेकिन हमारी साधु की कल्पना इससे उल्टी है। एक ब्राह्मण खेत में खोदने का काम कर रहा है या हल चला रहा है, ऐसी तस्वीर अगर किसी ने खींच दी तो वह तस्वीर खींचने वाला पागल समझा जायगा। "क्या ब्राह्मण भी मजदूर के जैसा काम कर सकता है ?" यह सवाल हमारे यहां उठ सकता है। "क्या तत्वज्ञानी खा भी सकता है ?" यह सवाल नहीं उठता। वह मजे में खा सकता है। ब्राह्मण को खिलाना ही तो हम अपना धर्म समझते हैं, उसी को पुण्य मानते हैं।

हिंदुस्तान की संस्कृति इस हद तक गिर गई, इसी कारण से बाहर के लोगों ने इन ऊपरी लोगों को हटाकर हिंदुस्तान को जीत लिया। बाहर के लोगों ने आक्रमण क्यों किया ? परिश्रम से छुटकारा पाने के लिए। इसीलिए उन्होंने बड़े-बड़े यंत्रों की खोज की। शरीर-श्रम कम-से-कम करके बचे हुए समय में मौज और आनन्द करने की उनकी दृष्टि है। इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरेक राष्ट्र अब यंत्रों का उपयोग करने लग गया है। पहली मशीन जिसने निकाली उसकी हुकूमत तभी चली जब तक दूसरों के पास मशीन नहीं थी। मशीन से संपत्ति और सुख तभी तक मिला जब तक दूसरों ने मशीन का उपयोग नहीं किया था। हरेक के पास मशीन आ जाने पर स्पर्धा शुरू हो गई।

आज यूरोप एक बड़ा 'चिड़ियाखाना' ही बन गया है। जानवरों की तरह हरेक अपने अलग-अलग पिंजड़े में पड़ा है और पड़ा-पड़ा सोच रहा है कि एक-दूसरे को कैसे खा जाऊं, क्योंकि वह अपने हाथों से कोई काम करना नहीं चाहता। हमारे सुधारक लोग कहते हैं, "हाथों से काम करना बड़ा भारी कष्ट है, उससे किसी-न-किसी तरकीब से छूट सके तो बड़ा अच्छा हो। अगर दो घंटे काम करके पेट भर सकें तो तीन घंटे क्यों करें? अगर आठ घंटे काम करेंगे तो कब साहित्य पढ़ेंगे और कब संगीत होगा? कला के लिए वक्त ही नहीं बचता।"

भर्तृहरि ने लिखा है, "साहित्य संगीत कलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः"—जो साहित्य-संगीत-कला से विहीन है, वह बिना पुच्छविषाण (पूंछ और सींग) का पशु है। मैं कहता हूं—"ठीक है, साहित्य-संगीत-कला-विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है, तो साहित्य-संगीत-कलावाला पुच्छविषाणवाला पशु है।" भर्तृहरि के लिखने का मतलब क्या था, यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन उस पर से मुझे यह अर्थ सूझ गया। दूसरे एक पंडित ने लिखा है, "काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"—बुद्धिमान लोगों का समय काव्य-शास्त्र विनोद में कटता है। मानो उनका समय कटता ही नहीं, मानो वह उन्हें खाने के लिए उनके दरवाजे पर खड़ा है। काल तो जाने ही वाला है। उसके जाने की चिंता क्यों करते हो? वह सार्थक कैसे होगा, यह देखो। शरीर-श्रम को दुःख क्यों मान लिया है, यही मेरी समझ में नहीं आता। आनन्द और सुख का जो साधन है, उसी को कष्ट माना जाता है।

एक अमरीकन श्रीमान से किसी ने पूछा, "दुनिया में सबसे अधिक धनवान कौन है है?" उसने जवाब दिया, "जिसकी पाचनेंद्रिय अच्छी है, वह।" उसका कहना ठीक है। संपत्ति खूब पड़ा है। लेकिन दूध भी हजम करने की ताकत जिसमें नहीं है, उसको उस संपत्ति से क्या लाभ? और पाचनेंद्रिय कैसे मजबूत होती है? काव्यशास्त्र से तो "कालो गच्छति।" उससे पाचनेंद्रिय थोड़े ही मजबूत होनेवाली है। पाचनेंद्रिय तो व्यायाम से, परिश्रम से मजबूत होती है। लेकिन आजकल व्यायाम भी पंद्रह मिनट का निकला है। मैंने एक किताब देखी—"फिफ्टीन मिनिट् एक्सरसाइज।"

ऐसे व्यायाम से दीर्घायुषी बनेंगे या अल्पायुषी, इसकी चिन्ता ही नहीं होती। सैंडो भी जल्दी ही मर गया। इन लोगों ने व्यायाम का शास्त्र भी हिंसक बना रखा है। तीन मिनट में एकदम व्यायाम हो जाना चाहिए। जल्दी-से जल्दी उससे निपटकर काव्यशास्त्र में कैसे लग जायं, यही फिक्र है। थोड़े ही समय में एकदम व्यायाम करने की जो पद्धति है, उससे स्नायु बनते हैं, नसें नहीं बनतीं। और अमरबेल जिस प्रकार पेड़ को खा जाती है, वैसे ही स्नायु आरोग्य को खा जाते हैं। नसें आरोग्य को बढ़ाती हैं। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है, उससे नसें बनती हैं और पाचनेंद्रिय मजबूत होती हैं। चौबीस घण्टे हम लगातार हवा लेते हैं; लेकिन अगर हम यह सोचने लगें कि दिनभर हवा लेने की यह तकलीफ क्यों उठायें, दो घण्टे में ही दिनभर की पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो, तो यही कहना पड़ेगा कि हमारी संस्कृति आखिरी दर्जे तक पहुंच गई है। हमारा दिमाग इसी तरह से चलता है। पढ़ते-पढ़ते आंख बिगड़ जाती है, तो हम ऐनक लगा लेते हैं लेकिन आंखें न बिगड़ें इसका कोई तरीका नहीं निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड़ गया है, भेद भाव बढ़ गया है और हमपर बाहर के लोगों का आक्रमण हुआ है—इन सबका कारण यही है कि हमने परिश्रम छोड़ दिया है।

यह तो हुआ जीवन की दृष्टि से। अब शिक्षण की दृष्टि से परिश्रम का विचार करना है।

हमने शिक्षण की जो नई प्रणाली बनाई है, उसका आधार उद्योग है, क्योंकि हम जानते हैं कि शरीर के साथ मन का निकट सम्बन्ध है। आज-कल मनोविज्ञान का अध्ययन करनेवाले हमें बहुत दिखाई देते हैं। पर बेचारों को खुद अपना काम-क्रोध जीतने का तरीका मालूम नहीं होता। मन के बारे में इधर-उधर की किताबें पढ़-पढ़कर दो-चार बातें कर सकते हैं। चौदह साल के बाद मनुष्य के मन में एकाएक परिवर्तन होता है। इसलिए सोलह साल तक लड़कों की पढ़ाई होनी चाहिए, यह सिद्धान्त एक मानसशास्त्री ने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, "क्या मन में परिवर्तन होने का कोई पर्व होता है? हम देखते हैं कि शरीर धीरे-धीरे बढ़ता है। किसी एक दिन एकदम दो फुट ऊंचा हो गया हो,

ऐसा नहीं होता। तो फिर मन में ही एकदम परिवर्तन कैसे हो सकता है?" बाद में मैंने उनको समझाया कि हड्डियां चौदह साल के बाद जरा तेजी से बढ़ती हैं और मन का शरीर के साथ सम्बन्ध होने से दिमाग भी उसी हिसाब से तेजी से विकसित होता है। शरीर और मन दोनों एक ही प्रकृति में, एक ही कोटि में आते हैं।

कार्लाइल एक भारी तत्ववेत्ता और विचारक था। उसके ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते कई जगह कुछ ऐसे विचार आ जाते थे, जो मेरे विचारों से मेल नहीं खाते थे। शंकराचार्य का जैसा सीधा, सरल विचार-प्रवाह मालूम होता है वैसा उसके लेखों में नहीं दीखता। उसका चरित्र बाद में मुझे पढ़ने को मिला। उससे मुझे मालूम हुआ कि कार्लाइल को सिर के दर्द की बीमारी थी, तब मुझे उसके लेखन-दोष का कारण मिल गया। मैंने सोचा कि जिस समय उसका सिर दर्द करता होगा, उस समय का लेखन उसका कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता होगा। योगशास्त्र में तो मनःशुद्धि के लिए प्रथम शरीर-शुद्धि बतलाई गई है। हमारे शिक्षण-शास्त्र का आधार वही है। शरीर-वृद्धि के साथ मनोवृद्धि होती है। लड़कों की मनोवृद्धि करनी है, उनको शिक्षा देनी है, तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए।

परिश्रम से उनकी भूख बढ़ेगी। जिसको दिनभर में तीन बार अच्छी भूख लगती है, उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए। भूख लगना जिन्दा मनुष्य का धर्म है। जिसे दिनभर में एक ही दफा भूख लगती है, सम्भवतः उसका जीवन अनियमित होगा। भूख तो भगवान् का सन्देश है। भूख न होती तो दुनिया बिल्कुल अनीतिमान् और अधार्मिक बन जाती। फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अन्दर न होती। किसीको भी भूख-प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कार का मौका कैसे मिलता। सामने यह खम्भा खड़ा है। इसका हम क्या सत्कार करेंगे? इसको न भूख है, न प्यास। हमें भूख लगती है, इसलिए हमारे पास धर्म है।

लड़कों से परिश्रम लेना है तो शिक्षक को भी उनके साथ परिश्रम करना चाहिए। क्लास में झाड़ू लगाना होता है, लेकिन इसके लिए या तो नौकर रखे जाते हैं या लड़के झाड़ू लगाते हैं। शिक्षक को हम कभी झाड़ू लगाते नहीं देखते। विद्यार्थी क्लास में पहले आ गये तो वे झाड़ू लगा लें, कभी

शिक्षक पहले आया तो वह लगा ले, ऐसा होना चाहिए। लेकिन झाड़ू लगाने के काम को हमने नीचा मान लिया है। फिर शिक्षण भला वह कैसे करें? हम लड़कों को झाड़ू लगाने का भी काम देंगे तो शिक्षक की दृष्टि से। जो परिश्रम लड़कों से कराना है; वह शिक्षक को पहले सीख लेना चाहिए और लड़कों के साथ करना चाहिए। मैंने एक झाड़ू तैयार की है। एक रोज दो-तीन लड़कियां वहां आई थीं। तब उनको मैंने वह दिखाई और उसमें कितनी बातें भरी हैं, यह समझाया। समझाने के बाद जितनी बातें मैंने कहीं वे सब एक-दो -तीन करके उनसे दोहरवा लीं। लेकिन यह मैं तभी कर सका जब झाड़ू लगाने का काम मैं खुद कर चुका था। इस तरह हरेक चीज शिक्षण की दृष्टि से लड़कों को सिखानी चाहिए। एक आदमी ने मुझसे कहा "गांधीजी ने पीसना, कातना, जूते बनाना वगैरा का काम खुद करके परिश्रम की प्रतिष्ठा बढ़ा दी।" मैंने कहा, "मैं ऐसा नहीं मानता। परिश्रम की प्रतिष्ठा किसी महात्मा ने नहीं बढ़ाई। परिश्रम की निज की ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्मा को प्रतिष्ठा दी।" आज हिंदुस्तान में गोपाल कृष्ण की जो इतनी प्रतिष्ठा है, वह उनके गोपालन ने उन्हें दी है। उद्योग हमारा गुरुदेव है।

दुनिया की हरेक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मैं धूप में घूम रहा था। चारों तरफ बड़े-बड़े हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मैं सोचने लगा कि ऊपर से इतनी कड़ी धूप पड़ रही है, फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे हैं ? वे वृक्ष मेरे गुरु बन गये। मेरी समझ में आ गया कि जो वृक्ष ऊपर से इतने हरे-भरे दीखते हैं, उनकी जड़ें जमीन में गहरी पहुंची हैं और वहां से उन्हें पानी मिल रहा है। इस तरह अंदर से पानी और ऊपर से धूप, दोनों की कृपा से यह तपश्चर्या की धूप मिले तो हम भी पेड़ों के जैसे हरे-भरे हो जायं। हम ज्ञान की दृष्टि से परिश्रम को नहीं देखते, इसलिए उसमें तकलीफ मालूम होती है। ऐसे लोगों के लिए भगवान का शाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने ही वाला नहीं।

किताबें पढ़ने से ज्ञान मिलता है, यह खयाल गलत है। पढ़ते-पढ़ते बुद्धि ऐसी हो जाती है कि जिस समय जो पढ़ते हैं, वह ठीक लगता है। एक भाई

मुझसे कहते थे, "मैंने समाजवाद की किताब पढ़ी तो वे विचार ठीक जान पड़े। बाद में गांधी-सिद्धांत की पुस्तक पढ़ी तो वे भी ठीक लगे।" मैंने विनोद में उनसे कहा, "पहली किताब दो बजे पढ़ी होगी और दूसरी चार बजे। दो बजे के लिए पहली ठीक थी और चार बजे के लिए दूसरी।" मेरे कहने का मतलब यह है कि बहुत पढ़ने से हमारा दिमाग स्वतन्त्र विचार ही नहीं कर सकता। खुद विचार करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। मेरी कुछ ऐसी राय है कि जबसे किताबें निकलीं तबसे स्वतन्त्र विचार-पद्धति नष्ट हो गई है। कुरान शरीफ में एक संवाद आया है कि मुहम्मदसाहब से कुछ विद्वान लोगों ने पूछा, "तुम्हारे पहले जितने पैगम्बर आये उन सबने चमत्कार करके दिखाये। तुम तो कोई चमत्कार नहीं दिखाते, तो फिर पैगम्बर कैसे बन गये? उन्होंने जबाब दिया, "आप कौन सा चमत्कार चाहते हैं? एक बीज बोया जाता है, उनमें से बड़ा-सा वृक्ष पैदा होता, उसमें फल लगते हैं और उनमें से फल पैदा हो जाते हैं। यह क्या चमत्कार नहीं है?" यह तो एक जवाब हो गया। दूसरा जवाब उन्होंने यह दिया, "मुझे जैसा अनपढ़ आदमी भी आप लोगों को ज्ञान दे सकता है, यह क्या कम चमत्कार है? आप और कौन-सा चमत्कार चाहते हैं?" हमारे सामने की सृष्टि ज्ञान से भरी है। हम उसकी तह तक नहीं पहुंचते, इसलिए उसमें जो आनन्द भरा है, वह हमें नहीं मिलता।

रोटी बनाने का काम माता करती है। माता का हम गौरव करते हैं। लेकिन माता का काम असली मातापन उस रसोई में ही है। अच्छी से अच्छी रसोई बनाना, और बच्चों को प्रेम से खिलाना—इसमें कितना ज्ञान और प्रेम-भावना भरी है? रसोई का काम यदि माता के हाथों से ले लिया जाय तो उसका प्रेम साधन ही चला जायगा। प्रेम भाव प्रकट करने का यह मौका कोई माता छोड़ने के लिए तैयार न होगी। उसी के सहारे तो वह जिंदा रहती है। मेरे कहने का मतलब कोई यह न समझे कि किसी-न-किसी बहाने मैं स्त्रियों पर रोटी पकाने का बोझ लादना चाहता हूं। मैं तो उनका बोझ हल्का करना चाहता हूं। इसीलिए हमने आश्रम में रसोई का काम मुख्यतः पुरुषों से ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि जैसे रसोई का काम माता छोड़ देगी तो उसका ज्ञान-साधन और प्रेम-साधन चला

जायगा, वैसे ही यदि हम परिश्रम से घृणा करेंगे तो ज्ञान-साधन ही खो बैठेंगे।

लोग मुझसे कहते हैं, "तुम लड़कों से मजदूरी कराना चाहते हो। उनके दिन तो गुलाब के फूल-जैसे खिलने और खेलने-कूदने के हैं।" मैं कहता हूं बिल्कुल ठीक। लेकिन वह गुलाब का फूल किस तरह खिलता है, यह भी तो जरा देखो। वह पूर्ण रूप से स्वावलंबी है। जमीन से सब तत्व चूस लेता है। खुली हवा में अकेला खड़ा होकर धूप, बारिश, बादल सब सहन करता है। बच्चों को भी वैसा ही रखो। मैं यह पसंद करता हूं। उनसे पूछकर ही देखो कि फूल को पानी देने में, चंद्रकला को घटती-बढ़ती देखने में आनंद आता है, या किताबों में और व्याकरण के नियम घोटते रहने में ? सुरगांव (वर्धा) का एक उदाहरण मुझे मालूम है। वहां एक प्राथमिक पाठशाला है। करीब ७ से ११ साल के लड़के उसमें पढ़ते हैं। गांववालों की राय है कि वहां का शिक्षक अच्छा पढ़ाता है। परीक्षा के एक या दो महीने बाकी थे, तब उसने सुबह ७ से १०॥ तक और दोपहर में २ से ५॥ तक, और रात को फिर ७ से ९ बजे तक—यानी कुल नौ घंटे पढ़ाना शुरू किया। न मालूम इतने घंटे वह क्यों पढ़ाता होगा और विद्यार्थी भी क्या पढ़ते होंगे ! अगर लड़के पास हो गये तो हम समझते हैं कि शिक्षक ने ठीक पढ़ाया है। इस तरह नौ-नौ घंटे पढ़ाई करानेवाला शिक्षक लोक-प्रिय हो सकता है। लेकिन मैं तीन घंटे कातने की बात कहूं तो कहते हैं, "यह लड़कों को हैरान करना चाहता है।" ठीक ही है। जहां बड़े काम से बचने की फिक्र में हों, वहां लड़कों को काम देने की बात भला कौन सोचे ?

फिर लोग यह पूछते हैं कि, "उद्योग इष्ट है, यह तो मान लिया। लेकिन उससे इतना उत्पादन होना ही चाहिए, यह आग्रह क्यों ?" मेरा जवाब यह है, "लड़कों को तो जब कोई चीज बनती है तभी आनंद आता है। बेचारे मेहनत भी करें और उससे कुछ पैदा न हो, तो क्या इसमें उन्हें आनंद आ सकता है। किसीसे अगर कहा जाय कि 'चक्की तो पीसो, लेकिन उसमें गेहूं न डालो और आटा भी तैयार न होने दो', तो वह पूछेगा कि फिर यह नाहक चक्की घुमाने का मतलब ? तो क्या हम यह कहेंगे कि भुजाएं और छाती मजबूत बनाने के लिए ? ऐसे उद्योग में क्या कुछ आनंद आ

सकता है। वह तो बेकार की मेहनत हो जायगी। अतः उत्पादन में ही आनंद है।

इसलिए मुख्य दृष्टि यह है कि शरीर-श्रम की महिमा को हम समझें। प्राइमरी स्कूलों में हम उद्योग के आधार पर शिक्षण न देंगे तो शिक्षा को अनिवार्य न कर सकेंगे।

आज गांववाले कहते हैं कि "लड़का स्कूल में पढ़ने जाता है तो उसमें काम के प्रति घृणा पैदा हो जाती है और हमारे लिए वह निकम्मा हो जाता है। फिर उसे स्कूल क्यों भेजें ?" लेकिन हमारी पाठशालाओं में अगर उद्योग शुरू हो गया तो मां-बाप खुशी से अपने लड़के को स्कूल भेजेंगे। लड़का क्या पढ़ता है, यह भी देखने आयंगे। आज तो लड़के की क्या पढ़ाई हो रही है, यह देखने के लिए भी मां-बाप नहीं आते। उनको उसमें रस नहीं मिलता। उद्योग के पढ़ाई में दाखिल हो जाने के बाद इसमें फर्क पड़ेगा। गांव-वालों के पास काफ़ी ज्ञान है। हमारा शिक्षक सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता। वह गांववालों के पास जायगा और अपनी कठिनाइयां उनको बतायेगा। स्कूल के बगीचे में अच्छे पपीते नहीं लगते तो वह उसका कारण गांववालों से पूछेगा। फिर वे बतायंगे कि इस-इस किस्म की खाद डालो, खाद खराब होने से पपीते में कीड़े लग जाते हैं। हम समझते हैं कि कृषि-कालेज में पढ़े हुए हैं, इसलिए हमारे ही पास ज्ञान है। लेकिन हमारा ज्ञान किताबी होता है। हम उसे व्यवहार में नहीं लाते। जब तक हम प्रत्यक्ष उद्योग नहीं करते तबतक उसमें प्रगति और वृद्धि नहीं होती। अगर हम गांववालों का सह-योग चाहते हैं, उनके ज्ञान से अगर हमें लाभ उठाना है, तो स्कूल में उद्योग शुरू करना चाहिए। हमारे और उनके सहयोग से उस ज्ञान में सुधार भी होगा।

यह सब तब होगा जब हमारे शिक्षकों में प्रेम, आनंद और श्रम के प्रति आदर उत्पन्न होगा। हमारी नई शिक्षा-प्रणाली इसी आधार पर बनाई गई है।

: ७ :

ब्रह्मचर्य का अर्थ

यों तो हर धर्म में मनुष्य-समाज के लिए कल्याणकारी बातें पाई जाती हैं। इस्लाम धर्म में ईश्वर-भजन है। 'इस्लाम' शब्द का अर्थ ही 'भगवान् का भजन है। अहिंसा भी ईसाई धर्म में पाई जाती है। हिंदू ऋषि-मुनियों ने परीक्षा करके जो तत्व निकाले हैं, वे दूसरे धर्मों में पाये जाते हैं। लेकिन हिंदू धर्म ने विशिष्ट आचार के लिए एक ऐसा शब्द बनाया है, जो दूसरे धर्मों में नहीं दीख पड़ता। वह है 'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था हिंदू-धर्म की विशेषता है। अंग्रेजी में ब्रह्मचर्य के लिए शब्द ही नहीं है। लेकिन उस भाषा में शब्द नहीं है, इसका मतलब यह नहीं है कि उन लोगों में कोई संयमी हुआ ही नहीं। ईसामसीह खुद ब्रह्मचारी थे। वैसे अच्छे-अच्छे लोग संयमी जीवन बिताते हैं, लेकिन ब्रह्मचर्याश्रम की वह कल्पना उन धर्मों में नहीं है, जो हिंदू-धर्म में पाई जाती है। ब्रह्मचर्याश्रम का हेतु यह है कि मनुष्य के जीवन को आरंभ में अच्छी खाद मिले। जैसे वृक्ष को, जब वह छोटा होता है तब खाद की अधिक आवश्यकता रहती है। बड़ा हो जाने के बाद खाद देने से जितना लाभ है, उससे अधिक लाभ जब वह छोटा रहता है तब देने से होता है। यही मनुष्य-जीवन का हाल है। यह खाद अगर अंत तक मिलती रहे तो अच्छा ही है, लेकिन कम-से-कम जीवन के आरंभ-काल में तो वह बहुत आवश्यक है। हम बच्चों को दूध देते हैं। उसे वह अंत तक मिलता रहे तो अच्छा ही है; लेकिन अगर नहीं मिलता तो कम-से-कम बचपन में तो मिलना ही चाहिए। शरीर की तरह आत्मा और बुद्धि को भी जीवन के आरंभ-काल में अच्छी खुराक मिलनी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रम की कल्पना है। ऋषि लोग जिस चीज का स्वाद जीवनभर लेते थे, उसका थोड़ा-सा अनुभव अपने बच्चों-को भी मिले, इस दयादृष्टि से उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की।

अनुभवसे मैं इस निर्णय पर आया हूं कि आजीवन पवित्र जीवन बिताने की दृष्टि से कोई ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहे तो ब्रह्मचर्य की अभावात्मक विधि उसके लिए उपयोगी नहीं होती। 'दाउ शैल्ट नॉट स्टील' आज मेरे

काम नहीं आयेगा। 'सत्यं वद' इस तरह की 'पॉजिटिव' यानी भावात्मक आज्ञा ब्रह्मचर्य के काम में आती है। विषय-वासना मत रखो, यह ब्रह्मचर्य का 'निगेटिव' यांने अभावात्मक रूप हुआ। सब इंद्रियों की शक्ति आत्मा की सेवा में खर्च करो, यह उसका भावात्मक रूप है। 'ब्रह्म' यानी कोई बृहत् कल्पना। अगर मैं चाहता हूं कि इस छोटी-सी देह के सहारे दुनिया की सेवा करूं, उसके ही काम में अपनी सब शक्ति खर्च करूं, तो यह एक विशाल कल्पना हुई। विशाल कल्पना रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन आसान हो जाता है। 'ब्रह्म' शब्द से डरिये नहीं। मान लीजिये, एक आदमी अपने बच्चे की सेवा करता है और मानता है कि बच्चा परमात्मा-स्वरूप है, इसकी सेवा में सब कुछ अर्पण कर दूंगा, और तुलसीदासजी जैसे रघुनाथजी को 'जागिये रघुनाथ कुंवर' कहकर जगाते थे वैसे ही वह उस लड़के को जगाता है, तो उस लड़के की भक्ति से भी वह आदमी ब्रह्मचर्य पालन कर सकता है। मेरे एक मित्र थे। उन्हें बीड़ी पीने की आदत थी। सौभाग्य से उनके एक लड़का हुआ। तब उनके मन में विचार आया कि मुझे बीड़ी का व्यसन लगा है, इससे मेरा जो बिगड़ा सो बिगड़ा, लेकिन अब मेरा लड़का तो उससे बच जाय। मेरा उदाहरण लड़के के लिए ठीक न होगा। उदाहरण उपस्थित करने के लिए तो मुझे बीड़ी छोड़ ही देनी चाहिए। और तब से उनकी बीड़ी छूट गई। यही कल्पना थोड़ी-सी आगे बढ़कर देशसेवा की कल्पना उनके मन में आती तो वे संपूर्ण ब्रह्मचर्य का आसानी से पालन कर सकते। देश की सेवा कोई ब्रह्मभाव से करता है तो वह ब्रह्मचारी है। उसमें उसे कष्ट जरूर उठाने पड़ेंगे, लेकिन वे सब कष्ट उसे बहुत कम मालूम होंगे। माता अपने बच्चे की सेवा रात-दिन करती है। जब उसके पास कोई सेवा की रिपोर्ट मांगने जायगा तो वह क्या रिपोर्ट देगी? माता इतनी सेवा करती है कि उसकी वह रिपोर्ट ही नहीं दे सकती। वह अपनी रिपोर्ट इस वाक्य में दे देगी—"मैंने तो लड़के की कुछ भी सेवा नहीं की।" भला माता की रिपोर्ट इतनी छोटी क्यों? इसका कारण है। माता के हृदय में बच्चे के प्रति जो प्रेम है, उसके मुकाबले उसको कुछ भी सेवा नहीं हुई है, ऐसा उसे लगता है। सेवा करने में उसे कष्ट कुछ कम नहीं सहने पड़े हैं; लेकिन वे कष्ट उसे कष्ट मालूम नहीं हुए। इसलिए हम अपने सामने कोई बृहत

कल्पना रखेंगे तो मालूम होगा कि, अभीतक तो हमने कुछ भी नहीं किया। इंद्रियों का निग्रह करना, यही एक वाक्य हमारे सामने हो तो हम गिनती करने लग जायंगे कि इतने दिन हुए और अभीतक कुछ फल नहीं दिखाई देता। लेकिन इसी बृहत् कल्पना के लिए हम इंद्रिय-निग्रह करते हैं तो 'यह हम करते हैं', ऐसा 'कर्तरि प्रयोग' नहीं रहता। 'निग्रह किया जाता है', ऐसा 'कर्मणि प्रयोग' हो जाता है, या यों कहिये कि निग्रह ही हमें करना है। भीष्म पितामह के सामने एक कल्पना आ गई कि पिता के संतोष के लिए मुझे संयम करना है। बस, पिता का संतोष ही उनका ब्रह्म हो गया और उससे वह आदर्श ब्रह्मचारी बन गये। ऐसे ब्रह्मचारी पाश्चात्यों में भी हुए हैं। एक वैज्ञानिक की बात कहते हैं कि वह रात-दिन प्रयोग में मग्न रहता था। उसकी एक बहन थी। भाई प्रयोग में लगा रहता है और उसकी सेवा करने के लिए कोई नहीं है, यह देखकर वह ब्रह्मचारिणी रहकर भाई के ही पास रही और उसकी सेवा करती रही। उस बहन के लिए 'बंधु-सेवा' ब्रह्म की सेवा हो गई। देह के बाहर जाकर कोई भी कल्पना ढूंढ़िये। अगर किसीने हिंदुस्तान के गरीब लोगों को भोजन देने की कल्पना अपने सामने रखी तो इसके लिए वह अपनी देह समर्पण कर देगा। वह मान लेगा कि मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह गरीब जनता का है। 'जनता की सेवा' उसका ब्रह्म हो गई। उसके लिए जो आचार वह करेगा, वही ब्रह्मचर्य है। हरेक काम में उसे गरीबों का ही ध्यान रहेगा। वह दूध पीता होगा तो उसे पीते वक्त उसके मन में विचार आ जायगा कि मैं तो निर्बल हूं, इसलिए मुझे दूध पीना पड़ता है, पर गरीबों को दूध कहां मिलता है? लेकिन मुझे उनकी सेवा करनी है, यह सोचकर वह दूध पियेगा। मगर इसके बाद फौरन ही वह गरीबों की सेवा करने के लिए दौड़ जायगा। बस, यही ब्रह्मचर्य है। अध्ययन करने में अगर हम मग्न हो जायं तो उस दशा में विषय-वासना कहां से रहेगी? मेरी माता काम करते-करते भजन गाया करती थी। रसोई में कभी-कभी नमक भूल से दुबारा पड़ जाता था लेकिन चित्त में मैं इतना मग्न रहता था कि मुझे उसका पता ही न चलता था। वेदाध्ययन करते समय मैंने अनुभव किया कि देह मानो है ही नहीं, कोई लाश पड़ी है, ऐसी भावना उस समय हो जाती थी। इसीलिए ऋषियों ने कहा है कि 'बचपन से वेदाध्ययन करो।'

मैंने अध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य रखा। उसके बाद देश की सेवा करता रहा। वहां भी इंद्रिय-निग्रह की आवश्यकता थी। लेकिन बचपन में इंद्रिय-निग्रह का अभ्यास हो गया था, इसलिए बाद में मुझे वह कठिन नहीं मालूम हुआ। मैं यह नहीं कहता कि ब्रह्मचर्य आसान चीज है। हां, विशाल कल्पना मन में रखेंगे तो आसान है। ऊंचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए संयमी जीवन का आचरण, इसको मैं ब्रह्मचर्य कहता हूं।

यह हुई एक बात। अब एक दूसरी बात और है। किसी एक विषय का संयम और बाकी के विषयों का भोग, यह ब्रह्मचर्य नहीं है। कल मैंने देवशर्मा जी की 'तरंगित हृदय' नाम की पुस्तक देखी। उसमें 'जरा-सा' के विषय पर कुछ लिखा था। पुस्तक मुझे अच्छी लगी। 'इतना थोड़ा-सा करने से क्या होता है', ऐसा मत सोचो। बोलने में, रहन-सहन में हरेक बात में संयम की आवश्यकता है। मिट्टी के बर्तन में थोड़ा-सा छिद्र हो तो क्या हम उसमें पानी भरेंगे ? एक भी छिद्र घड़े में है तो वह पानी भरने के लिए बेकार ही है। ठीक उसी तरह जीवन का हाल है। जीवन में एक भी छिद्र नहीं रखना चाहिए। चाहे जैसा जीवन बिताते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे, यह मिथ्या आकांक्षा है। बातचीत, भोजन, स्वाध्याय वगैरा सभी बातों में संयम रखना चाहिए।

: ८ :

साक्षर या सार्थक?

किसी आदमी के घर में यदि बहुत-सी शीशियां भरी रखी हों तो बहुत करके यह मनुष्य रोगी होगा, ऐसा हम अनुमान करते हैं। पर किसीके घर में बहुत-सी पोथियां पड़ी देखें तो हम उसे सयाना समझेंगे। यह अन्याय नहीं है क्या ? आरोग्य का पहला नियम है कि अनिवार्य हुए बिना शीशी का व्यवहार न करो। वैसे ही जहां तक संभव हो, पोथी में आंख न गड़ाना या कहिये आंखों में पोथी न गड़ाना, यह सयानेपन की पहली धारा है। शीशी को हम

रोगी शरीर का चिह्न मानते हैं। पोथी को भी—फिर वह सांसारिक पोथी हो चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मन का चिह्न मानना चाहिए।

सदियां बीत गई, जिनके सयानेपन की सुगंध आज भी दुनिया में फैली हुई है, उन लोगों का ध्यान जीवन को साक्षर करने के बजाय सार्थक करने की ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाज में बिना ढूंढ़े मिल जायंगे। इसके विपरीत निर-क्षर जीवन भी सार्थक हो सकता है, इसके अनेक उदाहरण इतिहास ने देखे हैं। बहुत बार 'सु-शिक्षित' और 'अ-शिक्षित' के जीवन की तुलना करने से 'अक्षराणामकारोऽस्मि' गीता के इस वचन में कहे अनुसार 'सु' के बजाय 'अ' ही पसंद करने लायक जान पड़ता है।

पुस्तकों में अक्षर होते हैं। इसलिए पुस्तक की संगति से जीवन को निरर्थक करने की आशा रखना व्यर्थ है। "बातों की कढ़ी और बातों का ही भात खाकर पेट भरा है किसी का ?" यह सवाल मार्मिक है। कवि के कथना-नुसार पोथी का कुआं डुबाता भी नहीं और पोथी की नैया तारती भी नहीं। 'अश्व' माने 'घोड़ा' यह कोश में लिखा है। बच्चे सोचते हैं 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश में लिखा है, पर यह सही नहीं है। 'अश्व' शब्द का अर्थ कोश के बाहर तबेले में बंधा खड़ा है। उसका कोश में समाना संभव नहीं। 'अश्व' माने 'घोड़ा' यह कोश का वाक्य इतना ही बतलाता है कि 'अश्व शब्द का वही अर्थ है जो 'घोड़ा' शब्द का है।' वह है क्या सो तबेले में जाकर देखो। कोश में सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तक में अर्थ नहीं रहता। अर्थ सृष्टि में रहता है। जब यह बात अक्ल में आयेगी तभी सच्चे ज्ञान की चाट लगेगी।

जिसने जप की कल्पना ढूंढ़ निकाली, उसका एक उद्देश्य था—साक्षरत्व को संक्षिप्त रूप देना। 'साक्षरत्व बिलकुल भूंकने ही लगा है, यह देखकर 'उसके मुंह पर जप का टुकड़ा फेंक दिया जाय' तो बेचारे का भूंकना बंद हो जायगा और जीवन सार्थक करने के प्रयत्न को अवकाश मिल जायगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकि ने शतकोटि रामायण लिखी; उसे लूटने के लिए देव, दानव और मानव के बीच झगड़ा शुरू हुआ। झगड़ा मिटता न

देखकर शंकरजी पंच चुने गए। उन्होंने तीनों को तैंतीस-तैंतीस करोड़ श्लोक बांट दिये। एक करोड़ बचे। यों उत्तरोत्तर बांटते-बांटते अंत में एक श्लोक बच रहा। रामायण के श्लोक अनुष्टुप छंद के हैं। अनुष्टुप छंद के अक्षर होते हैं बत्तीस। शंकरजी ने उसमें से दस-दस अक्षर तीनों को बांट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन-से थे? 'रा म'। शंकरजी ने वे दोनों अक्षर बंटवारे की मजदूरी के नाम पर खुद ले लिये। शंकरजी ने अपना साक्षरत्व दो अक्षरों में खत्म कर दिया, तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञान की बराबरी न कर सका। संतों ने भी साहित्य का सार राम-नाम में ला रखा है। पर 'अभाग्या नरा पामरा हे कलेना'—'इस अभागे पामर नर को यह नहीं सूझता!'

संतोंने रामायण को दो अक्षरों में समाप्त किया। ऋषियों ने वेदों को एक ही अक्षर में समेट रखा है। साक्षर होने की हवस नहीं छूटती तो 'ॐ'-कार का जप करो, बस। इतने से काम न चले तो नन्हा-सा मांडूक्य उपनिषद् पढ़ो। फिर भी वासना रह जाय तो दशोपनिषद् देखो। इस मतलब का एक वाक्य मुक्तकोपनिषद् में आया है। उससे ऋषि का इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषि का यह कहना नहीं है कि एक अक्षर का भी जप करना ही चाहिए। एक या अनेक अक्षर रटने में जीवन की सार्थकता नहीं है। वेदों के अक्षर पोथी में मिलते हैं, अर्थ जीवन में खोजना है। तुकाराम का कहना है कि उन्हें संस्कृत सीखे बिना ही वेदों का अर्थ आ गया था। इस कथन को आजतक किसीने अस्वीकार नहीं किया। शंकराचार्य ने आठवें वर्ष में वेदाभ्यास पूरा कर लिया, इससे किसी शिष्य ने आश्चर्यचकित होकर किसी गुरु से पूछा, "महाराज, आठ वर्ष की उम्र में आचार्य ने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया? गुरु ने गंभीरता से उत्तर दिया, "आचार्य की बुद्धि बचपन में उतनी तीव्र नहीं रही होगी, इसीसे उन्हें आठ वर्ष लगे।"

एक आदमी दवा खाते-खाते ऊब गया, क्योंकि 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' अंत में किसीकी सलाह से उसने खेत में काम करना शुरू किया। उससे नीरोग होकर थोड़े ही दिनों में हृष्ट-पुष्ट हो गया। अनुभव से सिद्ध हुई यह आरोग्य-साधना वह लोगों को बतलाने लगा।

किसीके हाथ में शीशी देखी कि बड़े मनोभाव से सीख देता, "शीशी से कुछ होने जाने का नहीं, हाथ में कुदाल लो तो चंगे हो जाओगे।" लोग कहते, "तुम तो शीशियां पी-पीकर तृप्त हुए बैठे हो और हमें मना करते हो।" दुनिया का ऐसा ही हाल है। दूसरे के अनुभव से सयानापन सीखने की मनुष्य की इच्छा नहीं होती। उसे स्वतंत्र अनुभव चाहिए, स्वतंत्र ठोकर चाहिए। मैं हित की बात कहता हूं कि "पोथियों से कुछ फायदा नहीं है। फिजूल पोथियों में न उलझो," तो वह कहता है, "हां, तुम तो पोथियां पढ़ चुके हो और मुझे ऐसा उपदेश देते हो!" "हां, मैं पोथियां पढ़ चुका, पर तुम न चको इसलिए कहता हूं।" वह कहता है, "मुझे अनुभव चाहिए"—"ठीक है। लो अनुभव। ठोकर खाने का स्वातंत्र्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इतिहास के अनुभव से हम सबक नहीं लेते। इसीसे इतिहास की पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहास की कद्र करें तो इतिहास से आगे बढ़ जायं। इतिहास की कीमत न लगाने से उसकी कीमत नाहक बढ़ गई है; पर जब इस ओर ध्यान जाय तब न!

: ९ :

निवृत्त शिक्षण

फ्रांस की राज्यक्रांति के इतिहास में रूसो और वाल्टेयर नामक ग्रन्थकारों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थकारों की भाषा, विचारशैली तथा लेखन-पद्धति तेजस्वी, जीवंत और क्रान्तिकारक है। लोगों में जितनी धाक इनकी लेखनी की थी, उतनी बड़े-बड़े बलवान राजाओं के शस्त्रबल की भी नहीं थी। फ्रांस की राज्यक्रांति इनके लेखों का मूर्त परिणाम थी। इन दोनों लेखकों में से रूसो विशेष भावना प्रधान था। लेख लिखने के लिए उसने कभी भाषा-शास्त्र का अध्ययन नहीं किया था। उसके विचार उसके हृदय में समाते नहीं थे, बाहर निकलने के लिए छटपटाते और धक्के देते थे। ज्वालामुखी पर्वत के जलते हुए रस की भांति, बल्कि उससे भी बढ़कर, दाहक होते थे और

उसकी इच्छा के विरुद्ध, 'अनिच्छन्नपि'—बाहर निकलते थे। उसके लेखों द्वारा उसका हृदय बोलता था। और इसीलिए उसके लेख चाहे बौद्धिक या तार्किक कसौटी पर भले ही खरे न उतरें, तो भी परिणामतः वे धधकती आग के समान होते थे, यह इतिहास को भी मानना पड़ा है। 'मृत-जीवन की अपेक्षा जीवित मृत्यु श्रेयस्कर है'—उसके लेखों का यही एक सूत्र था। ऐसे प्रभावशाली, प्रतिभावान लेखक के शिक्षण-विषयक मतों का मननपूर्वक विचार करना हमारा कर्तव्य है।

रूसो के मतानुसार शिक्षण के तीन विभाग करने चाहिए—(१) निसर्ग-शिक्षण, (२) व्यक्ति-शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीर के प्रत्येक अवयव का संपूर्ण और व्यवस्थित विकास होना, इंद्रियों का चपल, फुर्तीला, कार्यपटु बनना, विभिन्न मनोवृत्तियों का सर्वांगीण विकास होना; स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क इत्यादि बौद्धिक शक्तियों का प्रगल्भ और प्रखर बनना—इन सबका समावेश उसके मत से निसर्ग-शिक्षण में होता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की भीतरी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक वृद्धि आत्मविकास—निसर्ग-शिक्षण है। मनुष्य को बाह्य परिस्थिति में से जो ज्ञान प्राप्त होता है, व्यवहार में जो अनुभव होता है, उस सब पदार्थ-विज्ञान को या भौतिक जानकारी को उसने व्यवहार-शिक्षण नाम दिया है। और निसर्ग-शिक्षण से होनेवाले आत्मविकास का ज्ञान की दृष्टि से बाह्य जगत् में कैसे उपयोग किया जाय, इस संबंध में दूसरे मनुष्यों के प्रयत्न से जो वाचिक, सांप्रदायिक अथवा शालीन (पाठशाला में मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है, उसे उसने व्यक्ति-शिक्षण संज्ञा दी है। अर्थात् व्यक्ति-शिक्षण उसकी दृष्टि से व्यवहार-शिक्षण और निसर्ग-शिक्षण को जोड़नेवाली संधि है। वस्तुतः यह बात कोई विशेष महत्व नहीं रखती कि रूसो ने शिक्षण के कितने विभाग किये हैं। अमुक विषय के अमुक विभाग करने चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह सब सुविधा का सवाल है। इसलिए दृष्टि-भेद के कारण वर्गीकरण में अंतर होना स्वाभाविक है। रूसो के किये हुए तीन विभाग तो आवश्यक ही हैं, ऐसी भी कोई बात नहीं है; क्योंकि ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्य को क्या व्यक्ति-शिक्षण और क्या व्यवहार-शिक्षण बाहर से मिलता है। केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतर से मिलता है। इस

दृष्टि से, अगर हम अन्तःशिक्षण और वाह्य शिक्षण, ये दो ही विभाग करें तो क्या हर्ज है ?

परन्तु इससे भी आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य शिक्षण केवल अभावात्मक क्रिया है और अन्तःशिक्षण ही भावरूप है। इसलिए शिक्षण का वही एकमात्र यथार्थ अथवा वास्तविक विभाग है। हमने जिसे 'वाह्य-शिक्षण' कहा है, वह केवल मनुष्यों से अथवा पाठशाला में ही नहीं मिलता। वह शिक्षण इस अनन्त विश्व के प्रत्येक पदार्थ से निरन्तर मिलता ही रहता है। उसमें कभी विराम नहीं होता। जैसा कि शेक्सपीयर ने कहा है, "वहते हुए झरनों में प्रासादिक ग्रन्थ संचित हैं, पत्थरों में दर्शन छिपे हुए हैं और यच्चयावत् पदार्थों में शिक्षा के सारे तत्व सन्निहित हैं।" वृक्ष, वनस्पति, फूल, नदियां, पर्वत, आकाश, तारे—सभी मनुष्य को अपने-अपने ढंग से शिक्षा देते हैं। नैयायिकों के अणु से लेकर सांख्यों के महत्व तक, भूमिति (रेखागणित) के बिन्दु से लेकर भूगोलक सिन्धु तक, या छुटपन की भाषा में कहें, तो 'रामजी की चोटी से लेकर तुलसी के मूल' तक सारे छोटे-बड़े पदार्थ मनुष्य के गुरु हैं। विचक्षण विज्ञानवेत्ताओं के दूर-चक्षु (दूरबीन) से, व्यवहार-विशारदों के चर्मचक्षु से, कल्पनाकुशल कवियों के दिव्य-चक्षु से या तार्किक तत्व-वेत्ताओं के ज्ञान-चक्षु से, जो-जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते होंगे—अथवा न भी होते होंगे—उन सव पदार्थों से हमें नित्य पाठ मिल रहे हैं। सृष्टि-परमेश्वर द्वारा हमारे अध्ययन के लिए हमारे सामने खोलकर रखा हुआ एक शाश्वत, दिव्य, आश्चर्यमय, परम पवित्र ग्रन्थ है। उसके सामने वेद व्यर्थ है, कुरान बेकार है, बाइबिल निर्बल है। लेकिन यह ग्रन्थ-गंगा चाहे कितनी ही गम्भीर क्यों न हो, मनुष्य तो अपने लोटे से ही उसका पानी लेगा। इसलिए इस विश्व में से 'बाह्यतः' हमें वही और उतना ही शिक्षण मिलेगा, जिसके या जितने के बीज हमारे 'अन्दर' होंगे। इसका अनुभव हरेक को है। हम इतने विषय सीखते हैं, इतने ग्रन्थ पढ़ते हैं, इतने विचार सुनते हैं, इतनी चीजें देखते हैं, उनमें से कितनी हमें याद रहती हैं ? सारांश बाह्यजगत् से हम जो कुछ सीखते हैं, वह सब भुला देते हैं। उसकी जगह केवल संस्कार बाकी रह जाते हैं। बल्कि शिक्षण का अर्थ जानकारी नष्ट होने पर बचे हुए संस्कार ही हैं। इसका कारण ऊपर दर्शाया गया है। जो हमारे 'अन्दर' नहीं है, वह

वाहर से आना असम्भव है। बाह्य शिक्षण कोई स्वतन्त्र या तात्विक पदार्थ नहीं है। वह केवल एक अभावात्मक क्रिया है।

अब ऐसे प्रसंग में हमेशा एक दुहरी समस्या पेश होती है। यदि बाह्य-शिक्षण को मिथ्या मानें, तो संस्कार बनने के लिए किसी-न-किसी बाह्य-निमित्त या आलम्बन अथवा आधार की आवश्यकता होती ही है। इसके विपरीत अगर बाह्य शिक्षण को सत्य या भाव-रूप में मानें तो ऊपर कहे अनुसार उसका अन्तर-विकास के अनुकूल अंश ही, और वह भी संस्कार-रूप में, शेष रहता है। अर्थात् उभय पक्ष में विप्रतिपत्ति (डाईलेमा) उपस्थित होती है। ऐसी अवस्था में इन दोनों शिक्षणों का परस्पर सम्बन्ध क्या माना जाय ? परन्तु यह विवाद नया नहीं है। इसलिए उसका निर्णय भी नया नहीं है। सभी शास्त्रों में इस प्रकार के विवाद उपस्थित होते हैं और सर्वत्र उनका एक ही निर्णय होता है। उदाहरण के लिए, यह वेदान्ती विवाद कि 'सुख का वाह्य पदार्थों से क्या सम्बन्ध है', लीजिये। वहां भी वही गुत्थी है। अगर आप कहें कि बाह्य पदार्थों से सुख है, तो उनसे सर्वदा सुख ही मिलना चाहिए; लेकिन ऐसा होता नहीं है। यदि मनःस्थिति बिगड़ी हुई हो तो दूसरे अवसरों पर सुखकारक प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी सुख नहीं दे सकते। इसके विपरीत यदि कहें कि बाह्य पदार्थों में सुख नहीं है, सुख एक मानसिक भावना है, तो ऐसा भी अनुभव सदा नहीं होता। जैसाकि शेक्सपीयर ने कहा है, 'इच्छा ही घोड़ा बन सकती, तो प्रत्येक मनुष्य घुड़सवार हो जाता।' लेकिन ऐसा हो नहीं सकता, यह निष्ठुर सत्य है। तब इस समस्या का समाधान कैसे हो ?

इसी तरह का दूसरा दृष्टान्त न्याय-शास्त्र से लीजिये। प्रश्न यह है कि 'मिट्टी का मटके से क्या सम्बन्ध है ?' अगर आप कहें कि मिट्टी ही मटका है, तो मिट्टी से पानी भरकर दिखाइये। मिट्टी अलग और मटका अलग कहें तो हमारी मिट्टी हमें दे दीजिये, अपना घड़ा लेते जाइये। ऐसी हालत में इन दोनों का क्या सम्बन्ध माना जाय ? यदि हम शुद्ध हिन्दी में कहें कि हम बतला नहीं सकते कि इस सम्बन्ध का क्या स्वरूप है, तो हमारा अज्ञान दीखता है। इसलिए इस सम्बन्ध को 'अनिर्वचनीय सम्बन्ध' यह भव्य और प्रशस्त संस्कृत नाम दिया गया है।

परंतु इस संबंध के अनिर्वचनीय होते हुए भी एक पक्ष में जिस प्रकार 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्,' 'मिट्टी तात्विक और मटका मिथ्या'—ऐसा तारतम्य से निश्चय किया जा सकता है, उसी प्रकार दूसरे पक्ष में अंत:-शिक्षण भावरूप और बाह्य शिक्षण अभावरूप कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

किंतु ऐसा कहते ही एक दूसरा ही मूलोत्पाटी प्रश्न उपस्थित होता है। हमने शिक्षण के दो विभाग किये हैं। उनमें से अंत:-शिक्षण अथवा आत्म-विकास भावरूप होते हुए भी वह हरेक व्यक्ति के अंदर-ही-अंदर होता रहता है। उसके लिए हम कुछ भी कर नहीं सकते। उसका कोई पाठ्यक्रम नहीं बनाया जा सकता। और यदि बनाया भी जाय, तो उसपर अमल नहीं किया जा सकता। बाह्य शिक्षण सामान्यतः और व्यक्ति-शिक्षण विशेषतः अभावरूप करार दिया गया है। "ऐसी अवस्था में 'न हि शशक-विषाणां कोऽपि कस्मै ददाति' इस न्याय के अनुसार शिक्षण-विषयक आंदोलन हमारी मूर्खता के प्रदर्शन ही हैं क्या ?" यह कह देना आवश्यक है कि यह आक्षेप आपाततः जैसे लाजवाब या मुंहतोड़ मालूम होता है, वस्तुतः वैसा ही नहीं है। कारण, जब हम यह कहते हैं कि बाह्य शिक्षण अभावात्मक कार्य (निगेटिव फंक्शन) है, तब हम यह नहीं कहते कि वह 'कार्य' ही नहीं है। वह कार्य है, वह उपयोगी कार्य है, परंतु वह अभावात्मक कार्य है, इतना ही हमें कहना होता है। निवेदन इतना ही है कि शिक्षण कार्य कोई स्वतंत्र तत्त्व उत्पन्न करना नहीं है। सुप्त तत्व को जाग्रत करना है। इसलिए शिक्षण का उपयोग लोग जिस अर्थ में समझते हैं, उस अर्थ में नहीं है। लेकिन इतने से शिक्षण निरुपयोगी नहीं हो जाता। शिक्षण उत्तेजक दवा नहीं है, वह प्रतिबंध-निवारक उपाय है। रस्किन ने शिल्पकला की भी ऐसी ही व्याख्या की है। शिल्पज्ञ पत्थर या मिट्टी में से मूर्त्ति उत्पन्न नहीं करता। वह तो उसमें है ही। सिर्फ छिपी हुई है। उसे प्रकट करना शिल्पी का काम है। इसपर से स्पष्ट है कि शिक्षण अभावात्मक होते हुए भी उपयोगी है। और चाहे प्रतिबंध-निवारण के अर्थ में ही क्यों न हो, उसमें थोड़ी-सी भावात्मकता है ही, इसी अर्थ को ध्यान में रखकर ऊपर, तारतम्य से (अपेक्षाकृत) अभावात्मक ऐसी सावधानी की भाषा का प्रयोग किया है। शिक्षण

आत्मविकास की तुलना में अभावात्मक है। अर्थात् उसका 'भाव' वहुत थोड़ा है।

लेकिन हमने शिक्षा का भाव वेहद बढ़ा दिया है। इसलिए हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अत्यन्त अस्वाभाविक, विपरीत और दुराग्रही हो गई है। जहां किसी लड़के की स्मरण-शक्ति जरा तीव्र दिखाई दी कि उसे और ज्यादा कंठ करने को उत्साहित किया जाता है। लड़के का पिता अधीर हो उठता है। लड़के के दिमाग में कितना ठूंसूं और कितना नहीं, इसका उसे कोई विवेक नहीं रहता। पाठशाला की शिक्षण-पद्धति में भी यही नीति निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत यदि विद्यार्थी मंद हो तो उसकी अवश्य उपेक्षा की जायगी। होशियार माने जानेवाले लड़के जैसे-तैसे कालेज तक पहुंचते हैं और फिर पिछड़ जाते हैं। और यदि कालेज में न पिछड़े तो आगे चलकर व्यवहार में निकम्मे साबित होते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी कोमल बुद्धि पर वेहिसाब बोझ लादा जाता है। यदि घोड़ा तेज है और व्यवस्थित रूप से चलता है तो उसे छेड़ना नहीं चाहिए। लेकिन इसके बदले 'घोड़ा तेज है न ? लगाओ चाबुक', ऐसी नीति से क्या होगा ? घोड़ा भड़क जायगा। खुद तो गड्ढे में गिरेगा ही, अपने मालिक को भी गिरायेगा। यह वेवकूफी की और जंगली नीति कम-से-कम राष्ट्रीय शालाओं में तो हरगिज नहीं बरतनी चाहिए।

सच बात तो यह है कि जहां विद्यार्थी को यह भान हुआ कि वह शिक्षण ले रहा है, वहां शिक्षण का सारा आनंद ही लुप्त हो जाता है। छोटे लड़कों से जो कहा जाता है कि खेल ही उत्तम व्यायाम है, उसका भी रहस्य यही है। खेल में व्यायाम होता है, लेकिन 'मैं व्यायाम करता हूं', यह बोध नहीं होता। खेलते समय आसपास का जगत नष्ट हो जाता है। लड़के तद्रूप होकर अद्वैत का अनुभव करते हैं। देह-भान लुप्त हो जाता है। प्यास-भूख, थकान, चोट, किसी वेदना की भी प्रतीति नहीं होती। सारांश, खेल आनंद होता है। वह नियम-रूप कर्तव्य नहीं होता। यही व्यायाम-शिक्षण पर भी लागू करना चाहिए। 'शिक्षण एक कर्तव्य है, इस कृत्रिम भावना के बदले शिक्षण आनंद है', यह नैसर्गिक और तेजस्वी भावना उत्पन्न होनी चाहिए। लेकिन क्या हमारे लड़कों से ऐसी भावना पाई जाती है ? 'शिक्षण आनंद है', इस भावना की

बात तो छोड़ दीजिये; किंतु शिक्षण कर्तव्य है', यह भावना भी बहुत कम पाई जाती है। 'शिक्षण दंड है', यह गुलामी की भावना ही आज विद्यार्थियों में प्रचलित है। बालक ने जरा सजीवता की चमक या स्वतंत्र-वृत्ति के लक्षण दिखाये नहीं कि तुरंत घरवाले कहने लगे कि अब इसे स्कूल में बेड़ना चाहिए। तो पाठशाला का अर्थ क्या हुआ ?—बेड़ने की जगह ! इसलिए इस पवित्र कार्य में हाथ बंटानेवाले शिक्षक इस जेलखाने के छोटे-बड़े कर्मचारी हैं !

लेकिन इसमें दोष किसका है ? शिक्षा के विषय में हमारे ज़ो विचार हैं और उनके अनुसार हमने जिस पद्धति का—अथवा पद्धति के अभाव का—अवलंबन लिया है, उसका यह दोष है। विद्यार्थियों का शिक्षण इस प्रकार होना चाहिए कि उन्हें उसका बोध न हो, यानी स्वाभाविक रूप से होना चाहिए। बाल्यावस्था में बालक जिस सहजभाव से मातृभाषा सीखता है, उसी सहज भाव से उसका अगला शिक्षण भी होना चाहिए। लड़का, व्याकरण क्या चीज है, यह भले ही न जानता हो; लेकिन वह 'मां आया' नहीं कहता। कारण, वह व्याकरण समझता है। वह 'व्याकरण' शब्द भले ही न जानता हो या उसे व्याकरण की परिभाषा भले ही न मालूम हो; परन्तु व्याकरण का मुख्य कार्य तो हो चुका है। साध्य और साधन को उलट-पुलट नहीं करना चाहिए। साध्य के लिए साधन होते हैं, साधन के लिए साध्य नहीं। यही बात तर्कशास्त्र पर भी लागू होती है। गौतम के न्यायसूत्र अथवा अरस्तू का तर्कशास्त्र पढ़ने का क्या अभिप्राय है ? यही कि हम व्यवस्थित विचार कर सकें, अचूक अनुमान कर सकें। दीया जब मंद होने लगता है, तब छोटा लड़का भी अंदाज करता है कि शायद उसमें तेल नहीं है। उसके दिमाग में सारा तर्क होता है। हां, इतना अवश्य है कि वह 'पंचावयवी वाक्य' या 'सिलाजिज्म' नहीं बना सकता। विद्यार्थी के भीतर तर्क-शक्ति स्वभावतः होती है। शिक्षक का कार्य केवल ऐसे अवसर उपस्थित करना है, जिससे उस तर्क-शक्ति को समय-समय पर खाद्य मिलता रहे। सारे शास्त्र, सब कलाएं, तमाम सद्गुण, मनुष्य में बीजतः स्वयंभू हैं। हम उस बीज को देख नहीं सकते। लेकिन यह दिखाई नहीं देता, इसलिए उसका अभाव तो नहीं है।

परंतु कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि रूसो को यह मत पसंद नहीं है। मनुष्य स्वभावतः दुर्बल है, अनीतिमान है; शिक्षण से उसे बलवान या नीतिमान बनाना है। स्वभाव से वह पशु है; उसे मनुष्य बनाना है। 'पापोहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः' यह उसका पूर्व रूप है। उसका उत्तर-रूप शिक्षण से संपन्न होनेवाला है—इस आशय की भाषा का प्रयोग यह कभी-कभी करता है। इसके विरुद्ध आशय के वाक्य भी उसके ग्रंथों में पाये जाते हैं। इसलिए उसका अमुक ही मत है, यह कहना कठिन है, तथापि उसका ऊपर लिखे अनुसार मत हो, तो भी उसमें उसका विशेष दोष नहीं है; बल्कि उसके जमाने की परिस्थिति का दोष है, ऐसा कहा जा सकता है। स्वतंत्र बुद्धि के लोग भी एक हदतक, यदि परिस्थिति के गुलाम नहीं होते, तो कम-से-कम परिस्थिति द्वारा गढ़े जाते हैं और फिर रूसो के जमाने के फ्रांस की स्थिति कैसी भीषण थी! भारत में आज किस प्रकार इकतीस करोड़ जंतुओं का भयानक दृश्य नजर आता रहा है, उसी तरह की हालत उस वक्त के फ्रांस की थी। इसलिए यदि रूसो-जैसे ज्वालामुखी, ज्वलंत और अतिशय उत्कट मनुष्य का भावनामय एवं विकारी हृदय मनुष्य-जाति के प्रति घृणा-से परिपूर्ण हो गया हो तो वह क्षम्य है। गुलामी देखते ही वह खीझ जाता था। उसका खून खौलने लगता था। वह आपे से बाहर हो जाता था। ऐसी स्थिति में मनुष्य-जाति के प्रति घृणा के कारण यदि उसका यह मत हो गया हो कि मनुष्य एक जानवर है और उसमें शिक्षण से थोड़ी-बहुत इन्सानियत आती है, तो हम उसका तात्पर्य समझ सकते हैं। लेकिन रूसो के साथ हमें कितनी ही सहानुभूति क्यों न हो, तो भी इस प्रकार का मत—चाहे किसी ने किसी भी परिस्थिति में प्रतिपादन किया हो—अनुचित है, इसमें संदेह नहीं। मनुष्य स्वभावतः दुष्ट है, ऐसा मानने में निखिल मनुष्य-जाति का अपमान है और निराशावादी परमावधि है। अगर मनुष्य स्वभाव से ही दुष्ट हो तो शिक्षण की कोई आशा नहीं हो सकती। वस्तु से उसका स्वभाव सदा के लिए पृथक् करना तर्क-दृष्टि से असंभव है। इसलिए यदि मनुष्य-स्वभाव अपने असली रूप में दुष्ट ही हो तो उसे सुधारने के सारे प्रयत्न अकारथ जायंगे और निराशावाद का तथा उसके साथ-साथ पशु-वृत्ति का साम्राज्य शुरू हो जायगा, क्योंकि आशा नष्ट होते ही दंड का राज्य स्थापित हो जाता

है। कुछ लोग जोश में आकर कहा करते हैं कि ब्रिटिश सरकार पर से हमारा विश्वास सदा के लिए उठ गया। सुदैव से यह सिर्फ जोश की भाषा होती है। परंतु, यदि यह सच होता तो किसी भी शांतिमय आंदोलन का अर्थ निराशा का कर्म-योग ही होता। स्वावलंबन की दृष्टि से यह कहना ठीक है कि हमें सरकार के भरोसे नहीं रहना चाहिए। लेकिन यदि इसका अर्थ यह हो कि हमें यह निश्चय हो गया हो कि अंग्रेजों के हृदय नहीं है, उनकी कभी उन्नति ही नहीं हो सकती, तव तो निःशस्त्र-आंदोलन केवल एक लाचारी का चारा हो जाता है। क्या सत्याग्रह का और क्या शिक्षण का मुख्य आधार ही यह मूलभूत कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्य के आत्मा है। जिस प्रकार शत्रु के आत्मा नहीं है, यह सिद्ध होते ही सत्याग्रह वेकार हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य स्वभावतः दुष्ट है, यह सावित होते ही शिक्षण की प्रायः सारी आशा नष्ट हो जाती है। फिर तो 'छड़ी पड़े छम-छम, विद्या आवे झम-झम', शिक्षा का एकमात्र सूत्र होगा। इसलिए विद्वान् तत्वों और शिक्षण-वेत्ताओं ने भी यह शास्त्रीय सिद्धांत मान लिया है कि मनुष्य के मन में पूर्णता के सारे तत्व वीज-रूप में स्वतः सिद्ध हैं।

यह शास्त्रीय सिद्धांत स्वीकार करने पर जिस प्रकार आज की जिद्दी शिक्षा-पद्धति गलत साबित होती है, उसी प्रकार शिक्षा का कार्य नागरिक वनाना है, इस चाल के आत्म-संभावित तत्त्व भी निराधार सिद्ध होते हैं। हम कुछ-न-कुछ शिक्षण देते हैं, लड़कों के दिलों पर किसी-न-किसी वात का असर होता है और उस परिणाम तथा हमारे शिक्षण का समीकरण करके 'अस्माकमेवायं विजयः, अस्माकमेवायं महिमा' ऐसा कहकर हम नाचने लगते हैं। यह मानवीय मूर्खता की महिमा है। ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षण का रचना ऐसो होनी चाहिए, जिससे विद्यार्थियों को यह मालूम भी न पड़े कि वह शिक्षण ले रहा है। लेकिन इसके लिए साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि शिक्षक के दिल में ऐसी धुंधली और मंद भावना भी न हो कि वह विद्यार्थियों को शिक्षण दे रहा है। जब तक गुरु अनन्य और सहज-शिक्षक नहीं होगा, तब तक विद्यार्थियों को सहज-शिक्षण मिलना असंभव है। जब कहा जाता है कि 'हम तो फ्रोवेल, पैस्टलाजी या मौंटेसरी की पद्धति से शिक्षण देते हैं', तब साफ समझ लेना चाहिए कि यह केवल वाचिक श्रम है, यह शब्द-

शिक्षण है, यह किसी पद्धति की अर्थ-शून्य नकल है, यह शव है, इसमें जान नहीं है। शिक्षण कोई बीजगणित का सूत्र (फार्मूला) थोड़े ही है कि सूत्र लगाते ही फौरन उत्तर आ जाय। जो दिया जाता है, वह शिक्षण ही नहीं है और न शिक्षण देने की पद्धति, पद्धति है। जो अंदर है वह सहज भाव से प्रकट होता है—इस तरहसे जो प्रकट होता है, वही शिक्षण है। यही सहज-शिक्षण—'सदोषमपि'—सदोष भले ही हो, तो भी, अच्छा है। परंतु किसी विशिष्ट पद्धति के गुलामों के द्वारा प्राप्त होनेवाला व्यवस्थित अज्ञान हमें नहीं चाहिए।

आखिर शास्त्र क्या चीज है? 'शास्त्र' बराबर है 'व्यवस्थित अज्ञान के'। इसके सिवा इन शास्त्रों का कोई अर्थ भी है। शिक्षण-शास्त्रवेत्ता स्पेंसर शिक्षण-शास्त्र पर लिखते हुए कहता है कि शिक्षण से अलौकिक व्यक्ति बनते नहीं हैं। ऐसे शास्त्रों की शास्त्र-दृष्टि से क्या कीमत हो सकती है। 'एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत' जैसी शास्त्र की प्रतिज्ञा होनी चाहिए। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता, वह शास्त्र लोगों की आंखों में धूल झोंकने का व्यवस्थित प्रयास मात्र है। शेक्सपीयर ने कौन-से नाट्य-शास्त्र का अध्ययन किया था? अलंकार-शास्त्र के नियम रटकर क्या कभी कोई प्रतिभावान कवि—या काव्य-रसिक भी—बना है? शास्त्र-पद्धति, इन शब्दों का शब्द-सृष्टि से बाहर कुछ अर्थ ही नहीं होता। यह महज भ्रम है। 'यास्तेषां स्वैर कथास्ता एवं भवंति शास्त्राणि'—'महापुरुषों की स्वैर-कथाएं ही शास्त्र हैं'—भर्तृहरि का यह एक मार्मिक वचन है। यहां पर भी वह लागू होता है। जो किसी भी पद्धति के बिना सुव्यवस्थित होता है, जिसे कोई भी गुरु दे नहीं सकता, परंतु जो दिया जाता—ऐसा है शिक्षण का अनिर्वचनीय स्वरूप। इसलिए दिव्यदृष्टि वाले महात्माओं ने कहा कि शिक्षण कैसे दिया जाता है, हम नहीं जानते। 'न विजानीमः' (केनोपनिषत्) शिक्षण-पद्धति पाठ्यक्रम, समय-पत्रक, ये सब अर्थशून्य हैं। इनमें सिवा आत्म-वंचना के और कुछ नहीं धरा है। जीने की क्रिया में से ही शिक्षण मिलना चाहिए। शिक्षण जब जीने की क्रिया से भिन्न एक स्वतंत्र क्रिया बनती है, उस वक्त शरीर में विजातीय द्रव्य घुसने से जैसा परिणाम होता है, वैसा जहरीला और रोगोत्पादक परिणाम हमारे मन पर होता है। कर्म की कसरत के

विना ज्ञान की भूख नहीं लगती। और वैसी हालत में जो ज्ञान विजातीय द्रव्य के रूप में अन्दर घुसता है, उसे हजम करने की ताकत पचनेंद्रियों में नहीं होती। सिर्फ भेजे में किताबें ठूंस देने से अगर मनुष्य ज्ञानी वन जाता तो पुस्त-कालय की आलमारियां ज्ञानी मानी जातीं। लालच से खाये हुए ज्ञान का अप-चन होता है और वौद्धिक पेचिश हो जाती है। और अन्त में मनुष्य की नैतिक मृत्यु होती है।

जो नियम विद्यार्थियों के शिक्षण पर लागू है, वही लोक-शिक्षण या लोक-संग्रह पर भी घटित होता है। महापुरुषों की दृष्टि से सारा समाज एक वहुत वड़ा शिशु है। "भीष्माचार्य आमरण ब्रह्मचारी रहे। किन्तु विना पुत्र के तो सद्गति नही होती, ऐसा सुनते हैं। तव भीष्माचार्य को सद्गति कैसे मिली होगी ?" ऐसी वेहूदी शंका पेश होने पर उसका समाधान इस प्रकार किया गया कि भीष्माचार्य सारे समाज के लिए पिता के समान होने के कारण हम सव उनके पुत्र ही हैं। इसलिए लोक-संग्रह का प्रश्न महापुरुषों की दृष्टि से वालकों के शिक्षण का ही प्रश्न है। परन्तु शिक्षण के प्रश्न की तरह लोक-संग्रह का भी नाहक हौवा वनाकर ज्ञानी पुरुष की यह एक भारी जिम्मेदारी है, ऐसा कहने का रिवाज चल पड़ा है। लोक-संग्रह किसी व्यक्ति के लिए रुका नहीं है। लोक-संग्रह मुझपर निर्भर है, ऐसा मानना गोया टिटहरी का यह मानकर कि मेरे आधार पर आकाश स्थित है, खुद को उलटा टांग लेने के वरा-वर है। 'कर्त्ताहम्', 'मैं कर्त्ता हूं', यह अज्ञान का लक्षण है, ज्ञान का नहीं। यहां-तक कि जहां 'कर्त्ताहम' यह भावना जाग्रत है, वहां यथार्थ कर्तृत्व ही नहीं रह सकेगा। शिक्षण जिस प्रकार अभावात्मक या प्रतिवन्ध—निवारणात्मक कार्य है, उसी प्रकार लोक-संग्रह भी है। इसीलिए श्रीमच्छंकराचार्य ने 'लोकस्य उन्मार्ग-प्रवृत्ति-निवारणं लोक-संग्रह', ऐसा लोक-संग्रह का निवर्त्तक स्वरूप दिखलाया है।

जिस प्रकार सच्चा शिक्षक शिक्षा नहीं देता, उससे शिक्षण मिलता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी लोक-संग्रह करेगा नहीं, उसके द्वारा लोक-संग्रह होगा। सूर्य प्रकाश देता नहीं है, उससे स्वाभाविक रूप से प्रकाश मिलता है। इसी अभावात्मक कर्मयोग को गीता ने सहज कर्म कहा है और मनु ने इसी सहजकर्म को 'निवृत्तकर्म' यह सुन्दर संज्ञा दी है। 'निवृत्तशिक्षण', यह संज्ञा

भी उसी ढंग पर गढ़ी गई है। जो ऐसा निवृत्त शिक्षण देते हैं, वे आचार्य ही समाज के गुरु हैं। वे ही समाज के पिता हैं। दूसरे 'भाड़े के गुरु' गुरु नहीं और 'जन्म-हेतु-पिता' पिता नहीं है। ऐसे गुरुओं के चरणों के निकट बैठकर जिन्होंने शिक्षा पाई है, वे ही मातृमान, पितृमान, आचार्यमान कहलाने के गौरव के पात्र हैं। अन्य सब अनाथ बालक हैं। सब अशिक्षित हैं। ऐसा उदार शिक्षण कितनोंके भाग्यमें लिखा होता है ?

: १० :

आत्मा की भाषा

हम जानते हैं कि दुनिया का पहला ग्रन्थ ऋग्वेद है। इसके पहले का कोई लिखित ग्रन्थ हमको अबतक नहीं मिला। इसलिए ऋग्वेद ही हमारे लिए एक बहुत प्राचीन प्रामाणिक वस्तु के रूप में है। मैं देख रहा हूं कि हिन्दुस्तान की एकता का खयाल ऋग्वेद में भी मौजूद है। ऋग्वेद का एक मंत्र कहता है कि इस देश में दो तरफ से—दो बाजुओंसे—दो हवाएं बह रहीं हैं। एक समुद्र की तरफसे आती है, दूसरी पर्वत की तरफ से। जिस समुद्र की तरफसे हवा आती है, उसको हम हिन्द महासागर कहते हैं। मैं देख रहा हूं कि हिमालय की गहन गुफाओं से एक हवा आती है और दूसरी सिन्धु से बहती है। इस खयालसे हिन्दुस्तान समुद्र से लेकर हिमालयतक एक है। इसका आध्यात्मिक अर्थ भी है। हम जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं उसकी उपमा वे ऋषि दे रहे हैं। वे कहते हैं कि प्राणायाम करनेवाले योगी अन्दर एक हवा लेते हैं और बाहर दूसरी हवा छोड़ते हैं। जैसे योगी के अन्दर की गुफा और बाहर का अन्तरिक्ष दो भाग हैं वैसे ही भारतका हिमालय और समुद्र है। भारत भूमि भी इसी तरह प्राणायाम कर रही है। हिमालय से वायु छोड़ती है और समुद्र से लेती है। अब जो अर्थ निकला उससे यह साफ है कि हिन्दुस्तान की एकता अभी की नहीं है, बल्कि हजारों वर्ष पहले की है। रामायण में एक स्थान

पर वाल्मीकि ने श्री रामचन्द्रजी को समुद्र के समान गंभीर और पर्वत के समान स्थिर कहा है। उन्होंने रामचन्द्र जी को एक राष्ट्र-पुरुष के रूप में चित्रित किया है। हजारों वरस पहले ही जव पारस्परिक संवंध के कुछ साधन नहीं थे तभी हमारे पूर्वजों ने इस भूमि को एक विशाल राष्ट्र मान लिया था। इतने विशाल देश को एक राष्ट्र मानना इस जमाने के लिए कोई नई वात नहीं है।

हमारी पुरानी एकता का साधन क्या था? हमारी संस्कृत भाषा। उस समय हमारी भाषा संस्कृत थी। अब संस्कृत के अनेक अंग वन गये और अलग-अलग भाषाएं वन गईं। अलग-अलग सूवों में अलग अलग भाषा का प्रयोग होने लगा। इतना होते हुए भी जो लोग राष्ट्रीयता का खयाल करते थे, वे संस्कृत में वोलते और लिखते थे। आप देखेंगे कि केरल में पैदा हुए शंकराचार्यजी ने दक्षिण से हिमालय तक अपने अद्वैत का प्रचार संस्कृत द्वारा किया, जव कि मलावार की भाषा दूसरी थी। कारण, वह उस वक्त भी राष्ट्रीयता का खयाल रखते थे। सवाल उठता है कि अद्वैत का प्रचार करने के लिए उन्हें हिन्दुस्तान-भर में घूमने की क्या जरूरत थी? अद्वैत की दृष्टि से ही देखा जाय तो उनका अद्वैत जहां उनका जन्म हुआ था वहीं पर पूर्णतया प्रकट हो सकता था। उनको घूमने की क्या जरूरत पड़ी? एक और वात यह है कि वह हिन्दुस्तान के बाहर नहीं गये। इस तरह आप समझेंगे कि उन्होंने एक राष्ट्रीयता का खयाल करके अपने अद्वैत का प्रचार सिंध से ले कर परावर्त तक किया। लेकिन उनमें भी एक मर्यादा थी। उन्होंने आम लोगों की भाषा छोड़कर सिर्फ संस्कृत में ग्रन्थ लिखे। उनके वाद के संतों को लाचार होकर आम लोगों की भाषा में लिखना पड़ा और संस्कृत को छोड़ना पड़ा। अलग-अलग भाषा में अलग-अलग ग्रन्थ लिखे जाने लगे। अलग-अलग भाषा हो जाने के कारण प्रांतीयता का भाव पैदा होने लगा। इसका नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजों ने लश्कर के दो विभाग किये—दक्षिणी हिस्सा और उत्तरी हिस्सा। उन्होंने देखा कि उत्तर वाले दक्षिणी भाषा नहीं समझते और दक्षिणवाले उत्तर की भाषा नहीं समझते। अगर दक्षिण में बलवा हुआ तो उत्तरी सेना यहां पर काम देगी। यह आपको कोई काल्पनिक वात नहीं वता रहा हूं। १८५७ के वलवे को मैं भारतीय स्वातंत्र्य का

संग्राम मानता हूं। उसको दबाने के लिए मद्रास से सेना भेजी गई थी। यद्यपि भारत हजारों साल से एकत्र रहा, फिर भी बाद का भाषा का संबंध टूट गया और अंग्रेजों ने इसका फायदा उठाया। गांधीजी ने देखा कि अगर हम एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं और अपने प्राचीनतर राष्ट्रों (जो हिमालय से सिंधु तक फैला है) ताकतवर बनाना चाहते हैं तो एक राष्ट्रभाषा की सख्त जरूरत है। अब संस्कृत राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। इसलिए अभी हिन्दुस्तान में जो प्रचलित भाषा है, उसका अभ्यास सबको करना होगा, इसलिए गांधीजी ने हिन्दी भाषा को सबके सामने रखा कि सब उसका अभ्यास करें। अब वस्तु-स्थिति यह है कि जब हिंदुस्तान में कांग्रेस का जन्म हुआ तब शुरू में आपस के व्यवहार के लिए अंग्रेजी काम में लाई गई। इस तरह हमारे पढ़े-लिखे आदमी अंग्रेजी भाषा का उपकार मानते थे और शुरू-शुरू में अंग्रेजी से काम चलाते थे। लेकिन किसी को यह न सूझा कि सबके लिए अंग्रेजी सीखना मुश्किल है। वह हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। यह बात सिर्फ गांधी जी को सूझी।

जैसे हिंदी में तुलसी-रामायण लिखी गई है वैसे ही तमिल में या बंगला में क्या सौ बरस के अन्दर ऐसा कोई उत्तम ग्रंथ लिखा गया है जो गांव-गांव में फैला हो? प्राचीन जमाने में ऐसा कोई साधन नहीं था जैसा हमारे यहां अब है। जैसे प्रिंटिंग प्रेस। प्रिंटिंग प्रेस जैसे महान प्रचारक के होते हुए भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? मैं तमिल नहीं जानता। लेकिन मेरे भाइयों ने बताया है कि ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है जिसका प्रचार देहात तक हुआ हो। बहुत से प्रकाशक मुझसे मिल चुके हैं और मैं उनसे पूछ आया हूं कि आप प्रकाशक हैं या अप्रकाशक? पुराने जमाने में जब कोई पुस्तक लिखता था तो उसको लेकर घूम-घूम कर उसका प्रचार भी करता था। मगर आज हम मान बैठे हैं कि प्रिंटिंग प्रेस से हमारा काम बन गया। तुलसी रामायण ने जनता की सच्ची सेवा की है। नागपुर में जब तुलसी रामायण कहने का मौका मिला तो एक बात पर मेरा ध्यान गया। आजकल छोटे बच्चों को (जो प्रारम्भिक शिक्षा पाते हैं) अक्षर सिखाने के लिए ऐसा पाठ लिखा है, जिसमें संयुक्ताक्षर नहीं होते। नागरी और बंगला में संयुक्ताक्षर का प्रचार है। इसलिए वहां जो बिना संयुक्ताक्षर के लिखा जाता है, वह कुछ

कृत्रिम-सा बन जाता है। लेकिन तुलसी रामायण में पचास सैकड़े शब्द ऐसे मिलेंगे, जिनमें एक भी संयुक्ताक्षर नहीं है। यही तुलसीदास की विशेषता है।

हम लोग गुलाम बन गये और गुलामी को प्यार भी करने लगे। अब अभिमान भी करते हैं। आप देखेंगे कि हमारी भाषा और देहाती भाषा में अन्तर पड़ रहा है। हमारे ग्रंथ आम जनता तक नहीं पहुंच सकते। संतों ने देखा कि हमको देहाती भाषा में बोलना और लिखना चाहिए। गांधीजी ने देखा कि जब तक अंग्रेजी भाषा में सोचते रहेंगे, तब तक हम गुलाम ही रहेंगे। मैं मानता हूं कि अंग्रेजी से हमारा कुछ फायदा हो सकता है। लेकिन अंग्रेजी भाषा और हमारी भाषा में बड़ा फर्क है। हम लोग कहते हैं 'आत्म-रक्षा'। आत्मा के मानी शरीर नहीं है। पर अंग्रेजी में आत्मरक्षा है 'सेल्फ़-डिफेंस'। हरेक भाषा में उसका अपना-अपना स्वतंत्र भाव रहता है। जब तक हम अंग्रेजी द्वारा ही सोचते रहेंगे, तब तक हम में स्वतंत्र भाव पैदा नहीं होगा, यह गांधीजी ने देखा। लोग समझते हैं कि अंग्रेजी से ही हमें ज्ञान मिलता है। अगर किसी देश के बारे में जानकारी प्राप्त करनी हो तो अंग्रेजी पुस्तक पढ़ना पर्याप्त समझते हैं। अंग्रेजी-नेत्र द्वारा ही सभी बातों को देखते हैं और खुद अंधे बनते हैं। अब तक हमने प्रत्यक्ष परिचय नहीं पाया है। अंग्रेजी किताबों द्वारा ही ज्ञान-संपादन करते आये हैं। अंग्रेजी भाषा के कारण हम पुरुषार्थहीन हो गये हैं। यहां ऐसा मैंने सुना कि दो श्रेणी पढ़ने के बाद बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाई जाती है। वर्धा की शिक्षा-योजना के अनुसार हमने सात वर्ष की पढ़ाई में अंग्रेजी को बिल्कुल स्थान नहीं दिया है; क्योंकि हम मातृभाषा को पहले स्थान देना चाहते हैं और उसी माध्यम द्वारा सभी विषय पढ़ाना चाहते हैं। अंग्रेजी भाषा द्वारा जब हम कोई बात समझते हैं तो वह अस्पष्ट होती है। मैंने देखा कि एक अनपढ़ किसान का दिमाग साफ रहता है, पर एक एम० ए० का दिमाग साफ नहीं होता। इसका कारण यह है कि एम० ए० जितना विषय सीखता है, सब-का-सब पराई भाषा के द्वारा सीखता है। बच्चा पहले मातृभाषा में सीखता है। यह सब गांधीजी ने देखा और यह सोचकर कि राष्ट्रभाषा बनने से कम-से-कम दस करोड़ लोग तो अपनी भाषा को अच्छी तरह सीख पायेंगे, हिंदी को राष्ट्रभाषा का रूप दिया।

तेईस सालों में, मैंने सुना है कि, दक्षिण में करीव बारह लाख लोग हिंदी सीख चुके हैं।

आजकल हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू का झगड़ा है। मुझसे जब कोई पूछता है कि आप हिंदी को चाहते हैं, हिंदुस्तानी को या उर्दू को ? तो मैं उनसे पूछता हूं कि आप 'माता' को चाहते हैं या 'मां' को ? मुझे हिंदुस्तानी और उर्दू में फर्क नहीं मालूम होता। दाढ़ी बनाने में और उसकी हजामत करने में जितना फर्क है, उतना ही हिंदी और उर्दू में है—बढ़ी दाढ़ी उर्दू है, सफाचट हिंदी, क्योंकि हम देखते हैं कि दाढ़ी पन्द्रह मिनट में बढ़ती है। अंग्रेजी में मिल्टन और वर्ड्सवर्थ की भाषा में जितना फर्क है, उतना ही फर्क हिंदी और उर्दू में है। दो-चार उर्दू शब्दों या संस्कृत शब्दों में भाषा कभी नहीं बदलती। मैं मद्रास में अब जो भाषा बोल रहा हूं, उसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग कर रहा हूं। अगर मैं पंजाब गया तो उर्दू शब्दों का, जो मैं जानता हूं, इस्तेमाल करूंगा। आप हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू में कुछ भी फर्क न करें। उनमें फर्क नहीं है। हिंदी और उर्दू में जो संतुलन (बैलेंस) लाया गया है, वह है हिंदुस्तानी।

हिंदुस्तान में अनेक भाषाओं को और अनेक धर्मों को रहना है। इसलिए अगर यहां ऐसे छोटे-मोटे झगड़े हुए तो हिंदुस्तान जैसा कोई बदनसीब देश नहीं होगा। हम सब एक हैं, एक भाव पैदा करने के लिए हमारे पास कोई साधन होना चाहिए। वह साधन है राष्ट्रभाषा।

राष्ट्रभाषा प्रांतीय भाषा की जगह नहीं लेती। मातृभाषा के लिए भी प्रेम की जरूरत है। पाश्चात्य लोगों से हमने 'अभिमान' शब्द सीखा है। पर इसमें देश प्रेम नहीं है। पेट्रियाटिज्म क्या चीज है ? वह देश-प्रेम का अपभ्रंश है। राष्ट्रप्रेम का अपभ्रंश है पेट्रियाटिज्म। इसलिए आप लोगों को मातृभाषा का अभिमान नहीं, प्रेम रखना चाहिए। राष्ट्र का अभिमान नहीं: राष्ट्र-प्रेम रखना चाहिए। हम राष्ट्रभाषा का प्रेम चाहते हैं। राष्ट्रभाषा-का प्रचार युद्ध-विरोधी संदेश का प्रचार है। अगर हम मानव-समाज में प्रेम बढ़ाना चाहते हैं और मानव-समाज को प्रेम की नींव पर स्थापित करना चाहते हैं तो एक-दूसरे का संबंध कायम रखने के लिए रेलवे काम नहीं देगी, रेडियो काम नहीं देगा, आपके अंतरात्मा का प्रेम काम देगा।

सर्वत्र आत्मा एक है। आत्मा की भाषा सर्वत्र समान होती है। जैसे दुनिया भर का कौवा एक ही भाषा बोलता है, वैसे ही दुनिया में मानव-भाषा एक है। यह हृदय के अंतरतम की भाषा है। मानव-मात्र की एक भाषा है। जो आत्मभाव उपनिषद् में है, वह ईसप्स फेवल्स में है। लड़कों को ईसप्स फेवल्स पढ़ने में बड़ा आनंद आता है, क्योंकि वे आत्मा को पहचानते हैं। आत्मा की भाषा के प्रचार में राष्ट्रभाषा का प्रचार पहला कदम है। आत्मा की भाषा जब समझ लेंगे तब सबकी आत्मा को समझेंगे। स्त्री-पुरुष की आत्मा एक है, हिन्दू-मुसलमान की आत्मा एक है, उत्तर और दक्षिण की आत्मा एक है, इसको पहचानने के लिए ही यह राष्ट्रभाषा का प्रचार है।

: ११ :
साहित्य उल्टी दिशा में

पिछले दिनों एक बार हमने इस बात की खोज की थी कि देहात के साधारण पढ़े-लिखे लोगों के घर में कौन-सा मुद्रित वाङ्मय पाया जाता है। खोज के फलस्वरूप देखा गया कि कुल मिलाकर पांच प्रकार का वाङ्मय पढ़ा जाता है :

(१) समाचार-पत्र, (२) स्कूली किताबें, (३) उपन्यास, नाटक, गल्प, कहानियां आदि (४) भाषा में लिखे हुए पौराणिक और धार्मिक ग्रंथ, (५) वैद्यक-संबंधी पुस्तकें।

उससे यह अर्थ निकलता है कि हम यदि लोगों के हृदय उन्नत करना चाहते हैं तो उक्त पांच प्रकार के वाङ्मय की उन्नति करनी चाहिए।

पारसाल का जिक्र है। एक मित्र ने मुझसे कहा, "मराठी भाषा कितनी ऊंची उठ सकती है, यह ज्ञानदेव ने दिखाया, और वह कितनी नीचे गिर सकती है, यह हमारे आज के समाचारपत्र बता रहे हैं!" (साहित्य सम्मेलन-के) अध्यक्ष की आलोचना और हमारे मित्र के उद्‌गार का अर्थ 'प्रधान्येन

व्यपदेश:' सूत्र के अनुसार निकालना चाहिए। अर्थात् उनके कथन का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि सभी समाचारपत्र अक्षरश: प्रशांत महासागर की तह तक जा पहुंचे हैं। मोटे हिसाव से परिस्थिति क्या है, इतना ही बोध उनके कथनों से लेना चाहिए। इस दृष्टि से दु:खपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि यह आलोचना यथार्थ है।

लेकिन इसमें दोष किसका है ? कोई कहता है कि संपादकों का, कोई कहता है पाठकों का, कोई कहता है पूंजीपतियों का। गुनाह में तीनों ही शरीक हैं, और 'कमाई का हिस्सा' तीनों को बराबर-बराबर मिलनेवाला है, इसमें किसी को कोई शक नहीं। परंतु मेरे मत से, अपराधी ये तीनों भले ही हों,—अपराध करनेवाला दूसरा ही है, और वही इस पाप का वास्तविक 'धनी' है। वह कौन है ?—साहित्य की व्याख्या करनेवाला चटोर अथवा रुचिभ्रष्ट साहित्यकार।

"विरोधी विवाद का वल, दूसरों का जी जलाना, जली-कटी या तीखी वातें कहना, मखौल (उपहास), :(व्यंग्य):, मर्मभेद (मर्मस्पर्श) आड़ी-टेढ़ी सुनाना (वक्रोक्ति), कठोरता, पेचीदगी, संदिग्धता, प्रतारणा (कपट)"—ज्ञानदेव ने वाणी के दोष वताये हैं, परन्तु हमारे साहित्यकार तो ठीक उन्हीं अवगुणों को 'वाग्भूषा' या साहित्य की सजावट मानते हैं। पिछले दिनों एक वार रामदास की 'ओछी तवीयतवालों को विनोद भाता है', इस उक्ति पर कई साहित्यिक वड़े गरम हो गये थे। रामदास के आशय पर ध्यान देकर, उससे उचित उपदेश लेने के वदले इन लोगों ने यह आविष्कार किया कि विनोद का जीवन और साहित्य में जो स्थान है, रामदास वही नहीं समझ पाये थे। उपहास, छल, मर्मस्पर्श आदि ज्ञानदेव ने अस्वीकार किये, इसे भी हमारे साहित्यकार—अपनी साहित्य की परिभाषा के अनुसार—ज्ञानदेव के अज्ञान का ही फल समझेंगे।

ज्ञानदेव या रामदास को राष्ट्र-कल्याण की लगन थी और हमारे विद्वानों-को चटपटी भाषा की चिंता रहती है, चाहे उसमें राष्ट्रघात ही क्यों न होता हो—यह इन दोनों में मुख्य भेद है। हमारी साहित्य-निष्ठा ऐसी है कि चाहे सत्य भले ही मर जाय, साहित्य जीता रहे।

"हे प्रभो, अभी तक मुझे पूर्ण अनुभव नहीं होता है। तो क्या, मेरे देव!

मैं केवल कवि ही वनकर रहूं।"—इन शब्दों में तुकाराम ईश्वर से अपना दुखड़ा रोते हैं और ये (साहित्यकार) खोज रहे हैं कि तुकाराम के इस वचन में काव्य कहां तक साधा है! हमारी पाठशालाओं की शिक्षा का सारा तरीका ही ऐसा है। मैंने एक निबंध पढ़ा था। उसमें लेखक ने तुलसीदास की शेक्स-पीयर से तुलना की थी और किसका स्वभाव-चित्रण किस दर्जे का है, इसकी चर्चा की थी। मतलब यह है कि तुलसीदास की रामायण हिंदुस्तान के करोड़ों लोगों के लिए—देहातियों के लिए भी—जीवन की मार्ग-प्रदर्शक पुस्तक है। उसका अध्ययन भी वह भला आदमी स्वभाव-चित्रण की शैली की दृष्टि से करेगा। शायद कुछ लोगों को मेरे कथन में कुछ अतिशयता प्रतीत हो, लेकिन मुझे तो कई वार ऐसा ही जान पड़ता है कि इन शैली-भक्तों ने राष्ट्र के शील की हत्या का उद्योग शुरू किया है।

शुकदेव का एक श्लोक है, जिसका भावार्थ यह है कि "जिससे जनता का चित्त शुद्ध होता है, वही उत्तम साहित्य है।" जो साहित्य-शास्त्रकार कहलाते हैं, और जिनसे आज हम प्रभावित हैं, वे यह व्याख्या स्वीकार नहीं करते। उन्होंने तो शृंगार से लेकर वीभत्स तक विभिन्न रस माने हैं और यह निश्चित किया है कि साहित्य वही है, जिसमें ये रस हों। साहित्य की यह समूची व्याख्या स्वीकार कर लीजिये, उसमें कर्तव्य-शून्यता मिला दीजिये, फिर कोई भी बतला दे कि आज के मराठी समाचारपत्रों में जो पाया जाता है, उसके सिवा और किस साहित्य का निर्माण हो सकता है।

: १२ :

तुलसीकृत रामायण

तुलसीदासजी की रामायण का सारे हिंदुस्तान के साहित्यिक इतिहास में एक विशेष स्थान है। हिंदी राष्ट्रभाषा है और यह उसका सर्वोत्तम ग्रंथ है। अतः राष्ट्रीय दृष्टि से भी उसका स्थान अद्वितीय है ही। साथ-साथ वह हिंदुस्तान के सात-आठ करोड़ लोगों के लिए वेद-तुल्य प्रमाण मान्य है,

नित्य परिचित और धर्म-जागृति का एकमात्र आधार है। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी वह बेजोड़ कही जा सकती है। और रामभक्ति का प्रचार करने में 'शिष्यात् इच्छेत पराजयम्' इस न्याय से वह अपने गुरु-वाल्मीकि रामायण को भी पराजय का आनंद देनेवाली है। इसलिए भक्ति-मार्गीय दृष्टि से भी यह ग्रंथ अपनी सानी नहीं रखता। तीनों दृष्टियां एकत्र करके विचार करने पर अन्वयालंकार का उदाहरण हो जाता है कि राम-रावण युद्ध जिस तरह राम-रावण के युद्ध जैसा था, उसी तरह तुलसीकृत रामायण तुलसीकृत रामायण-जैसी ही है।

एक तो रामायण का अर्थ ही है मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्र का चरित्र, तिस पर तुलसीदास ने उसे विशेष मर्यादा से लिखा है। इसीलिए यह ग्रंथ सुकुमार बालकों के हाथ में देने लायक निर्दोष तथा पवित्र हुआ है। इसमें सब रसों का वर्णन नैतिक मर्यादा का ध्यान रखकर किया गया है। स्वयं भक्ति पर भी नीति की मर्यादा लगा दी है। इसीलिए सूरदास की जैसी उद्दाम भक्ति इसमें नहीं मिलेगी। तुलसी की भक्ति संयमित है। इस संयमित भक्ति और उद्दाम भक्ति का अंतर मूल राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति का अंतर है। साथ ही, तुलसीदासजी का अपना भी कुछ है ही।

तुलसीकृत रामायण का वाल्मीकि-रामायण की अपेक्षा अध्यात्म-रामायण से अधिक संबंध है। अधिकांश वर्णनों पर, खासकर भक्ति के उद्गारों पर, भागवत की छाप पड़ी हुई है, गीता की छाप तो है ही। महा-राष्ट्र के भागवत-धर्मीय संतों के ग्रंथों से जिनका परिचय है, उन्हें तुलसीकृत रामायण कोई नई चीज नहीं मालूम होगी। वही नीति, वही निर्मल भक्ति, वहीं संयम। कृष्ण-सखा सुदामा को जिस तरह अपने गांव में वापस आने पर मालूम हुआ कि कहीं मैं फिर से द्वारकापुरी में लौटकर तो नहीं आ गया, उसी तरह तुलसीदासजी की रामायण पढ़ते समय महाराष्ट्रीय संत-समाज के वचनों से परिचित पाठकों को 'हम कहीं अपनी पूर्व-परिचित संत-वाणी तो नहीं पढ़ रहे हैं', ऐसी शंका हो सकती है। उसमें भी एकनाथजी महाराज की याद विशेष रूप से आती है। एकनाथ के भागवत और तुलसीदासजी की रामायण इन दोनों में विशेष विचार-साम्य है। एकनाथ ने भी रामायण लिखी है, पर उनकी आत्मा भागवत में उतरी है। एकनाथ के भागवत ने

ही रानाड़े को पागल वना दिया। एकनाथ कृष्णभक्त थे तो तुलसीदास रामभक्त। एकनाथ ने कृष्णभक्ति की मस्ती को पचा लिया, यह उनकी विशेपता है। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ ये सभी कृष्णभक्त हैं और ऐसा होते हुए भी अत्यन्त मर्यादाशील। इस कारण इस विषय में उन्हें तुलसीदासजी से दो नम्वर अधिक दे देना अनुचित न होगा।

तुलसीदासजी की मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकांड में है। उसी कांड में उन्होंने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्याकांड में भरत की भूमिका अद्‌भुत चित्रित हुई हैं। भरत तुलसीदास की ध्यानमूर्ति थे। इस ध्यानमूर्ति को चुनने में उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनों ही राम के अनन्य-भक्त थे, लेकिन एक को राम की संगति का लाभ हुआ और दूसरे को वियोग का। पर, वियोग ही भाग्य रूप हो उठा। इसलिए कि वियोग में ही भरत ने संगति का अनुभव पाया। हमारे नसीब में परमात्मा के वियोग में रहकर ही काम करना लिखा है। लक्ष्मण के जैसा संगति का भाग्य हमारा कहां! इसलिए वियोग को भाग्य रूप में किस तरह वदल सकते हैं, इसे समझने में भरत का आदेश हमारे लिए उपयोगी है।

शारीरिक संगति की अपेक्षा मानसिक संगति का महत्व अधिक है। शरीर से समीप रहकर भी मनुष्य मन से दूर रह सकता है। दिन-रात नदी का पानी ओढ़े सोया हुआ पत्थर गीलेपन से बिल्कुल अलिप्त रह सकता है। उलटे शारीरिक वियोग में ही मानसिक संयोग हो सकता है, उसमें संयम की परीक्षा है। भक्ति की तीव्रता वियोग से वढ़ती ही है। आनंद की दृष्टि से देखें तो साक्षात् स्वराज्य की अपेक्षा स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्न का आनन्द कुछ और ही है। सिर्फ अनुभव करने की रसिकता हममें होनी चाहिए। भक्तों में यह रसिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नहीं मांगते, वे भक्ति में ही खुश रहते हैं। भक्ति का अर्थ वाहर का वियोग स्वीकार कर अन्दर से एक हो जाना है। यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नहीं, परम भाग्य है—मुक्ति से भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरत का यह भाग्य था। लक्ष्मण का भाग्य भी वड़ा था।

पर एक तो हमारी किस्मत में वह है नहीं और फिर कुछ भी कहिये, वह है भी कुछ घटिया ही। इसका कारण अंगूर खट्टे हैं, सिर्फ यही नहीं

है, किन्तु उपवास मीठा है, यह भी है। भरत के भाग्य में उपवास की मिठास है।

लोकमान्य तिलक ने 'गीतारहस्य' में संन्यासी को लक्ष्य कर यह कटाक्ष किया है कि 'संन्यासी को भी मोक्ष का लोभ तो होता ही है।' पर इस ताने को व्यर्थ कर देने की युक्ति भी हमारे साधु-संतों ने ढूंढ़ निकाली है। उन्होंने लोभ को ही संन्यास दे दिया। खुद तुलसीदासजी भक्ति को नमक-रोटी से खुश हैं, मुक्ति की ज्योनार के प्रति उन्होंने अरुचि दिखाई है। ज्ञानेश्वर ने तो "भोग-मोक्ष निवलाण। पायातली" भोग और मोक्ष पैर तले पड़े हुए (उतारा जैसे) हैं, "मोक्षाची सोडीबांधी करी" (मोक्ष की पोटली को बांधती छोड़ती है, अर्थात् मोक्ष जिसके हाथ की चीज है), "चहूं पुरुषार्थां शिरीं। भक्ति जैसी" (चारों पुरुषार्थों से श्रेष्ठ भक्ति जैसी आदि वचनों में भक्ति को भक्त की टहलुई बनाया है। और तुकाराम से तो "नको ब्रह्मज्ञान आत्म-स्थिति भाव" (मुझे न ब्रह्मज्ञान चाहिए और न आत्मसाक्षात्कार) कहकर मुक्ति से दूस्तीफा ही दे दिया है। "मुक्तीवर भक्ति" (मुक्त से भक्ति बढ़कर है) इस भाव को एकनाथ ने अपनी रचनाओं में दस-पांच बार प्रकट किया है। इधर गुजरात में नरसिंह मेहता ने भी "हरिना जन तो मुक्ति न मांगे" (हरि का जन मुक्ति नहीं मांगता) ही गाया है। इस प्रकार अंततः सभी भागवत-धर्मी वैष्णवों की परंपरा मुक्ति के लोभ से सोलहों आने मुक्त है। इस परंपरा का उद्‌गम भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद से हुआ है। "नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेकः"—इन दीन जनों को छोड़कर मुझे अकेले मुक्त होने की इच्छा नहीं है, यह खरा जवाब उन्होंने नृसिंह भगवान को दिया। इस कलियुग में श्रौतस्मार्त्त-संन्यास-मार्ग की स्थापना करनेवाले शंकराचार्य ने भी "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति यः" गीता के इस श्लोक का भाष्य करते हुए 'संगंत्यक्त्वा' का अर्थ अपने पल्ले से डालकर 'मोक्षेऽपिफले संगंत्यक्त्वा' "मोक्ष की भी आसक्ति का त्याग कर", ये शब्द किया है।

तुलसीदासजी के भरत इस भक्ति-भाग्य की मूर्त्ति हैं। उनका मांगना तो देखिये—

धरम न अरथ न काम-रुचि
गति न चहउं निरबान।

जनम-जनम रति राम-पद
यह बरदान न आन ॥

यों तिलकजी के ताने को संतों ने एकदम निकम्मा कर दिया।

भरत में वियोग-शक्ति का उत्कर्ष दिखाई देता है। इसीसे तुलसीदास-जी के वह आदर्श हुए। भरत ने सेवा-धर्म को खूब निबाहा। नैतिक मर्यादा का सम्पूर्ण पालन किया, भगवान् का कभी विस्मरण नहीं होने दिया। आज्ञा समझकर प्रजा का पालन किया। पर उसका श्रेय राम के चरणों में अर्पण-कर स्वयं निर्लिप्त रहे। नगर में रहकर वनवास का अनुभव किया। वैराग्य-युक्त चित्त से यमनियमादि विषम व्रतों का पालन कर आत्मा को देह से दूर रखनेवाले देह के पर्दे को झीना कर दिया। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे भरत न जन्मे होते तो मुझ-जैसे पतित को राम-सम्मुख कौन करता—

सिय-राम-प्रेमपियूष-पूरन होत जनम न भरत को ।
मुनि-मन-अगम-जम-नियम-सम-दम विषय-व्रत आचरत को !
दुख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषन सुजस-मिस अपहरत को !
कलिकाल तुलसी-से सठहिं हठि राम-सनमुख करत को !!

रामायण में रामसखा भरत, महाभारत में शकुन्तला का पराक्रमी भरत और भागवत में जीवनमुक्त जड़ भरत, ये तीन भरत प्राचीन भारत में विख्यात हैं। हिंदुस्तान को 'भारतवर्ष' संज्ञा शकुंतला के वीर भरत से मिली, ऐसा इतिहासज्ञों का मत है; एकनाथ ने ज्ञानी जड़ भरत से यह मिली, ऐसा माना है। संभव है, तुलसीदासजी को लगता हो कि यह राम-भक्त भरत से मिली है। पर चाहे जो हो, आज के वियोगी भारत के लिए भरत की वियोग-भक्ति का आदर्श सब प्रकार से अनुकरणीय है। तुलसीदासजी ने वह आदर्श अपने पवित्र अनुभव से उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है। तदनसार आचरण करना हमारा काम है।

: १३ :
जीवन की तीन प्रधान बातें

अपने जीवन में तीन बातों को प्रधान पद देता हूं। उनमें पहली है उद्योग। अपने देश में आलस्य का भारी वातावरण है। यह आलस्य बेकारी के कारण आया है। शिक्षितों का तो उद्योग से कोई ताल्लुक ही नहीं रहता, और जहां उद्योग नहीं वहां सुख कहां! मेरे मत से जिस देश से उद्योग गया, उस देश को भारी घुन लगा समझना चाहिए। जो खाता है, उसे उद्योग तो करना ही चाहिए, फिर वह उद्योग चाहे जिस तरह का हो, पर बिना उद्योग के बैठना काम की बात नहीं। घरों में उद्योग का वातावरण होना चाहिए। जिस घर में उद्योग की तालीम नहीं है, उस घर के लड़के जल्दी ही घर का नाश कर देंगे। संसार पहले ही दुःखमय है। जिसने संसार में सुख माना है, उसके समान भ्रम में पड़ा और कौन होगा? रामदासजी ने कहा है, "मूर्खमांजी परम मूर्ख। जो संसारी मानीं सुख।" अर्थात् वह मूर्खों में भारी मूर्ख है, जो मानता है कि इस संसार में सुख है। मुझे जो मिला, दुःख की कहानी सुनाता ही मिला। मैंने तो कभी से यह समझ लिया है और बहुत विचार और अनुभव के बाद मुझे इसका निश्चय हो गया है। पर ऐसे इस संसार को जरा-सा सुखमय बनाना हो तो उद्योग के सिवाय दूसरा इलाज नहीं है, और आज सबके करने लायक और उपयोगी उद्योग सूत-कताई का है। कपड़ा हरेक के लिए ज़रूरी है और प्रत्येक बालक, स्त्री, पुरुष सूत कातकर अपना कपड़ा तैयार कर सकता है। चर्खा हमारा मित्र बन जायगा, शांतिदाता हो जायगा—बशर्ते कि हम उसे संभालें। दुःख होने या मन उदास होनेपर चर्खे को हाथ में ले लें तो फौरन मन को आराम मिलता है। इसकी वजह यह है कि मन उद्योग में लग जाता है और दुःख बिसर जाता है। गेटे नामक कवि का एक काव्य है। उसमें उसने एक स्त्री का चित्र खींचा है। वह स्त्री बहुत शोक-पीड़ित और दुःखित थी। अंत में उसने तकली संभाली। कवि ने दिखाया है कि उसे उस तकली से सांत्वना मिली। मैं इसे मानता हूं। स्त्रियों के लिए यह बहुत ही उपयोगी साधन है। उद्योग के

बिना मनुष्य को कभी खाली नहीं बैठना चाहिए। आलस्य के समान शत्रु नहीं है। किसीको नींद आती हो तो सो जाय, इसपर मैं कुछ नहीं कहूंगा, लेकिन जाग उठने पर समय आलस्य में नहीं बिताना चाहिए। इस आलस्य की वजह से हम दरिद्री हो गये हैं, परतंत्र हो गये हैं। इसलिए हमें उद्योग की ओर झुकना चाहिए।

दूसरी बात, जिसकी मुझे धुन है, वह भक्तिमार्ग है। बचपन से ही मेरे मन पर यदि कोई संस्कार पड़ा है तो वह भक्तिमार्ग का है। उस समय मुझे माता से शिक्षा मिली। आगे चलकर आश्रम में दोनों वक्त की प्रार्थना करने की आदत पड़ गई। इसीलिए मेरे अंदर वह खूब हो गई। पर भक्ति के माने ढोंग नहीं है। हमें उद्योग छोड़कर झूठी भक्ति नहीं करनी है। दिनभर उद्योग करके अंत में शाम को और सुबह भगवान का स्मरण करना चाहिए। दिनभर पाप करके, झूठ बोलकर, लबारी-लफ्फाजी करके प्रार्थना नहीं होती, वरन् सत्कर्म करके दिन सेवा में बिता करके वह सेवा शाम को भगवान को अर्पण करनी चाहिए। हमारे हाथों अनजाने हुए पापों को भगवान् क्षमा करता है। पाप बन आवे तो उसके लिए तीव्र पश्चात्ताप होना चाहिए। ऐसों के पाप ही भगवान् माफ करता है। रोज पन्द्रह मिनट ही क्यों न हो, सबको—लड़कों को, स्त्रियों को—इकट्ठे होकर प्रार्थना करनी चाहिए। जिस दिन प्रार्थना न हो वह दिन व्यर्थ गया समझना चाहिए। मुझे तो ऐसा ही लगता है। सौभाग्य से मुझे अपने आस-पास भी ऐसी ही मंडली मिल गई है। इसमें मैं अपने को भाग्यवान मानता हूं। अभी मेरे भाई का पत्र आया है। बाबाजी उनके बारे में लिख रहे हैं कि आजकल वह रायचंद भाई के ग्रंथ पढ़ रहे हैं। उन्हें उस साधु के सिवाय और कुछ नहीं सूझ रहा है। इधर उसे रोग ने घेर रखा है, पर उसे उसकी परवा नहीं है। मुझे भाई भी ऐसा मिला है। ऐसे ही मित्र और गुरु मिले। मां भी ऐसी ही थी। ज्ञानदेव ने लिखा है कि भगवान कहते हैं—मैं योगियों के हृदय में न मिलूं, सूर्य में न मिलूं और कहीं न मिलूं, तो जहां कीर्तन-नामघोष चल रहा है वहां तो जरूर ही मिलूंगा। लेकिन यह कीर्तन कर्म करने, उद्योग करने के बाद ही करने की चीज है, नहीं तो वह ढोंग हो जायगा। मुझे इस प्रकार के भक्तिमार्ग की धुन है।

तीसरी एक और बात की मुझे धुन है, पर सबके काबू की वह चीज नहीं हो सकती। वह चीज है खूब सीखना और खूब सिखाना। जिसे जो आता है, वह उसे दूसरेको सिखाये और जो सीख सके उसे वह सीखे। कोई बुड्ढा मिल जाय तो उसे सिखाये। भजन सिखाये, गीता-पाठ कराये, कुछ-न-कुछ जरूर सिखाये। पाठशाला की तालीम पर मुझे विश्वास नहीं है। पांच-छः घंटे बच्चों को बिठा रखने से उनकी तालीम कभी नहीं होती। अनेक प्रकार के उद्योग चलने चाहिए और उसमें एक-आधा घंटा सिखाना काफी है। काम में से ही गणित इत्यादि सिखाना चाहिए। क्लास इस तरह के होने चाहिएं कि एक पैसा मजदूरी मिली तो उसे पहला दर्जा और उससे ज्यादा मिली तो दूसरा दर्जा। इसी प्रकारसे उन्हें उद्योग सिखाकर उसीमें शिक्षा देनी चाहिए। मेरी मां 'भक्ति-मार्ग-प्रदीप' पढ़ रही थी। उसे पढ़ना कम आता था, पर एक-एक अक्षर टो-टोकर पढ़ रही थी। एक दिन एक भजन के पढ़ने में उसने पन्द्रह मिनट खर्च किये। मैं ऊपर बैठा था। नीचे आया और उसे वह भजन सिखा दिया। और पढ़ाकर देखा, पन्द्रह-बीस मिनट में ही वह भजन उसे ठीक आ गया। उसके बाद रोज मैं उसे कुछ देर तक बताता रहता था। उसकी वह पुस्तक पूरी करा दी। इस प्रकार जो-जो सिखाने लायक हो, वह सिखाते रहना चाहिए और सीखते भी रहना चाहिए। यह सबसे बन आने-की बात नहीं है। पर उद्योग और भक्ति तो सबसे बन आ सकती है। उन्हें करना चाहिए और इस उद्योग के सिवाय मुझे तो सुख का दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता है।

: १४ :

गांधीजी की सिखावन

अभी इस समय दिल्ली में जमुना नदी के किनारे पर एक महान् पुरुष की देह अग्नि में जल रही है। हम यहां जिस तरह अब प्रार्थना कर रहे हैं उसी तरह हिन्दुस्तानभर में प्रार्थना चल रही है। कल के ही दिन ! शाम के

पांच बज गये थे। प्रार्थना का समय हुआ और गांधीजी प्रार्थना के लिए निकले। प्रार्थना के लिए लोग जमा हुए थे। गांधीजी प्रार्थना की जगह पर पहुंचे ही थे कि किसी नौजवान ने आगे झपटकर गांधीजी की देह पर गोलियां चलाईं। गांधीजी की देह गिर पड़ी। खून की धारा बहने लगी। बीस मिनटों के बाद देह का जीवन समाप्त हुआ। सरदार वल्लभभाई ने एक बात बड़े महत्व की कही। वह यह कि गांधीजी के चेहरे पर दया-भाव तथा माफी का भाव, यानी अपराधी के प्रति क्षमावृत्ति, दिखाई देती थी। आगे चलकर वल्लभभाई ने कहा कि इस समय कितना ही दुःख क्यों न हुआ हो, गुस्सा नहीं आने देना चाहिए और यदि आये भी तो उसे रोकना चाहिए। गांधीजी ने जो चीज हमें सिखाई उसका अमल उनके जीते-जी हम नहीं कर पाये। लेकिन अब उनकी मृत्यु के बाद तो करें।

ऐसी ही घटना पांच हजार साल पहले हिंदुस्तान में घटी थी। भगवान् श्रीकृष्ण की उम्र ढल गई थी। जीवन-भर उद्योग करके वह थक गये थे। गांधीजी की तरह उन्होंने जनता की निरंतर सेवा की थी। थके हुए एक बार जंगल में वह किसी पेड़ के सहारे आराम ले रहे थे। इतने में एक व्याध यानी शिकारी, उस जंगल में पहुंचा। उसे लगा कि कोई हिरन पेड़ के सहारे बैठा है। शिकारी जो ठहरा! उसने लक्ष्य साधकर तीर छोड़ा। तीर भगवान् के पांव में लगकर खून की धारा बहने लगी। शिकारी अपना शिकार पकड़ने के इरादे से नजदीक आया। लेकिन सामने प्रत्यक्ष भगवान् को जख्मी पाया। उसे बड़ा दुःख हुआ। अपने हाथों से बड़ा पाप हुआ, ऐसा सोचकर वह दुःखी हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण तो थोड़े ही समय में चल बसे। लेकिन मरने के पहले उन्होंने उस व्याध से कहा, "हे व्याध! डरना नहीं। मृत्यु के लिए कुछ-न-कुछ निमित्त लगता ही है। तू निमित्त बन गया।" ऐसा कहकर भगवान् ने उसे आशीर्वाद दिया।

इसी तरह की घटना पांच हजार वर्षों के बाद फिर से घटी है। यों देखने में तो ऐसा दिखाई देगा कि उस व्याध ने अज्ञानवश तीर मारा था। यहां इस नौजवान ने सोच-समझकर, गांधीजी को ठीक पहचानकर, पिस्तौल चलाई। इसी काम के लिए वह दिल्ली गया था। वह दिल्ली का रहनेवाला नहीं था। गांधीजी के प्रार्थना के लिए जाते हुए वह उनके पास पहुंचा और

बिल्कुल नजदीक जाकर उसने गोलियां छोड़ीं। ऊपर से यों दिखाई देगा कि गांधीजी को वह जानता था। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं था। जैसा वह व्याध अज्ञानी, वैसा भी यह युवक भी अज्ञानी था। उसकी यह भावना थी कि गांधीजी हिन्दू धर्म को हानि पहुंचा रहे हैं और इसलिए उसने उनपर गोलियां छोड़ीं। लेकिन दुनिया में आज हिंदू धर्म का नाम यदि किसीने उज्ज्वल रखा तो वह गांधीजी ने ही रखा है। परसों उन्होंने खुद ही कहा था कि "हिंदूधर्म की रक्षा करने के लिए किसी मनुष्य को नियुक्त करने की जरूरत यदि भगवान् को महसूस हुई तो इस काम के लिए वह मुझे ही नियुक्त करेगा।" इतना आत्मविश्वास उनमें था। उन्हें जो सत्य मालूम होता था, वह वह साफ-सीधे कह देते थे। बड़े लोग अपनी रक्षा के लिए 'बॉडी-गार्ड' यानी देह-रक्षक रखते हैं। गांधीजी ने ऐसे देह-रक्षक कभी नहीं रखे। देह को वह तुच्छ समझते थे। मृत्यु के पहले ही वह मरकर रहे थे। निर्भयता उनका व्रत था। जहां किसी फौज को भी जाने की हिम्मत न हो, वहां अकेले जाने की उनकी तैयारी थी।

जो सत्य है, लोगों के हित का है, वही कहना चाहिए, भले ही किसीको अच्छा लगे, बुरा लगे, या उसका परिणाम कुछ भी निकले, ऐसी उनकी वृत्ति थी। वह कहते थे, "मृत्यु से डरने का कोई कारण ही नहीं है; क्योंकि हम सब ईश्वर के ही हाथ में हैं। हमसे जब तक वह सेवा लेना चाहता है तबतक लेगा और जिस क्षण वह उठा लेना चाहेगा, उस क्षण उठा लेगा। इसलिए जो सत्य लगता है, वही कहना हमारा धर्म है। ऐसे समय यदि मैं शायद अकेला भी पड़ जाऊं और सारी दुनिया मेरे खिलाफ हो जाय तो भी मुझे जो सत्य दिखाई देता है, वही मुझे कहना चाहिए।" उनकी इस तरह की निर्भीकतापूर्ण वृत्ति रही। और उनकी मृत्यु भी किस अवस्था में हुई! वह प्रार्थना की तैयारी में थे। यानी उस समय उनके चित्त में भगवान् के सिवा दूसरा विचार नहीं था। उनका सारा जीवन ही आपने सेवामय तथा परोपकारमय देखा है; परन्तु फिर भी प्रार्थना की भावना और प्रार्थना का समय विशेष पवित्र कहना चाहिए। राजनैतिक आदि अनेक महत्व के कामों में वह रहते थे, लेकिन उनका प्रार्थना का समय नहीं टला। ऐसे प्रार्थना के समय ही देह में से मुक्त होने के लिए मानो भगवान ने आदमी भेजा। अपना

काम करते हुए मृत्यु हुई, इस विषय का उनके दिल का आनंद और निमित्त मात्र बने हुए गुनहगार के प्रति दयाभाव, इस तरह का दोहरा भाव उनके चेहरे पर मृत्यु के समय था, ऐसा सरदारजी को दिखाई दिया।

गांधीजी ने उपवास छोड़ा, उस समय देश में शांति रखने का जिन्होंने वचन दिया उनमें कांग्रेस, मुसलमान, सिख, हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयं सेवक-दल आदि सब थे। हम प्रेम के साथ रहेंगे, ऐसा उन्होंने वचन दिया और लोग उस तरह रहने भी लगे थे कि एक दिन प्रार्थना-सभा में गांधीजी को लक्ष्य करके किसीने बम फेंका। वह उन्हें लगा नहीं। उस दिन प्रार्थना में गांधीजी ने कहा, "मैं देश की और धर्म की सेवा भगवान की प्रेरणा से करता हूं। जिस दिन, मैं चला जाऊं, ऐसी उसकी मर्जी होगी उस दिन वह मुझे ले जायगा। इसलिए मृत्यु के विषय में मुझे कुछ भी विशेष नहीं मालूम होता है।" दूसरा प्रयोग कल हुआ। भगवान् ने गांधीजी को मुक्त किया।

हम सब देह छोड़कर जानेवाले हैं। इसलिए मृत्यु के विषय में तनिक भी दुःख मानने का कारण नहीं है। माता की अपने दो-चार बच्चों के विषय में जो वृत्ति रहती है, वह दुनिया के सब लोगों के विषय में गांधीजी की थी। हिंदू, हरिजन, मुसलमान, ईसाई और जिन राज्यकर्त्ताओं से लड़े वे अंग्रेज, इन सबके प्रति उनके दिल में प्रेम था। सज्जनों पर जिस तरह प्रेम करते हैं वैसे दुर्जनों पर भी करो, शत्रु को प्रेम से जीतो, ऐसा मंत्र उन्होंने दिया। उन्होंने ही हमें सत्याग्रह सिखाया। खुद आपत्तियां झेलकर सामनेवालों को जरा भी खतरा न पहुंचे, यह शिक्षा उन्होंने हमें दी। ऐसा पुरुष देह छोड़कर जाता है तब वह रोने का प्रसंग नहीं होता। मां हमें छोड़कर जाती है, उस समय जैसा लगता है वैसा गांधीजी के मरने से लगेगा जरूर; लेकिन उससे हममें उदासी नहीं आनी चाहिए।

एकनाथ महाराज ने भागवत में कहा है, "मरनेवाले गुरु का और रोनेवाले चेले का—दोनों का बोध व्यर्थ गया।" एक मृत्यु से डरनेवाला गुरु मृत्यु के समय कहने लगा, "अरे, मैं मरता हूं।" तब उसके शिष्य भी रोने लगे। इस तरह गुरु मरनेवाला और चेला रोनेवाला दोनों ने ही जो बोध (ज्ञान) प्राप्त किया था, वह फिजल गया, ऐसा एकनाथ महाराज ने कहा है।

गांधीजी मृत्यु से डरनेवाले गुरू नहीं थे। जिस सेवामें निष्काम भावना से देह लगाई जाय, वह सेवा ही भगवान् की सेवा है। वह करते हुए जिस दिन वह बुलायेगा उस दिन जाने के लिए तैयार रहें, ऐसी सिखावन उन्होंने हमें दी। तदनुसार ही उनकी मृत्यु हुई। इसलिए यह उत्तम अंत हुआ, ऐसा हम पहचान लें और काम करने लग जायं।

कुछ दिन पहले ही आश्रम के कुछ भाई गांधीजी से मिलने गये थे। उस समय उनका उपवास जारी था। उपवास में वह जिंदा रहेंगे या मर जायंगे, इसका किसको पता था? आश्रम के भाइयों ने उनसे पूछा, "आप यदि इस उपवास में चल बसे तो हम कौन-सा काम करें?" गांधीजी ने जवाब दिया, "इस तरह का सवाल ही आपके सामने कैसे खड़ा हुआ? मैंने तो आपके लिए काफी काम रखा है। हिन्दुस्तान में खादी करनी है। खादी का शास्त्र बनाना है। इतना बड़ा काम आपके लिए होते हुए भी 'क्या करें?' ऐसी चिंता क्यों होती है?"

इसलिए हमारे लिए उन्होंने जो काम रख छोड़ा, वह हमें पूरा करना चाहिए। असंख्य जातियां और जमातें मिलकर हम यहां एक साथ रहते हैं। चालीस करोड़ का अपना देश है, यह हमारा बड़ा भाग्य है; लेकिन एक-दूसरे से प्रेम करते हुए रहेंगे, तभी वह होगा। इतना बड़ा देश होने का भाग्य शायद ही मिलता है। हमारे देश में अनेक धर्म हैं, अनेक पंथ हैं। मैं तो, यह हमारा वैभव है, यह समझता हूं। लेकिन हम सब प्रेम के साथ रहेंगे तभी यह वैभव सिद्ध होगा। हम प्रेम से रहें, यही गांधीजी ने अपने अंतिम उपवास से हमें सिखलाया है। बच्चे एक-दूसरे के साथ प्रेम से रहें, इसलिए जिस तरह माता भोजन छोड़ देती है, वैसा ही उनका वह उपवास था। सारे मनुष्य एकसे हैं, यह उन्होंने हमें सिखाया। हरिजन-सेवा, खादी-सेवा, ग्राम-सेवा, भंगियों की सेवा आदि अनेक सेवा-कार्य हमारे लिए वह छोड़ गये हैं।

अब इस समय मैं अधिक कहना नहीं चाहता हूं। सबके दिल एक विशेष भावना से भरे हुए हैं। लेकिन मुझे कहना यह है कि केवल शोक करते न बैठें। हमारे सामने जो काम पड़ा है, उसमें लग जायं। यह जो मैं आपको कह रहा हूं वैसा ही आप मुझे भी कहें। इस तरह एक-दूसरे को बोध

देते हुए हम सब गांधीजी के बताये काम करने लग जायं। गीता में और कुरान में कहा है कि भक्त और सज्जन एक-दूसरे को बोध देते हैं और एक-दूसरे पर प्रेम करते हैं। वैसा हम करें। आज तक बच्चों की तरह हम कभी-कभी झगड़ते भी थे। हमें वे सम्भाल लेते थे। वैसा सबको सम्भालनेवाला अब नहीं रहा है। इसलिए एक-दूसरों को बोध देते हुए और एक-दूसरेपर प्रेम करते हुए हम सब मिलकर गांधीजी की सिखावन पर चलें।

: १५ :
सर्वोदय की विचार-सरणी

एक साल पहले इसी दिन और ठीक इसी समय वह घटना घटी कि जिसके कारण हम सबको हमेशा के लिए शर्मिंदा होना पड़ेगा। लेकिन वह घटना ऐसी भी है कि जिससे हमें चिरंतन प्रकाश मिल सकता है। उस घटना ने हमें देह और आत्मा का पृथक्करण अच्छी तरह सिखा दिया है। मुझसे बहुत लोगों ने पूछा कि गांधीजी ईश्वर के निःसीम उपासक थे तो ईश्वर ने उनकी रक्षा क्यों नहीं की ? ईश्वर ने उनकी जो रक्षा की, उससे अधिक रक्षा और हो भी क्या सकती थी ? देहासक्ति के कारण हम उसे न पहचानें, यह दूसरी बात है। मुझे यहां कुरान का एक वचन याद आता है, जिसमें कहा गया है कि जो ईश्वर की राह पर चलते हुए कतल किये जाते हैं, मत समझो कि वे मरे हैं। वे तो जिंदा हैं, यद्यपि तुम देखते नहीं।

"सा तकूलु लि मंय् युक्तल
फी सबीलिल्लाहि अम्वात्, बल् अहयाऊं
वलाकिल् ला तश् उरून।"

ईश्वर की राह पर चलते हुए मरना भी जिंदगी है और शैतान की राह-पर जिंदा रहना भी मौत है। गांधीजी ने ईश्वर की राह पर, सचाई और भलाई की राह पर, चलने की निरंतर कोशिश की, उसीकी हिदायत वह

लोगों को देते रहे, उसीके लिए वह कतल किये गए। धन्य है उनका जीवन और धन्य है उनकी मृत्यु !

भलाई की राह पर चलने की शिक्षा अनेक सत्पुरुषों ने दी है; लेकिन मानव को अभी पूरा यकीन नहीं हुआ है कि भलाई से भला होता ही है। वह अभीतक प्रयोग कर रहा है। देखता है कि क्या बुराई बोने से भी भला नहीं उग सकता ? बबूल बोने से आम और आम बोने से बबूल उगेगा, ऐसी शंका तो उसके मन में नहीं आती है। शायद पहले के जमाने में यह शंका भी उसको रही होगी, लेकिन अब तो भौतिक सृष्टि में 'यथा बीज तथा फल'-वाला न्याय उसको जंच गया है, फिर भी नैतिक सृष्टि में उस न्याय के विषय में उसे शंका है। साधारण तौर पर भलाई से भला होता है, यह उसने पाया है। लेकिन खालिस भलाई लाभदायी हो सकती है, ऐसा निर्णय अभी उसके पास नहीं है।

दूसरे कुछ लोगों को खालिस भलाई मंजूर है, लेकिन निजी जीवन में, व्यक्तिगत जीवन में शुद्ध नीति बरतनी चाहिए, उससे मोक्ष तक पा सकते हैं; लेकिन सामाजिक जीवन में भलाई के साथ बुराई का कुछ मिश्रण किये बिना नहीं चलेगा, ऐसा उनका खयाल है। सत्य और असत्य के मिश्रण पर दुनिया टिकती है, ऐसा यह विचार है। गांधीजी ने इसको कभी नहीं माना और सत्य, अहिंसा आदि मूलभूत सिद्धांतों का अमल सामाजिक तौर पर हमसे करवाया, जिसके फलस्वरूप एक किस्म का स्वराज्य भी हमने पाया है। जिस योग्यता का हमारा अमल था, उस योग्यता का हमारा यह स्वराज्य है। उसके लिए वे सिद्धांततः जिम्मेदार नहीं हैं, हमारा अमल जिम्मेदार है। एक त्रिकोण में जो सिद्धांत साबित होता है, वह सब त्रिकोणों को लागू होता है। व्यक्ति के लिए अगर शुद्ध नीति कल्याणकारी है तो समाज के लिए भी वह वैसी ही कल्याणकारी होनी चाहिए।

कुछ लोगों का खयाल है कि सत्य की कसौटीपर अपने उद्देश्यों को कस लें तो बस है। फिर साधन कैसे भी हों, चल जायंगे। लेकिन गांधीजी ने इस विचार का हमेशा विरोध किया है। उन्होंने तो यहां तक कह दिया था कि मैं सत्य के लिए स्वराज्य भी छोड़ने को तैयार होऊंगा। मतलब उनका यह नहीं था कि वह स्वराज्य नहीं चाहते थे, या उसकी कीमत कम समझते थे।

वह तो साधन-शुद्धि का महत्व करना चाहते थे। स्वराज्य के लिए वह जिंदगी भर लड़े। लेकिन वह कहते थे कि स्वराज्य तो सत्यमय साधनों से ही मिल सकता है। शुद्ध साधनों से प्राप्त किया हुआ स्वराज्य ही सच्चा स्वराज्य होगा। साधक को साध्य की अपेक्षा साधन के बारे में ही अधिक सोचना चाहिए। साधन की जहां पराकाष्ठा होती है, वहीं साध्य का दर्शन होता है। इसलिए साध्य लौर साधना का भेद भी काल्पनिक है। साधनों से साध्य हासिल होता है, इतना ही नहीं, बल्कि उसका रूप भी साधनों पर निर्भर रहता है। वैसे, हरेक को अपना उद्देश्य या मकसद अच्छा ही लगता है। इसलिए अच्छे मकसद का दावा कोई खास कीमत नहीं रखता। साध्य-साधनों में विसंगति नहीं होनी चाहिए, यह विचार वैसे नया नहीं है; लेकिन उसका प्रयोग जिस बड़े पैमाने पर गांधीजी ने हिंदुस्तान में किया, वह बेमिसाल है।

दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि सचाई और भलाई का आग्रह तो अच्छा है, लेकिन हर हालत में क्रियाशील रहने का महत्व अधिक है। अगर भलाई रखने के प्रयत्न में क्रियाशीलता में बाधा आती है तो भलाई का आग्रह कुछ ढीला करके, या उस आदर्श से कुछ नीचे उतरकर, क्रियाशील रहना चाहिए, निष्क्रिय हरगिज नहीं बनना चाहिए। मैं मानता हूं कि यह भी एक मोह है। जेल में सब लोगों को अधिक दिन तक रहना पड़ता था तो उसको 'जेल में सड़ना' नाम दिया जाता था। तब गांधीजी समझाते थे कि शुद्ध पुरुष की निष्क्रियता में भी महान् शक्ति होती है। गीता ने अपनी अनुपम भाषा में इसी को अकर्म में कर्म कहा है। क्रियाशीलता निःसंशय महान् है। लेकिन सचाई और भलाई उससे भी बढ़कर है। विशेष परिस्थिति में निष्क्रिय भी रह सकते हैं; लेकिन सचाई को कभी छोड़ नहीं सकते।

कुछ लोग जो, अपने को व्यवहारवादी कहते हैं, सचाई पसंद करते हैं; लेकिन एकपक्षी सचाई में खतरा देखते हैं। कहते हैं कि सामनेवाला अगर असत्य का उपयोग करता है, हिंसा करता है, तो हम ही सत्य और अहिंसा पर डटे रहेंगे तो हमारा नुकसान होगा। ये लोग वास्तव में सचाई का मूल्य ही नहीं जानते। अगर जानते होते तो ऐसी दलील नहीं करते। हमारे प्रतिपक्षी भूखे रहते हैं तो हम ही क्यों खायं, ऐसी दलील वे नहीं करते

हैं। जानते हैं कि जो खायगा, वह ताकत पायगा। इसका प्रतिपक्ष से कोई संबंध नहीं है। एकपक्षी खाना तो मंजूर है; लेकिन एकपक्षी सचाई, प्रीति, मंजूर नहीं है। इसका क्या अर्थ है ? सामनेवाला जैसा होगा वैसे हम बनेंगे, इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसा हमें नचायेगा वैसे हम नाचेंगे। यह पुरुषार्थहीन विचार है और उससे एक दुष्ट चक्र तैयार होता है। दुर्जनता का एक सिलसिला जारी है। उसको तोड़ना है तो हिम्मत करनी चाहिए और निष्ठापूर्वक, परिणाम का हिसाब लगाये बगैर, प्रेम करना चाहिए, उदारता रखनी चाहिए। आखिर सत्य, प्रेम और सज्जनता ही भाव रूप चीजें हैं। असत्यादि अभाव रूप हैं। प्रकाश और अंधकार का यह झगड़ा है, उसमें प्रकाश को डर कैसा ?

यह है सत्याग्रह की विचार-सरणी, जैसा कि मैं समझता हूं। इसीमें सबका भला है, इसलिए इसको सर्वोदय की विचार-सरणी भी कहते हैं। गांधीजी की हत्या हमारे लिए एक चुनौती है। अगर सचाई में हमारी परम निष्ठा है, उसका अमल हमारे निजी और सामाजिक जीवन में करने की वृत्ति हम रखते हैं, तभी इस चुनौती को हम स्वीकार कर सकते हैं, नहीं तो हम उस चुनौती को स्वीकार कर नहीं सकते। इतना ही नहीं, बल्कि इच्छा न रखते हुए हम उस हत्याकारी के पक्ष में ही दाखिल हो जाते हैं।

मैं आशा करता हूं कि गांधीजी की देहमुक्ति हममें शक्ति-संचार करेगी और हम सत्यनिष्ठ जीवन जीकर सर्वोदय की तैयारी के अधिकारी बनेंगे।

: १६ :

सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की

बीस बरस से मैंने कुछ किया है तो सार्वजनिक काम ही किया है। जब विद्यार्थी-अवस्था में था तब भी मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक सेवा की ही थी। यों

कह सकते हैं कि जीवन में मैंने सिवा सार्वजनिक सेवा के न कुछ किया है, न करनेकी इच्छा ही है। पर मेरा आशय है कि जिस प्रकार सार्वजनिक सेवा और लोगों ने की है वैसी मैंने नहीं की। सवेरे एक भाई ने मुझसे पूछा, "आप कांग्रेस में नहीं जायंगे क्या ?" मैंने कहा, "मैं तो कांग्रेस में कभी नहीं गया।" सेवा की मेरी पद्धति और प्रवृत्ति कांग्रेस में जाना और वहां बहस करना नहीं रही है। इसका महत्त्व मैं जानता हूं सही, पर यह मेरे लिए नहीं है। मैं कांग्रेस की प्रवृत्तियों से अनभिज्ञ नहीं हूं। विचार करनेवाले भाई तो बहुत हैं। मैं तो उन लोगों में हूं, जो मूक-सेवा करना चाहते हैं। फिर भी मेरी सेवा उतनी मूक नहीं हो सकी, जितनी कि मैं चाहता हूं। सेवा का मेरा उद्देश्य भक्ति-भाव है। भक्ति-भाव से ही मैं सेवा करता हूं और बीस साल से प्रत्यक्ष सेवा कर रहा हूं। प्रचार अभी तक न किया है और न आगे करने की संभावना ही है।

मैंने एक सूत्र-सा बना लिया है, "सेवा व्यक्ति की, भक्ति समाज की।" व्यक्ति की भक्ति में आसक्ति बढ़ती है, इसलिए भक्ति समाज की करनी चाहिए। सेवा समाज की करना चाहें तो कुछ भी नहीं कर सकते। समाज तो एक कल्पनामात्र है। कल्पना की हम सेवा नहीं कर सकते। माता की सेवा करनेवाला लड़का दुनियाभर की सेवा करता है, यह मेरी धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तु की ही हो सकती है, अप्रत्यक्ष वस्तु की नहीं। समाज अप्रत्यक्ष, अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है। सेवा तो वह है, जो परमात्मा तक पहुंचे। आजकल सेवा की कुछ अनोखी-सी पद्धति देखने में आती है। सेवा के लिए हम विशाल क्षेत्र चाहते हैं। पर अगर असली सेवा करनी है, सेवामय बन जाना है, अपनेको सेवा में खपा देना है, तो किसी देहात में चले जाइये। मुझसे एक भाई ने कहा, "बुद्धिशाली लोगों से आप कहते हैं कि देहात में चले जाइये। विशाल बुद्धि के विस्तार के लिए उतना लंबा-चौड़ा क्षेत्र वहां कहां है ?" मैंने कहा, "ऊंचाई तो है, अनंत आकाश तो है ? वह लंबा सफर नहीं कर सकता। पर ऊंचा सफर तो कर सकता है, गहरा तो जा सकता है ?" संत इतने ऊंचे चढ़ते थे कि उसका कोई हिसाब नहीं मिलता। कोई बड़े-से-बड़े विज्ञानवेत्ता भी आकाश की ऊंचाई मालूम नहीं कर सकता। देहात में हम लंबा-चौड़ा नहीं, पर ऊंचा सफर कर सकते हैं। वहां ऊंचे-से-

ऊंचे चढ़ने का अवसर है। ऊंची या गहरी सेवा वहां खूब हो सकती है। हमारी वह एकाग्र सेवा प्रथम श्रेणीकी सेवा हो जायगी और फलदायक भी होगी।

राष्ट्र के सारे प्रश्न देहात के व्यवहार में आ जाते हैं। जितना समाज-शास्त्र राष्ट्र में है, उतना एक कुटुंब में भी आ सकता है, देहात में तो है ही। समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए गांव में काफी गुंजाइश है। मैं तो इस विश्वास को बुद्धि का अभाव ही मानूंगा कि प्रौढ़ विवाह प्रचलित होने से भारतवर्ष सुधर गया और बाल-विवाह से बिगड़ गया था। प्रौढ़-विवाह में भी अक्सर वैवाहिक आनंद देखने में नहीं आता और बाल-विवाह के भी ऐसे उदाहरण देखे गये हैं, जिन में पति-पत्नी सुख-शांति से रहते हैं। विवाह-संस्था में संयम की पवित्र भावना कैसे आये, यह मसला हमने हल कर लिया तो सब कुछ कर लिया। विवाह का उद्देश्य ही यह है। इसी प्रकार हिंदुस्तान की राजनीति का नमूना भी देहात में पूरा-पूरा मिल जाता है। एक देहात की भी जनता को हमने आत्म-निर्भर कर दिया तो बहुत बड़ा काम कर दिया। वहां के अर्थ-शास्त्र को कुछ व्यवस्थित कर दिया तो बहुत-कुछ हो गया। मुझे आशा है कि देहाती भाई-बहनों के बीच में रहकर आप उनके साथ एकरस हो जायंगे। हां, वहां जाकर हमें उनके साथ दरिद्रनारायण बनना है, पर 'बेवकूफ-नारायण' नहीं। अपनी बुद्धि का उनके लिए उपयोग करना है, निरहंकार बनना हैं। हम यह न समझें कि वे सब निरे बेवकूफ ही होते हैं। भारत के देहातों-का अनुभव और देशों की तरह चंद सदियों का नहीं, कम-से-कम बीस हजार वर्षका है। वहां जो अनुभव है, उससे हमें लाभ उठाना है। ज्ञान-भंडार की तरह द्रव्य-भंडार भी वहीं से पैदा करना है और पूरी तरह से निरहंकार बन-कर उसमें प्रवेश करना है।

एक प्रश्न यह है कि सवर्ण हिंदू समझते हैं कि ये सुधारक तो गांव को बिगाड़ रहे हैं, सवर्णों के साथ हमारा उतना संबंध नहीं, जितना कि हरि-जनों के साथ है। सवर्णों को अपनी प्रवृत्ति की ओर खींचने और उनकी शंका दूर करने के विषय में सोचा क्या गया है ?

अस्पृश्यता-निवारण का काम हमें दो प्रकार से करना है। एक तो हरि-जनों की आर्थिक अवस्था और उनकी मनोवृत्ति में सुधार करके और दूसरे

हिन्दू-धर्म की शुद्धि करके, अर्थात् उसको उसके असली रूप में लाकर। अस्पृश्यता माननेवाले सब दुर्जन हैं, यह हम न मानें। वे अज्ञान में हैं, ऐसा मान सकते हैं। वे दुर्जन या दुष्ट बुद्धि नहीं हैं, यह तो उनके विचारकों की संकीर्णता है। प्लेटो ने कहा था, "सिवा ग्रीक लोगों के मेरे ग्रन्थों का अध्ययन और कोई न करे।" इसका यह अर्थ हुआ कि ग्रीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मनुष्य की आत्मा व्यापक है, पर व्यापकता उसमें रह ही जाती है। आखिर मनुष्य की आत्मा एक देह के अन्दर बसी हुई है। इसलिए सनातनियों के प्रति खूब प्रेमभाव होना चाहिए। हमें उनका विरोध नहीं करना चाहिए। हम तो वहां बैठकर चुपचाप सेवा करें। हरिजनों के साथ-साथ जहां जब अवसर मिले, सवर्णों की भी सेवा करें। एक भाई हरिजनों का स्पर्श नहीं करता, पर वह दयालु है। हम उसके पास जायं, उसकी दयालुता का लाभ उठायें। उसकी मर्यादा को समझकर उससे बात करें। थोड़े दिन में उसका हृदय शुद्ध हो जायगा, उसके अंतर का अंधकार दूर हो जायगा। सूर्य की तरह हमारी सेवा का प्रकाश स्वतः पहुंच जायगा। हमारे प्रकाश में हमारा विश्वास होना चाहिए। प्रकाश और अंधकार की लड़ाई तो एक क्षण में ही खत्म हो जाती है। लेकिन तरीका हमारा अहिंसा का हो, प्रेम का हो। मेरी मर्यादा यह है कि मैं दरवाजा ढकेलकर अन्दर नहीं चला जाऊंगा। मैं तो सूर्य की किरणों का अनुकरण करूंगा। दीवार में, छप्पर में या किवाड़ में कहीं जरा-सा भी छिद्र होता है तो किरणें चुपचाप अन्दर चली जाती हैं। यही दृष्टि हमें रखनी चाहिए। हम में जो विचार है, वह प्रकाश है, यह मानना चाहिए। किसी गुफा का एक लाख वर्ष का भी अन्धकार एक क्षण में ही प्रकाश से दूर हो जायगा। लेकिन यह होगा अहिंसा के ही तरीके से। सनातनियों को गालियां देना तो अहिंसा का तरीका नहीं है। हमें मुंह से खब तौल-तौलकर शब्द निकालने चाहिए। हमारी वाणी की कटुता यदि चली गई तो उनका हृदय पलट जायगा। ऐसी लड़ाई आज की नहीं, बहुत पुरानी है। संतों का जीवन अपने विरोधियों के साथ झगड़ने में ही बीता। पर उनके झगड़ने का तरीका प्रेम का था। जिस भगवान् ने हमें बुद्धि दी है, उसीने हमारे प्रतिपक्षियों को भी दी है। आज से पन्द्रह-बीस वर्ष पहले हम भी तो उन्हीं की तरह अस्पृश्यता मानते थे। हमारे संतों ने तो आत्मविश्वास के

साथ काम किया है। वाद-विवाद में पड़ना हमारा काम नहीं। हम तो सेवा करते-करते ही खत्म हो जायं। हमारे प्रचार-कार्य का सेवा ही विशेष साधन है। दूसरों के दोष बताने और अपने विचार सामने रखने का मोह हमें छोड़ देना चाहिए। मां अपने बच्चे के दोष थोड़े ही बताती है, वह तो उसके ऊपर प्रेम की वर्षा करती है, उसके बाद फिर कहीं दोष बतलाती है। असर ऐसी ही प्रेममयी सेवा का होता है।

...　　　　...　　　　...

जब हम सेवा करने का उद्देश्य लेकर देहात में जाते हैं तब हमें यह नहीं सूझता कि कार्य का आरंभ किस प्रकार करना चाहिए। हम शहरों में रहने के आदी हो गये हैं। देहात की सेवा करने की इच्छा ही हमारा मूलधन—हमारी पूंजी—होती है। अब सवाल यह खड़ा हो जाता है कि इतनी थोड़ी पूंजी से व्यापार किस तरह शुरू करें। मेरी सलाह तो यह है कि हमें देहात में जाकर व्यक्तियों की सेवा करने की तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए, न कि सारे समाज की तरफ। सारे समाज के समीप पहुंचना संभव ही नहीं है। रणभूमि में लड़नेवाले सिपाही से अगर हम पूछें कि किसके साथ लड़ना है तो वह कहेगा, "शत्रु के साथ।" लेकिन लड़ते समय वह अपना निशाना किसी एक ही व्यक्ति पर लगाता है। ठीक इसी प्रकार हमें भी सेवा-कार्य करना होगा। समाज अव्यक्त है, परन्तु व्यक्ति व्यक्त और स्पष्ट है। उसकी सेवा हम कर सकते हैं। डाक्टर के पास जितने रोगी जाते हैं, उन सबको वह दवा देता है, मगर हरेक रोगी का वह खयाल नहीं रखता। प्रोफेसर सारे क्लास को पढ़ाता है, पर हरेक विद्यार्थी का वह ध्यान नहीं रखता। ऐसी सेवा से बहुत लाभ नहीं हो सकता। यह डाक्टर जब कुछ रोगियों के व्यक्तिगत सम्पर्क में आयेगा, या प्रोफेसर जब कुछ चुने हुए विद्यार्थियों पर ही विशेष ध्यान देगा, तभी वास्तविक लाभ हो सकेगा। हां, इतना खयाल हमें जरूर रखना होगा कि व्यक्तियों की सेवा करने में अन्य व्यक्तियों की हिंसा, नाश व हानि न हो। देहात में जाकर इस तरह अगर कोई कार्यकर्ता सिर्फ पच्चीस व्यक्तियों की ही सेवा कर सका तो समझना चाहिए कि उसने काफी काम कर लिया। ग्राम-जीवन में प्रवेश करने का यही सुलभ तथा सफल मार्ग है। मैं यह अनुभव कर रहा हूं कि जिन्होंने मेरी व्यक्तिगत सेवा की है, उन्होंने मेरे जीवन-

पर अधिक प्रभाव डाला है। बापूजी के लेख मुझे कम ही याद आते हैं; लेकिन उनके हाथ का परोसा हुआ भोजन मुझे सदा याद आता है। और मैं मानता हूं कि उससे मेरे जीवन में बहुत परिवर्तन हुआ है। यह है व्यक्तिगत सेवा का प्रभाव। व्यक्तियों की सेवा में समाज-सेवा का निषेध नहीं है। समाज गीता की भाषा में अनिर्देश्य है, निर्गुण है और व्यक्ति सगुण और साकार, अतः व्यक्ति की सेवा करना आसान है।

: १७ :

ग्राम-सेवा और ग्राम-धर्म

हमें देहातियों के सामने ग्राम-सेवा की कल्पना रखनी चाहिए, न कि राष्ट्र-धर्म की। उनके सामने राष्ट्र-धर्म की बातें करने से लाभ न होगा। ग्राम-धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सहज है, उतना राष्ट्र-धर्म नहीं। इसलिए हमें उनके सामने ग्राम-धर्म ही रखना चाहिए, राष्ट्र-धर्म नहीं। ग्राम-धर्म सगुण, साकार और प्रत्यक्ष होता है; राष्ट्र-धर्म निर्गुण, निराकार और परोक्ष होता है। बच्चे के लिए त्याग करना मां को सिखाना नहीं पड़ता। आपस के झगड़े मिटाना, गांव की सफाई तथा स्वास्थ्य का ध्यान रखना, आयात-निर्यात की वस्तुओं और ग्राम के पुराने उद्योगों की जांच करना, नये उद्योग खोज निकालना, इत्यादि गांव के जीवन-व्यवहार से संबंध रखनेवाली हरेक बात ग्राम-धर्म में आ जाती है। पुरानी पंचायत-पद्धति नष्ट हो जाने से देहात की बड़ी हानि हुई है। झगड़े निबटाने में पंचायत का बहुत उपयोग होता था। असेम्बली के चुनाव से हमें यह अनुभव हुआ है कि देहातियों को राष्ट्र-धर्म समझाना कितना कठिन है। सरदार वल्लभभाई और पंडित मालवीयजी के बीच मतभेद हो गया, अब इसमें बेचारा देहाती समझे तो क्या समझे। उसके मन में दोनों ही नेता समान रूप से पूज्य हैं। वह किसे माने और किसे छोड़े? इसलिए ग्राम-सेवा में हमें ग्राम-धर्म ही अपने सामने रखना चाहिए। वैदिक ऋषियों की भांति हमारी भी प्रार्थना यही

होनी चाहिए कि "ग्रामेऽस्मिन अनातुरम्"—हमारे ग्राम में बीमारी न हो।

अगली बात जो मैं कहना चाहता हूं वह है, सेवक के रहन-सहन के संबंध की। सेवक की आवश्यकताएं देहातियों से कुछ अधिक होने पर भी वह ग्राम-सेवा कर सकता है। लेकिन उसकी वे आवश्यकताएं विजातीय नहीं, सजातीय होनी चाहिए। किसी सेवक को दूध की आवश्यकता है, दूध के बिना उसका काम नहीं चल सकता, और देहातियों को तो घी-दूध आजकल नसीब नहीं होता, तो भी देहात में रहकर वह दूध ले सकता है; क्योंकि दूध सजातीय अर्थात् देहात में पैदा होनेवाली चीज है। किंतु सुगंधित साबुन देहात में पैदा होनेवाली चीज नहीं है। इसलिए साबुन को विजातीय आवश्यकता समझना चाहिए और सेवक को उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। कपड़े साफ रखने की बात लीजिये। देहाती लोग अपने कपड़े मैले रखते हैं, लेकिन सेवक को तो उन्हें कपड़े साफ रखने के लिए समझाना चाहिए। इसके लिए बाहर से साबुन मंगाना और उसका प्रचार करना मैं ठीक नहीं समझता। देहात में कपड़े साफ रखने के लिए जो साधन उपलब्ध हैं या हो सकते हैं, उन्हींका उपयोग करके कपड़े साफ रखना और लोगों को उसके विषय में समझाना सेवक का धर्म हो जाता है। देहात में उपलब्ध होनेवाले साधनों से ही जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी चाहिए। सजातीय वस्तु का उपयोग करने में भी सेवक को विवेक और संयम की आवश्यकता तो रहती ही है। अखबार का शौक देहात में पूरा न हो सकेगा।

खादी-प्रचार के कार्य में अभीतक चरखे का ही उपयोग हुआ है। एक लाख के इनामवाले चरखे की अभी खोज हो रही है। मैं उसे एक लाख का चरखा कहता हूं। लेकिन मेरे पास तो एक सवा लाख का चरखा है और वह है तकली। मैं सचमुच ही उसे सवा लाख का चरखा मानता हूं। खादी-उत्पत्ति के लिए चरखा उत्तम है, लेकिन सार्वजनिक वस्त्र-स्वावलंबन के लिए तकली ही उपयुक्त है। नदी का पाट चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह वर्षा का काम नहीं दे सकता। नदी का उपयोग तो नदी के तटपर रहनेवाले ही कर सकते हैं, पर वर्षा सबके लिए है। तकली वर्षा के समान है। जहां

कहीं वह चलेगी वहां वस्त्र-स्वावलंबन का कार्य अच्छी तरह चलेगा। मुझसे बिहार के एक भाई कहते थे कि वहां मजदूरी के लिए भी तकली का उपयोग हो रहा है। तकली पर कातनेवालों को वहां हफ्ते में तीन-चार पैसे मिल जाते हैं, लेकिन उनके कातनेकी जो गति है, वह तीन या चार गुनातक बढ़ सकती है। गति बढ़ाने से मजदूरी भी तीन या चार-पांच गुनातक मिल सकेगी। यह कोई मामूली बात नहीं है। हमारे देशमें एक व्यक्ति को चौदह-पन्द्रह गज कपड़ा चाहिए। इसके लिए प्रतिदिन सिर्फ एकसौ तार कातनेकी जरूरत है। यह काम तकलीपर आध घंटेमें हो सकता है। चरखा बिगड़ता भी रहता है, पर तकली तो हमेशा आपकी सेवा में हाजिर रहती है। इसीलिए मैं उसे सवा लाखका चरखा मानता हूं।

देहात में सफाई का काम करनेवाले सेवक कहते हैं कि कई दिन तक यह काम करते रहने पर भी देहाती लोग हमारा साथ नहीं देते। यह शिकायत ठीक नहीं। स्व-धर्म समझकर ही अगर हम वह काम करेंगे तो अकेले रह जाने पर भी हमें उसका दुःख न होगा। सूर्य अकेला ही होता है न? यह मेरा काम है। दूसरे करें या ना करें, मुझे तो अपना काम करना ही चाहिए— यह समझकर जो सेवक कार्यारंभ करेगा, उसको सिंहावलोकन करने की यानी यह देखने की कि मेरे पीछे मदद के लिए कोई और है या नहीं, आवश्यकता ही न रहेगी। सफाई-संबंधी सेवा है ही ऐसी चीज कि वह व्यक्तियों की अपेक्षा समाज की ही अधिकतया होगी और होनी चाहिए। परंतु सेवक की दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते, इसलिए उसे पूरा करना उसका कर्तव्य हो जाता है। उसमें सेवक का स्वार्थ भी है; क्योंकि मार्ग की गंदगी का असर उसके स्वास्थ्य पर भी अवश्य पड़ता है।

औषधि-वितरण में एक बात का हमेशा खयाल रखना चाहिए कि हम अपने कार्य से देहातियों को पंगु तो नहीं बना रहे हैं। उनको तो स्वावलंबी बनाना है। उनको स्वाभाविक तथा संयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिए। रोग की दवाइयां देने की अपेक्षा हमें ऐसा जतन करना चाहिए कि रोग होने ही न पावे। यह काम देहातियों को अच्छी और स्वच्छ आदतें सिखाने से ही हो सकता है।

: १८ :

ग्राम-लक्ष्मी की उपासना

हमारा यह देश बहुत बड़ा है। इसमें सात लाख देहात हैं। हमारे देश में शहर बहुत थोड़े हैं। अगर औसत निकाला जाय तो दस में एक आदमी शहर में रहता है और नौ देहात में रहते हैं। पैंतीस करोड़ लोगों में से ज्यादा से-ज्यादा चार करोड़ शहर में रहते हैं। इकतीस करोड़ देहात में रहते हैं। लेकिन इन इकतीस करोड़ का ध्यान शहरों की तरफ लगा रहता है। पहले ऐसा नहीं था। देहात मुहताज होकर शहरों का मुंह नहीं ताकते थे। लेकिन आज सारी स्थिति बदल गई है।

आज किसान के दो ईश्वर हो गये हैं। आजतक एक ही ईश्वर था। किसान आकाश की तरफ देखता था—पानी बरसानेवाले ईश्वर की तरफ देखता था। लेकिन आज चीजों के भाव ठहरानेवाले देवता की तरफ देखना पड़ता है। इसीको आस्मानी-सुलतानी कहते हैं। आसमान भी रक्षा करे और सुलतान भी हिफाजत करे। परमात्मा खूब फसल दे और शहर भरपूर भाव दे। इस तरह इन देवताओं को—एक आकाश का और दूसरा अमरीका का—किसान को पूजना पड़ता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान काम नहीं आयंगे। गांधी कहते हैं, ऊपरवाले ईश्वर को बनाये रखो और इस दूसरे देवता को छोड़ो। एक ईश्वर बस है।

अब इस दूसरे देवता की, याने शहरिये भगवान की, भक्ति से छुटकारा पाने का उपाय मैं तुम लोगों को बतलाता हूं। हमारे गांव की सारी लक्ष्मी यहां से उठकर शहरों में चली जाती है। अपने पीहर से चल बसती है। इस ग्राम-लक्ष्मी के पैर गांव में नहीं ठहरते। वह शहर की तरफ दौड़ती है। पहाड़ पर पानी भरपूर बरसता है; लेकिन वह वहां कब ठहरता है। वह चारों तरफ भाग निकलता है। पहाड़ बेचारा कोरा-का-कोरा नंग-धड़ंग, गंजा-बूचा, खड़ा-का-खड़ा, रह जाता है। देहात की लक्ष्मी इसी तरह चारों दिशाओं में भाग खड़ी होती है। शहरों की तरफ बेतहाशा दौड़ती है। अगर हम उसे रोक सकें तो हमारे गांव सुखी होंगे।

यह देहाती लक्ष्मी कौन-कौनसे रास्तों से भागती है, सो देखो। उन रास्तों को बंद कर दो। तब वह रुकी रहेगी। उसके भागने का पहला रास्ता बाजार है, दूसरा शादी-ब्याह, तीसरा साहूकार, चौथा सरकार और पाचवां व्यसन। इन पांच रास्तों को वन्द करना शुरू करें।

सबसे पहले ब्याह-शादी की वात लीजिये। तुम लोग ब्याह-शादी में कोई कम पैसा खर्च नहीं करते। उसके लिए कर्ज भी करते हो। लड़की बड़ी हो जाती है, अपने ससुराल में जाकर गिरस्ती करने लगती है। लेकिन शादी के ऋण से उसके मां-बाप मुक्त नहीं होते। यह रास्ता कैसे मूंदा जाय, सो बताता हूं। तुम कहोगे, 'खर्च में कतर-ब्योंत करो। भोज न दो, समारोह की क्या जरूरत है ?—वगैरा वगैरा। यह ठीक नहीं। समारोह खूब करो। ठाठ-बाट में कमी नहीं होनी चाहिए। लेकिन मैं अपनी पद्धति से कम खर्च में पहले से भी ज्यादा ठाठ-बाट तुम्हें देता हूं।

लड़के-लड़की की शादी मां-बाप ठीक करें। लेकिन वहां उनका काम खत्म हो जाना चाहिए। शादी करना, समारोह करना यह सारा काम गांव का होगा। मां-बाप शादी में एक पाई भी खर्च नहीं करेंगे। जो करेंगे उनको जुर्माना होगा, ऐसा कायदा गांव वालों को बना लेना चाहिए।

लड़के जितने अपने मां-बाप के हैं उतने ही समाज के भी हैं। मां-बाप के मर जाने पर क्या वे घूरे पर फेंक दिये जाते हैं ? गांव उन्हें सम्हालता है, मदद करता है। शादी भी करेगा। आप इस रास्ते पर जाकर देखिये। प्रयोग कीजिये। साहूकार का ऋण कम होता है या नहीं, देखिये। आपका कर्ज घटेगा। झगड़े कम होंगे। सहयोग और आत्मीयता बढ़ेगी।

दूसरा रास्ता बाजार का है। तुम देहाती लोग कपास बोते हो। लेकिन सारा का सारा बेच देते हो। फिर बुवाई के वक्त बिनौले शहर से मोल लाते हो, कपास यहां पैदा करते हो। उसे बाहर बेचकर बाहर से कपड़ा खरीद लाते हो। गन्ना यहां पैदा करते हो। उसे बेचकर शक्कर बाहर से लाते हो। गांव में मूंगफली, तिल्ली और अलसी होती है। लेकिन तेल शहर की तेल-मिल से लाते हो। अब इतना ही बाकी रह गया है कि यहां से अनाज भेजकर रोटियां बंबई से मंगाओ। तुम्हें तो बैल भी बाहर से

लाने पड़ते हैं। इस तरह सारी चीज बाहर से लाओगे तो कैसे पार पाओगे।

बाजार में क्यों जाना पड़ता है ? जिन चीजों की जरूरत होती है, उन्हें भरसक गांव ही में बनाने का निश्चय करो। स्वराज्य माने स्वदेश का राज्य, अपने गांव का राज्य। घर जाने पर तुम लोग सोचो कि अपने गांव में क्या क्या बना सकते हो। देखो, तुम्हें कौन-कौनसी चीज चाहिए। तुम्हारी खेती के लिए बढ़िया बैल चाहिए। उन्हें मोल कहां तक लोगे ? तुम्हें बढ़िया बैल यहीं गांव में पैदा करने चाहिए। गायों का अच्छी तरह पालन करो। एक दो बढ़िया सांड़ उनमें रखो। बाकी के सबको बधिया करो। इससे गांव की नस्ल सुधरेगी। अच्छे बैल मिलेंगे। बैलों के लिए बागडोर, नथनी वगैरा चाहिए। गांव के सन, पटुआ वगैरा से यहीं बना लो। तुम्हें कपड़े की जरूरत है, उसे भी यहीं बनाना चाहिए। गांव में बुनकर न हो तो लड़कों को सिखा लाओ। हरेक को अपने घर में कातना चाहिए। उतना समय जरूर मिल जायगा। मूंगफली गांव में होती है। यहीं घानी शुरू करो, तो यहीं ताजा तेल मिलेगा। गन्ना गांव में होता है। उसका गुड़ बनाओ। शक्कर की बिल्कुल जरूरत नहीं है। गुड़ गरम होता है, लेकिन पानी में मिलाने से ठंडा हो जाता है। गुड़ में स्वास्थ्य के लिए पोषक द्रव्य है। गुड़ बनाओ। खोई जलाने के काम आयगी। गांव के चमार से ही जूते बनवाओ। इस तरह गांव में ही सारी चीजें बननी चाहिए। पुराने जमाने में हमारे गांव ऐसे स्वावलंबी थे। उन्हें सच्चा स्वराज्य प्राप्त था।

गांव का ही अनाज, गांव का ही कपड़ा, गांव का ही गुड़, गांव का ही तेल, गांव के ही जूते, गांव के ही ढोर, गांव के ही बैल, गांव का ही घर का पिसा आटा— इस रवैये को अपनाओ। फिर देखो तुम्हारे गांव कैसे लहलहाते हैं ? तुम कहोगे—यह महंगा पड़ेगा। यह केवल कल्पना है। मैं उदाहरण से समझाता हूं। मान लो, तुम्हारे गांव में एक रंगरेज है, एक बुनकर है, एक तेली है, एक चमार है। आज चमार क्या करता है ? वह कहता है, "मैं तेली से तेल नहीं लूंगा। वह महंगा पड़ता है।" तेली क्या कहता है ? "गांव के चमार का बनाया हुआ जूता महंगा है। मैं शहर से जूता खरीदूंगा।" बुनकर कहता है, "मैं गांव का सूत नहीं लूंगा। पुतलीघर का अच्छा होता है।" किसान

कहता है, "मैं बुनकर का कपड़ा नहीं लूंगा। मिल का लूंगा। वह सस्ता होता है।" इस तरह आज हमने एक-दूसरे को मारने का धंधा शुरू किया है। एक-दूसरे को निबाह लेना धर्म है। उसे छोड़कर हम एक-दूसरे को मटियामेट कर रहे हैं।

लेकिन जरा मजा देखिये। तेली चार आने ज्यादा देकर चमार से महंगा जूता ख़रीदता है। उसके जेब से आज चार आने गये। आगे चलकर वह चमार तेली से चार आने ज्यादा देकर महंगा तेल खरीदता है। याने उसके चार आने लौट आते हैं। अर्थात् वह महंगा नहीं पड़ता। जहां पारस्परिक व्यवहार होता है, वहां 'महंगा' जैसा कोई शब्द ही नहीं है। गये हुए पैंसे दूसरे रास्ते से लौट आते हैं। मैं उसकी महंगी चीज खरीदता हूं, वह मेरी महंगी चीज खरीदता है। हिसाब बराबर। इसमें क्या बिगड़ता है? जुलाहे ने खादी बनाई और तेली ने वह खरीद ली। तेली के लिए खादी महंगी है, जुलाहे के लिए तेल महंगा है। बात एक ही है। तेल में जो पैसे गये, वे खादी में वापस मिले और खादी में गये सो तेल में मिल गये। 'इस हाथ देना, उस हाथ लेना', इस तरह का भाईचारे का, सहयोग का व्यवहार पहले होता था, लेकिन वह आज लोप हो गया है।

देहात में प्रेम होता है, भाई-चारा होता है। देहात के लोग अगर एक-दूसरे की जरूरतों का खयाल नहीं करेंगे तो वह देहात ही नहीं है। वह तो शहर के-जैसा हो जायगा। शहर में कोई किसीको नहीं पूछता। सभी अपने-अपने मतलब के लिए वहां इकट्ठे होते हैं, जैसे गोबर का ढेर देखकर सैकड़ों कीड़े जमा होते हैं। उस सड़नेवाले गोबर में सैकड़ों कीड़े कुलबुलाते हैं। वे कीड़े वहां क्यों इकट्ठे हुए? किसी कीड़े से पूछा, "यहां क्यों आया? तेरे कोई भाई-बहन यहां है?" वह कीड़ा कहेगा, "मैं गोबर खाने के लिए यहां आया हूं और गोबर खाने में चूर हूं। मुझे ज्यादा बोलने की फुरसत नहीं है।" कलाकंद, गुड़ आदि पर मक्खियां बैठती हैं, सो क्या प्रेम के कारण? उसी तरह शहरों में मक्खियों के समान जो आदमी भिनभिनाते रहते हैं, चीटियों की नाईं जिनका तांता लगा रहता है, वह क्या प्रेम के लिए? शहर-में स्वार्थ और लोभ हैं। गांव प्रेम से बनता है। गांव में आग लग जाय, तो सब लोग अपना-अपना काम छोड़कर दौड़ आयंगे। घर में कोई बैठा थोड़े

ही रहेगा ? लेकिन बंबई में क्या दशा होगी ? सब कोई कहेंगे, "पानी का बंबा जायगा, मुझे अपना काम है।" इसीलिए एक कवि ने कहा है, "गांवों को ईश्वर बनाता है और शहरों को मनुष्य।"

हमारे बाप-दादा गांवों में रहते थे। आज तो हरकोई शहर में जाता है। वहां क्या धरा है ? पीले पत्थर हैं और धूल है। यथार्थ लक्ष्मी देहात में है। पेड़ों में फल लगते हैं। खेतों में गेहूं होता है, गन्ना होता है। यही सच्ची लक्ष्मी है। यह सच्ची लक्ष्मी बेचकर सफेद या पीले पत्थर मत लो। तुम शहर जाकर वहां से सस्ती चीजें लाते हो। लेकिन सभी ऐसा करने लगें तो देहात वीरान दिखाई देंगे। अगर देहातों को सुखी देखना है तो शहर के बाजार को छोड़ो। गांव की चीजें खरीदो। जो चीज गांव में बन ही न सकती हो, वह अलबत्ते बाहर से लाओ। बाहर से लाने में भी, अगर वह दूसरे गांव में होती हो, तो वहां से लाओ। मान लो, यहां चूड़ियां नहीं होतीं, तो सोनगीर से लाओ। यहां अच्छे लोटे नहीं बनते तो सोनगीर से लो। यहां रंगरेज न हो तो मालपुर से रंगाकर मंगाओ। मालपुर का रंगरेज तुम्हारे यहां से गुड़ लेकर जायगा, तुम उसके यहां से कपड़े रंगवाओ। तुम्हारे गांव में जो चीजें न बनती हों, उनके लिए दूसरे गांव खोजो। शहर में कोई चीज खरीदने जाओ तो पहले यह सवाल पूछो कि क्या यह चीज देहात में बनी है ?—हाथ की बनी हुई है ? पहले उन चीजों को पसंद करो। जहां तक हो सके, यंत्रों से बना हुआ शहर का माल निषिद्ध मानो।

तुम्हारी ग्राम-पंचायतों को यह काम अपने जिम्मे लेना चाहिए, गांव के झगड़े-टंटे दूर करने का काम तो पंचायतों का है ही; लेकिन गांव से कौन-कौन-सी चीजें बाहर जाती हैं, कौन-कौन-सी बाहर से आती हैं, इसका ध्यान भी पंचायतों को रखना चाहिए। नाका बनाकर फेहरिस्त बनानी चाहिए। बाद में वे चीजें बाहर से क्यों आती हैं, इसकी जांच-पड़ताल करके उन्हें गांव में ही बनवाने की कोशिश करनी चाहिए। बुनकर नहीं हैं ? दूसरे गांव को दो लड़के सीखने के लिए भेज देंगे। हरेक को यह संकल्प कर लेना चाहिए कि गांव की ही चीज खरीदूंगा। जो चीज मेरे गांव में बनती न हो, उसे वहीं बनवाने की कोशिश करूंगा। गांव के नेताओं को इसकी तरफ ध्यान देना चाहिए। 'कैसे होगा ? क्या होगा ?'—न कहो। उठो, काम शुरू कर दो।

चट-से सब हो जायगा। फिर तुम ही चीज़ों के दाम ठहराओगे। तेली तेल किस भाव वेचे, चमार जूता कितने में वना दे, बुनकर की बुनाई क्या हो?—सब-कुछ तुम तय करोगे। जब सभी एक-दूसरे की चीजें खरीदने लगेंगे तो सब सस्ता-ही-सस्ता होगा। 'सस्ता' और 'महंगा' ये शब्द ही नहीं रहेंगे।

बतलाओ, तुम्हारे यहां क्या-क्या नहीं हो सकता ? एक नमक नहीं हो सकता। ठीक, नमक लाओ बाजार से। दो, मिट्टी का तेल। दरअसल तो मिट्टी के तेल की जरूरत नहीं होनी चाहिए। परंतु उसके विना काम ही नहीं चलता हो तो खरीदो। तीसरी चीज, मसाले। मिर्च तो यहां होती ही है। दरअसल तो मिर्च भी वंद कर देनी चाहिए। मिर्च की शरीर को जरूरत नहीं है। दियासलाई खरीदनी पड़ेगी। कुछ औजार खरीदने पड़ेंगे। दूसरा कोई चारा नहीं है। ये चीजें खरोदो। मिट्टी का तेल धीरे-धीरे कम करो। उसके वदले अंडी का तेल काम में लाओ।

परंतु इसके सिवा बाकी सारी चीजें गांव में ही बनाओ। खादी गांव में वननी चाहिए। खादी के कपड़े के लिए सूत के वटन भी यहीं वन सकते हैं। उन दूसरे वटनों की क्या जरूरत ? अगर छाती पर वे वटन न हों तो क्या प्राण छटपटायंगे ? ऐसी वात तो नहीं है। तो फिर उन्हें फेंक दो। इस कंठी की क्या जरूरत है ? उसके बिना चल नहीं सकता ? ऐसी अनावश्यक चीजें गांव में लाओगे तो कंठियां पैरों को जंजीर की तरह जकड़ेंगी या फांसी की रस्सी की तरह गला घोंट देंगी। वाहर से ऐसी कंठियां लाकर अपने शरीर को मत सजाओ। भगवान् श्रीकृष्ण कैसे सजता था ? वह क्या वाहर से कंठियां लाता था ? वृन्दावन में मोरों के जो पंख गिर जाते थे, उन्हीं से वह अपना शरीर सजाता था। पंख उखाड़कर नहीं लाता था। वह मोर के पंख से सजता था। सो क्या सिड़ी हो गया था ? क्या पागल हो गया था ? "मेरे गांव के मोर हैं, उनके पंखों से मैं अपने शरीर को सजाऊं तो कोई हर्ज नहीं है। उसमें उन मोरों की पूजा भी है,"—ऐसी भावना से वह मोरमुकुट लगाता था। और गले में क्या पहनता था ? वनमाला। मेरी यमुना के तीर के फूल—वे सबको मिलते हैं। गरीबों को मिलते हैं, अमीरों को मिलते हैं। वह स्वदेशी वनमाला, देहात की वनमाला, गले में पहनता था। और

बजाता क्या था ? मुरली। देहात के बांस की बांसुरी—यह अलगोजा। यही उसका वाद्य था।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये थे। वह वहां का एक प्रसंग सुनाते थे। "हम सब विद्यार्थी इकट्ठे हुए थे। फ्रांसीसी, जर्मन, अंग्रेज, जापानी, रूसी, सब एक साथ बैठे थे। सबने अपने-अपने देश के राष्ट्रीय वाद्य बजाकर दिखाये। फ्रांसीसियों ने वायलिन बजाया, अंग्रेजों ने अपना वाद्य बजाया। मुझसे कहा गया, 'तुम हिंदुस्तानी वाद्य सुनाओ।' मैं चुपचाप बैठा रहा। वे मुझसे पूछने लगे, 'तुम्हारा भारतीय वाद्य कौन-सा है ?' मैं उन्हें बता नहीं सका।"

मैंने तुरंत अपने उस मित्र से कहा, "अजी, हमारा राष्ट्रीय वाद्य बांसुरी है। लाखों गांवों में वह पाई जाती है। सीधी-सादी और मीठी। कृष्ण भगवान् ने उसे पुनीत किया है। एक बांस की नली ले लो, उसमें छेद बना लिये। बस, वाद्य तैयार हो गया।"

ऐसा वाद्य श्रीकृष्ण बजाता था। वह गोकुल का स्वदेशी देहाती वाद्य था। अच्छा, श्रीकृष्ण खाता क्या था ? बाहर की चीनी लाकर खाता था ? वह अपने गोकुल की मक्खन-मलाई खाता था। दूसरों को खाना सिखाता था। ग्वालिनें गोकुल की यह लक्ष्मी मथुरा को ले जाती थीं। परंतु गांव की इस अन्नपूर्णा को कन्हैया बाहर नहीं जाने देता था। वह उसे लूटकर सबको बांट देता था। सारे गोकुल के बालक उसने हृष्ट-पुष्ट किये। जिन्होंने गोकुल पर चढ़ाई की, उसके दांत उसने अपने मित्रों की मदद से खट्टे किये। गोकुल में रहकर भी वह क्या करता था ? गायें चराता था। उसने दावानल निगल लिया, याने क्या किया ? देहातों को जलानेवाले लड़ाई-झगड़ों का खातमा किया। सब लड़कों को इकट्ठा किया। प्रेम बढ़ाया। इस तरह यह श्रीकृष्ण गोपालकृष्ण है। वह तुम्हारे गांव का आदर्श है। गोपालकृष्ण ने गांवों का वैभव बढ़ाया, गांवों की सेवा की, गांवों पर प्रेम किया, गांव के पशु-पक्षी, गांव की नदी, गांव का गोवर्धन पर्वत—इन सबपर उसने प्रेम किया। गांव ही उसका देवता रहा। आगे चलकर वह द्वारिकाधीश बने। लेकिन फिर भी गोकुल में आते थे, फिर गाय चराते थे, गोबर में हाथ डालते थे, गोशाला बुहारते थे, वनमाला पहनते थे, बंसी बजाते थे, लड़कों के साथ,

गोपाल-बालों के साथ, खेलते थे। 'ब्रजकिशोर' उनका प्यारा नाम था। 'गोपाल' उनका प्यारा नाम था। उन्होंने गोकुल में असीम आनन्द और सुख पैदा किया।

गोकुल का सुख असीम था। ऐसे गोकुल के अन्न के चार कणों के लिए देवता तरसते थे। प्रेमभस्त गोपाल-बाल जब भोजन करके दही और 'गोपाल कलेवा' खाकर यमुना के जल में हाथ धोने जाते थे, तब देवता मछली बनकर वे जूठे अन्नकण खाते थे। उनके स्वर्ग में वह प्रेम था क्या ? उन देवताओं को पैसे की कमी नहीं थी। लेकिन उनके पास प्रेम नहीं था। हमारे शहर आपके स्वर्ग हैं न ? अरे भाई, वहां प्रेम नहीं है। वहां भोग है, पैसे हैं; परन्तु आनन्द नहीं है। अपने गांवों को गोकुल के समान बनाओ। तब वे शहर के नगर-सेठ तुम्हारे गांव की नमक-रोटी के लिए लालायित होकर दौड़ते आयंगे। हमें देहातों को हरा-भरा गोकुल बनाना है—स्वाश्रयी, स्वावलम्बी, आरोग्य-सम्पन्न, उद्योगशील, प्रेमल। ईख का कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, धुनिया धुन रहा है, तेल का कोल्हू चूं-चर बोल रहा है, कुएं पर मोट चल रही है, चमार जूता बना रहा है, गोपाल गायें चरा रहा है और वंशी बजा रहा है—ऐसा गांव बनने दो। अपनी गलती से हमने गांवों को मरघट बनाया। आइये, अब फिर उसको गोकुल बनायें।

कागज एरंडोल का खरीदो। दन्त मंजन राख का बनाओ। ब्रुश दतौन के बनाओ। विदेशी कागज की झण्डियां और पताकाएं हमें नहीं चाहिए। अपने गांव के पेड़ों के पल्लव—ग्राम-पल्लव—लो। उनके तोरण और वंदनवार बनाओ। गांव के पेड़ों का अपमान क्यों करते हो ? बाहर से चीजें लाकर वंदनवार लगाओगे तो गांवके दरख्त रूठेंगे। वे समारोह में हाथ बंटाना चाहते हैं। उनके कोंपल लाओ। हमारे धार्मिक मंगल-उत्सवों के लिए क्या कागज के तोरण विहित हैं। आम के शुभ पल्लव चाहिए और घड़ा चाहिए। कलश चाहिए। सो क्या टिनपॉट का होगा ? वह पवित्र कलश मिट्टी का ही चाहिए। तुम्हारे गांव के कुम्हार का बनाया हुआ चाहिए। देखो, हमारे पूर्वजों ने गांव की चीजों की कैसी महिमा बढ़ाई है। उस दृष्टि को अपनाओ। सारा नूर पलट जायगा। इधर-उधर दूसरी ही दुनिया दिखाई देने लगेगी। समृद्धि और आनन्द दिखाई देने लगेंगे।

कोई दिनभर फू-फू बीड़ी फूंकते रहते हैं। कहते हैं, "बीड़ियां तो घर की ही हैं। वे बाहर से नहीं आतीं।" अरे भाई, जहर अगर घर का हो तो क्या खा लोगे ? घर का जहर खाकर पूरी सोलह आने स्वदेशी मृत्यु को स्वीकार करोगे ? जहर चाहे घर का हो या बाहर का, त्याज्य ही है। उसी तरह सभी व्यसन बुरे हैं। उन सबको छोड़ना चाहिए। वे प्राणघातक हैं। शराब के बारे में कहोगे तो पहले महाराष्ट्र में शराब नहीं थी। महाराष्ट्र का पहला गवर्नर एलफिस्टन साहब था। उसने महाराष्ट्र का इतिहास लिखा है। उसमें वह कहता है, "पेशवाओं के राज में शराब से आमदनी नहीं थी। लेकिन आज तो गांव-गांव में पियक्कड़ हैं। सरकार उलटे उन्हें सुभीता कर देती है। लेकिन सरकार सुविधा कर देती है, इसलिए क्या हम शराब पीयें ? हिन्दुस्तान में दो मुख्य धर्म हैं—हिन्दू-धर्म और इस्लाम। इन दोनों धर्मों में शराब पीना महान पाप माना गया है। इस्लाम में शराब हराम है। हिन्दू-धर्म में शराब की गिनती पांच महापातकों में होती है। शराब पीकर आखिर हम क्या साधते हैं ? प्राणों का, कुटुम्ब का, धन का और इन सबसे प्रिय धर्म का—सभी चीजों का नाश होता है।

बीड़ी और शराब के बाद तीसरा व्यसन है बात-बात में तकरार करना। कृष्ण ने झगड़ों के दावानल निगल लिये। तकरार मत करो और अगर झगड़ा हो ही जाय, तो गांव के चार भले आदमी बैठकर उसका तस्फिया करो। जिस प्रकार और चीजें गांव की ही हों, उसी प्रकार न्याय भी गांव का ही हो। अदालत की शरण न लो। अदालतें तुम्हारे गांव में ही चाहिए। तुम्हारे खेतों में सब कुछ पैदा होता है। लेकिन न्याय तुम्हारे गांव में न पैदा होता हो तो कैसे काम चलेगा ? गांव का धान्य, गांव का वस्त्र और गांव का ही न्याय हो। बाहर की कचहरी, अदालतें किस काम कीं ? चीजों के लिए जिस तरह हम परावलंबी न होंगे, उसी तरह न्याय के लिए भी नहीं होंगे। प्रेम से रहो। दूसरे को थोड़ा-बहुत अधिक मिल जाय तो भी वह गांव में ही रहेगा, लेकिन दूर चला जाने पर, न हमें मिलेगा, न तुम्हें मिलेगा, सारा भाड़ में जायगा। गांव के ही पंचों में परमेश्वर है। उसकी शरण लो।

भोजन वगैरा अन्य बातों की ऊहापोह यहां नहीं करता। जीवन निर्मल और विचारमय बनाओ। हरेक काम विवेक-विचार से करो।

चौथी बात साहूकार की है। तुम ही अपने घर कपास लोढ़कर बीज के लायक बिनौले संभालकर रख लोगे, घर में ही कपड़ा बना लोगे, मूंगफली, अलसी घर में रखकर गांव के कोल्हू से तेल निकलवा लोगे, अदालत-इजलास में जाना बंद कर दोगे, गांव में ही सारे झगड़े तय कर लोगे और मेरे बतलाये ढंग से ब्याह-शादियां करोगे तो साहूकार की जरूरत बहुत कम पड़ेगी। लेकिन तिसपर भी सभी लोग साहूकार के पाश से छुटकारा नहीं पायंगे। कर्जदार फिर भी रहेंगे। लेकिन कर्ज की तादाद कम हो जायगी।

तुम्हारी कर्जदारी का सवाल स्वराज्य के बिना पूरी तरह हल नहीं होगा। स्वराज्य में सबके हिसाब जांचे जायंगे। जिस साहूकार को मूलधन के बराबर ब्याज मिल चुका होगा, उसका कर्ज अदा हो चुका, ऐसा घोषित किया जायगा। जिस साहूकार का मूलधन भी न मिला होगा, सूद के रूप में भी न मिला होगा, उससे समझौता करेंगे। इसी तरह के उपाय से यह सवाल हल करना होगा। तटस्थ पंच मुकर्रर करके तहकीकात के बाद जो उचित होगा, किया जायगा। तब तक आज के बतलाये उपायों से काम लेना चाहिए और धीरे-धीरे साहूकार से दूर रहने की कोशिश करनी चाहिए। परन्तु कर्ज चुकाने के फेर में बाल-बच्चों की उपेक्षा न करो। बच्चों को दूध-घी दो। भरपूर भोजन दो। लड़के सारे समाज के हैं। मैं अपने साहूकार से कहूंगा, "मैं अपने बच्चों को थोड़ा दूध दूं? उन्हें दूध की जरूरत है।" बच्चे जितने मेरे हैं, उतने ही साहूकार के भी हैं। वे सारे देश के हैं। लड़कों को देने में तुम साहूकार को ही देते हो। इसलिए पहले भरपेट खाओ, बाल-बच्चों को खिलाओ। घर की जरूरतें पूरी होने पर कुछ बकाया रहे, तो जाकर दे दो। कर्ज तो देना ही है। खा-पीकर देना है। भोग-विलास के बाद नहीं। 'कुछ बचा तो ला दूंगा'—साहूकार से कह दो।

इस तरह चार बातें बतलाईं। गांव की लक्ष्मी के बाहर जाने के चार दरवाजे बताये और उन्हें बंद करने के उपायों की दिशा भी बताई। अब पांचवीं बात सरकार है। यह सरकार कैसे बंद की जाय? तुम अपनी चीजें बनाने लगो, अपने गांव में बनाने लगो, तो सरकार अपने-आप सीधी हो जायगी। सरकार यहां क्यों रहती है? विलायत का माल आसानी से तुम बेवकूफों के हाथ बिक सकता है, इसलिए। कल बुद्धिमान बनकर अगर अपने

गांव स्वावलंबी बनाओगे, तो सरकार अपने-आप नरम हो जायगी। जिस चीज की जरूरत हो उसे गांव में ही बनाओ। जो इस गांव में न बन सके, उसे दूसरे गांव से लाओ। शहर के कारखानों का बहिष्कार करो। विदेशी चीजों की तो बात ही कौन पूछता है ? विदेशी और स्वदेशी कारखानों को तुम अपने गांव से जो खाद्य पहुंचाते हो, उसे बंद करो। आपस में एकता करो। लड़ना-झगड़ना छोड़ दो। अगर लड़ो भी तो गांव में ही फैसला कर लो। कचहरी अदालत का मुंह न देखने का संकल्प करो। गांव की ही चीजें, गांव का ही न्याय। अगर ऐसा करोगे तो 'एक पंथ दो काज' होंगे। दरिद्रता का कष्ट दूर होगा और सरकार अंतर्धान हो जायगी। तुम इस तरह स्वावलम्बी, निर्व्यसनी, उद्यमी और हिल-मिलकर रहनेवाले बनो। तब सरकार तुम्हारे हक दिये बिना रह ही नहीं सकती। तुम्हारी इतनी ताकत बढ़ने पर भी अगर सरकार तुम्हारे हक न देगी, तो फिर सत्याग्रह तो है ही। उस हालत-में जो सत्याग्रह होगा, वह ऐसा पचास-साठ हजार का टुटपुंजिया सत्याग्रह न होगा। उसमें तो पचास-साठ लाख लोग शरीक होंगे।

तुम लगान के रूप में दस हज़ार रुपये देते हो। लेकिन कपड़ों के लिए पच्चीस हजार देते हो। अब, मान लो कि यह सरकार यहां से जल्दी नहीं टलती। उसका लगान कम नहीं होता। स्वराज्य मिलने पर कम करेंगे। लेकिन वह पराक्रम जब होगा तब होगा। फिर भी अगर कपड़ा गांव में ही बनाने का संकल्प कर लें, तो क्या होगा। हरेक को तीन सेर रुई की जरूरत होगी। हर कुटुम्ब में अगर पांच आदमी हों, तो पंद्रह सेर रुई हुई। बोने के लिए जितने बिनौलों की जरूरत हो, उतनी बढ़िया कपास खेत से बीनकर घर-पर ही लोढ़ो। बढ़िया बिनौले मिलेंगे। जो रुई होगी उसमें से अपने परिवार के कपड़ों के लिए आवश्यकतानुसार रख लो और बाकी को बेच दो। फी आदमी पक्की तीन सेर रुई के दाम सवा रुपया होंगे। बत्तीस सौ आदमियों को चार-पांच हजार की रुई रखनी होगी। कपड़ा पच्चीस हजार का होगा। उसमें से पांच हजार घटा दीजिये तो बीस हजार गांव में रहेंगे। सरकार लगान के दस हजार ले जायगी, लेकिन तुम बीस हजार बचाओगे। इसीलिए गांधी कहते हैं कि खादी ही स्वराज्य है। अकेले खादी की बदौलत बीस हजार रुपये गांव में रह गए। कल स्वराज्य मिल जाय तो क्या होगा ?

लगान आधा याने दस हजार का पांच हजार हो जाएगा। याने तुम्हारे पांच हजार रुपये बचेंगे। लेकिन खादी बरतने से बीस हजार बचेंगे। इसलिए वास्तविक स्वराज्य किस वस्तु में है, यह जानो।

पहले दूसरे कई राज्य हुए तो भी देहात का यह वास्तविक स्वराज्य कभी नष्ट नहीं हुआ था। इसीलिए हमें रोटियों के लाले नहीं पड़े। परंतु इस राज्य में यह खादी का स्वराज्य, देहाती उद्योग-धंधों का स्वराज्य, नष्ट हो गया है। इसीलिए देहात वीरान और डरावने दिखाई देने लगे। इंगलैंड का मुख्य आधार कर या किसान नहीं है, बल्कि करोड़ों रुपये का व्यापार है। लगान के रूप में उसे दस हजार ही मिलेंगे। लेकिन तुम्हें कपड़ा वेचकर वह बीस हजार ले जायगा। शक्कर, घासलेट वगैरा सैकड़ों ऐसी ही चीजें हैं। इसलिए वास्तविक स्वराज्य को पहचानो। हम सरकार को अपने पराक्रम से कब निकाल सकेंगे, सो देखा जायगा। परंतु तबतक मेरे बतलाये उपायों से अपने गांव स्वावलंबी, उद्यमी, प्रेममय बनाओ। इसीमें सब कुछ है।

: १९ :

स्वाध्याय की आवश्यकता

देहात में जानेवाले हमारे कार्यकर्ताओं में से अधिकांश उत्साही नवयुवक हैं। वे काम शुरू करते हैं उमंग और श्रद्धा से, लेकिन उनका वह उत्साह अंत तक नहीं टिकता। देहात में काम करनेवाले एक भाई का खत मुझे मिला था। लिखा था—"मैं सफाई का काम करता तो हूं, लेकिन पहले उसका जो असर गांववालों पर होता था अब नहीं होता। इतना ही नहीं, बल्कि वह तो मानने लगे हैं कि इसको कहीं से तनख्वाह मिलती है, इसीलिए यह सफाई का काम करता है।" अन्त में उस भाई ने पूछा है कि क्या अब इस काम को छोड़कर दूसरा काम हाथ में ले लिया जाय?

यों कार्यकर्ताओं को अपने काम में शंकाएं उत्पन्न होने लगती हैं और यह हाल सिर्फ कार्यकताओं का नहीं, वड़े-वड़े विद्वानों और नेताओं की भी यही हालत है। इसका मुख्य कारण मुझे एक ही मालूम होता है। वह है स्वाध्याय-का अभाव। यहां पर 'स्वाध्याय' शव्द का जिस अर्थ में उपयोग करता हूं, उसे वता देना आवश्यक है। स्वाध्याय का अर्थ मैं यह नहीं करता कि एक किताव पढ़कर फेंक दी, फिर दूसरी ली। दूसरी लेने के वाद पहली भूल भी गये। इसको मैं स्वाध्याय नहीं कहता। 'स्वाध्याय' के मानी हैं एक ऐसे विषय का अभ्यास जो सव विषयों और कार्यों का मूल है, जिसके ऊपर वाकी के सव विषयों का आधार है, लेकिन जो खुद किसी दूसरे पर आश्रित नहीं। उस विषय में दिनभर में थोड़े समय के लिए एकाग्र होने की आवश्यकता है। अपने-आपको और कातने आदि अपने सव कामों को उतने समय के लिए विल्कुल भूल जाना चाहिए। अपने स्वार्थ के संसार में जितनी वाधाएं और कठिनाइयां पैदा होती हैं वे सभी इस परमार्थी कार्य में भी खड़ी हो सकती हैं और यह भी संसार का एक व्यवसाय वन जाता है। अगर कोई समझता हो कि परमार्थी काम होने की वजह से स्वार्थी संसार की झंझट से मुक्त है तो यह समझ खतरनाक है। इसलिए जैसे कुछ समय के लिए संसार से अलग होने की आवश्यकता होती है वैसे ही इस काम से भी अलग होने की आवश्यकता है; क्योंकि वास्तव में यह काम केवल भावना का नहीं है, उसमें वुद्धि की भी आवश्यकता है। भावना तो देहातियों में भी होती है, लेकिन उनमें वुद्धि की न्यूनता है। उसे प्राप्त करना चाहिए। वुद्धि और भावना एकदम अलग-अलग चीजें हों, सो नहीं हैं। इस विषय में मैं एक उदाहरण दिया करता हूं।

सूर्य की किरणों में प्रकाश है और उष्णता भी है। उष्णता और प्रकाश को तार्किक पृथक्करण से अलग-अलग कर सकते हैं। फिर भी जहां प्रकाश होता है वहां उसके साथ उष्णता भी होती ही है। इसी तरह जहां सच्ची वुद्धि है वहां सच्ची भावना है और जहां सच्ची भावना है वहां सच्ची वुद्धि है ही। उनका तार्किक पृथक्करण हम कर सकते है, लेकिन दरअसल वे एकरूप ही हैं। कोई सोचता हो कि हमें वुद्धि से कोई मतलव नहीं है, सेवा की इच्छा है, और इसके लिए भावना का

होना काफी है, तो वह गलत सोचता है। इस बुद्धि की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता है। विद्वानों को भी ऐसे स्वाध्याय की जरूरत है। फिर कार्यकर्त्ता तो नम्र है न ? उसको तो स्वाध्याय की विशेष रूप से जरूरत है। इस विषय में बहुत-से कार्यकर्त्ता सोचते हैं कि बीच-बीच में शहर में जाकर पुस्तकालय में जाना, मित्रों से मिलना आदि बातें ग्राम-सेवा के लिए उपयोगी हैं, इनसे उत्साह बढ़ता है और उस उत्साह को लेकर फिर देहात में काम करने में अनुकूलता होती है। लेकिन वे नहीं जानते कि ज्ञान और उत्साह का स्थान शहर नहीं है। शहर ज्ञानियों का अड्डा नहीं है।

उपनिषद् में एक कहानी है। एक राजा से किसीने कहा कि एक विद्वान् ब्राह्मण आपके राज्य में है। उसको खोजने के लिए राजा ने नौकर भेजे। सारा नगर छान डालने के बाद भी उनको वह विद्वान् नहीं मिला। तब राजा ने कहा, "अरे, ब्राह्मण को जहां खोजना चाहिए वहां जाकर ढूंढ़ो।" तब वे लोग जंगल में गये और वहां उनको वह ब्राह्मण मिला। यह बात नहीं कि शहर में कोई तपस्वी मिल ही नहीं सकता। संभव है, कभी-कभी शहर में भी ऐसा मनुष्य मिल जाय, लेकिन वहां का वातावरण उसके अनुकूल नहीं। आत्मा का पोषण-रक्षण आजकल शहरों में नहीं होता। देहात में निसर्ग के साथ जो प्रत्यक्ष संबंध रहता है, वह उत्साह के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शहर में निसर्ग से भेंट कहां ? जंगल में तो नदी, पहाड़, जमीन सब चीजें वहीं सामने दिखाई देती हैं और जंगल के पास तो देहात ही होते हैं, शहर नहीं। सिर्फ उत्साह लेने के लिए ग्रामसेवकों को शहर में आना पड़े, इसके बजाय शहरवाले ही कुछ दिनों के लिए देहात में जाकर कार्यकर्त्ताओं से मिलते रहें, तो अधिक अच्छा हो। असल में उत्साह तो दूसरी ही जगह है। वह जगह है अपनी आत्मा। उसके चिंतन के लिए कम-से कम रोज एकाध घंटा अलग निकालना चाहिए। तस्वीर खींचनेवाला तस्वीर को देखने के लिए दूर जाता है, और वहां से उसको तस्वीर में जो दोष दिखाई देते हैं, उनको पास आकर सुधार लेता है। तस्वीर तो पास रहकर ही बनानी पड़ती है, लेकिन उसके दोष देखने के लिए अलग हट जाना पड़ता है। इसी प्रकार सेवा करने के लिए पास तो आना ही

पड़ेगा। लेकिन कार्य को देखने के लिए खुद को अलग कर लेने की जरूरत भी है।

यही स्वाध्याय का उपयोग है। अपने को और अपने कार्य को बिल्कुल भूल जाना और तटस्थ होकर देखना चाहिए। फिर उसीमें से उत्साह मिलता है, मार्ग-दर्शन होता है, बुद्धि की शुद्धि होती है।

: २० :

दरिद्रों से तन्मयता

दो प्रश्न हैं:

१. हम में से जो आजतक तो मध्यमवर्ग का जीवन बिताते आये हैं, परंतु अब दरिद्रवर्ग से एक रूप होना चाहते हैं, वे किस क्रम से अपने जीवन में परिवर्तन करें, जिससे तीन-चार वर्ष में निश्चित रूप में उन दरिद्रों से एक रूपहो जायं ?

२. मध्यम अथवा उच्च वर्ग के लोग दरिद्रों से अपनी सद्भावना किस तरह प्रकट कर सकते हैं ? क्या इस प्रकार का कोई नियम बनाना ठीक होगा कि संघ के सदस्य कोई ऐसा उपाय करें, जिससे उनके खर्च में से हर पन्द्रह रुपये में से चार रुपये दरिद्रों के घर सीधे पहुंच जायं ?

पहले तो हमें यह समझना है कि हम मध्मम वर्ग और उच्च वर्ग के माने जानेवाले 'प्राणी' हैं, अर्थात् हम प्राणवान बनना चाहते हैं। जिनकी सेवा करना चाहते हैं, उनके-से बनना चाहते हैं। पानी कहीं का भी क्यों न हो, समुद्र की ओर ही जाना चाहता है। यद्यपि सब पानी समुद्र तक नहीं पहुंच सकता, लेकिन चाहे वह मेरा बहाया हुआ हो, या गंगाजी का, दोनों की गति समुद्र की ओर है। दोनों निम्नगतिक—नम्र हैं। एक जगह थोड़ा पानी है, उसकी ताकत कम होने के कारण भले ही बीच में रुक जाय और किसी छोटे वृक्ष को जीवन प्रदान करने में उसका उपयोग हो—यह तो हुआ उसका भाग्य; परंतु उसकी गति तो समुद्र ही है। समुद्र तक पहुंचने का भाग्य तो

गंगा के समान महानदियों को ही प्राप्त होता है। इसी तरह उच्च और मध्यम श्रेणियां पहाड़ और टीले के समान हैं। यहां जिनकी हमें सेवा करनी है वह महासमुद्र है। इस महासमुद्र तक सब न भी पहुंच सकें, तो भी कामना तो हम यही करते हैं कि वहांतक पहुंचें। अर्थात् जहांतक पहुंच पायें, उतने ही से संतोष न मान लें। हमें जिसकी सेवा करनी है, उसका प्रश्न सामने रखकर अपने जीवन की दिशा बदलते रहना चाहिए और खुद निम्नगतिक —नम्र—बनना चाहिए।

पर इसके कोई स्थूल नियम नहीं बनाये जा सकते। अगर बनाना शक्य हो तो भी ये मेरे पास नहीं हैं और न मैं चाहता ही हूं कि ऐसे नियम बनाने-का कोई प्रयत्न किया जाय। चार या पांच वर्षों में उच्च और मध्यम श्रेणी के लोगों को गरीब बना देने की कोई विधि नहीं है। हमें गरीबों की सेवा करनी है, यह समझकर जाग्रत रहकर शक्तिभर काम करना चाहिए। कोई नियम नहीं है, इसीलिए बुद्धि और पुरुषार्थ की गुंजाइश है। पिछले सोलह वर्षों से मेरा यह प्रयत्न जारी है कि मैं गरीबों से एकरूप हो जाऊं, लेकिन मैं नहीं समझता कि गरीबों का जीवन व्यतीत करने में सफल हुआ हूं। पर इसका उपाय क्या है। मुझे इसका कोई दुःख भी नहीं है। मेरे लिए तो प्राप्ति के आनंद की अपेक्षा प्रयत्न का आनंद बढ़कर है।

शिव की उपासना करना हो तो शिव बनो, ऐसा एक शास्त्रीय सूत्र है। इसी तरह गरीबों की सेवा करने के लिए गरीब बनना चाहिए। पर इसमें विवेक की जरूरत है। इसके मानी यह नहीं कि हम उनके जीवन की बुरा-इयों को भी अपना लें। वे जैसे दरिद्रनारायण हैं वैसे मूर्खनारायण भी तो हैं। क्या हम भी उनकी सेवा के लिए मूर्ख बनें? शिव बनने का मतलब यह नहीं है। जिनका धन गया उनकी बुद्धि तो उससे भी पहले चली गई। उनके-जैसे बनकर हमें अपनी बुद्धि नहीं खोनी चाहिए।

देहात में किसान धूप में काम करते हैं। लोग कहते हैं, "बेचारे किसानों को दिनभर धूप में काम करना पड़ता है।" अरे, धूप में और खुले आकाश के नीचे काम करना, यही तो उनका वैभव बचा रह गया है। क्या उसे भी आप छीन लेना चाहते हैं? धूप में तो विटामिन काफी है। अगर हो सके तो हम भी उन्हीं की भांति करना शुरू कर दें। पर वे जो रात में मकानों को

संदूक बनाकर उनमें अपने-आपको बंद करके सोते हैं, उनकी नकल हमें नहीं करनी चाहिए। हम काफी कपड़े रखें। उनसे भी हम कहें कि रात में खुले आकाश के नीचे सोओ और नक्षत्रों का वैभव लूटो। हम उनके प्रकाश का अनुकरण करें, उनके अंधकार का नहीं। उनके पास अगर पूरे कपड़े नहीं हैं तो हम उन्हें इतना समर्थ क्यों न बना दें कि वे भी अपने लिए काफी कपड़े बना लें ? उन्हें महीनों तरकारी नहीं मिलती, दूध नहीं मिलता। क्या हम भी साग-भाजी और दूध छोड़ दें ? यह विचार ठीक नहीं है। एक आदमी अगर डूब रहा है और अगर उसे देखकर हमें दुःख होता है तो क्या हम भी उसके पीछे डूब जायं ? इसमें दया है, सहानुभूति भी है। लेकिन यह दया और सहानुभूति किस काम की जिसमें तारक-बुद्धि का अभाव हो? सच्ची कृपा में तारक शक्ति होनी चाहिए। तुलसीदासजी ने उसे 'कृपालु अलायक' कहा है।

हमें अपने जीवन की खराबियों को निकालकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए। उसी प्रकार उनकी बुराइयों को दूर कर उनका जीवन भी पूर्ण बनाने में उनकी सहायता करनी चाहिए। पूर्ण जीवन वह है, जिसमें रस या उत्साह है। भोग या विलासिता को उसमें स्थान नहीं। हम दरिद्रों-जैसे बनें या पूर्ण जीवन की ओर बढ़ें ? लोग कहते हैं, ऐसा करने से हमारा जीवन न्यायमय नहीं दिखाई देगा। पर हमें इस बात का विचार नहीं करना है कि वह कैसा दिखाई देगा। हम यह भी न सोचें कि इसका परिणाम क्या होगा। परिणाम-परायणता को छोड़ देना चाहिए। हमारी जीवन-पद्धति उनसे भिन्न है। हमें दूध मिलता है, उन्हें नहीं मिलता। इस बात का हमें दुःख हो तो वह उचित ही है। यह दुःखबीज तो हमारी हृदय-भूमि में रहना ही चाहिए। वह हमारी उन्नति करेगा। मुझे तो इसका कोई उपाय मिल भी जाय तो दुःख होगा। हमारे पुरुषार्थ और रचनात्मक शक्ति से तारक बुद्धि का प्रचार होकर सारी देहाती जनता एक इंच भी आगे बढ़ सके तो हम स्वराज्य के नजदीक पहुंचेंगे जैसे नदियां समुद्र की ओर बहती हैं, उसी प्रकार हमारी वृत्ति और शक्ति गरीबों की ओर बहती रहे, इसीमें कल्याण है।

: २१ :

त्याग और दान

एक आदमी ने भलेपन से पैसा कमाया है। उससे वह अपनी गृहस्थी सुख-चैन से चलाता है। बाल-बच्चों का उसे मोह है, देह की ममता है। स्वभावतः ही पैसे पर उसका जोर है। दिवाली नजदीक आते ही वह अपना तलपट सावधानी से बनाता है। यह देखकर कि सब मिलाकर खर्च जमा के अंदर है और उससे 'पूंजी' कुछ बढ़ी ही है, उसे खुशी होती है। बड़े ठाठ से और उतने ही भक्ति भाव से वह लक्ष्मीजी की पूजा करता है। उसे द्रव्य का लोभ है, फिर भी नाम का कहिये या परोपकार का कहिये, उसे खासा खयाल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान-धर्म के लिए—इसीमें देश को भी ले लीजिये—खर्च किया हुआ धन ब्याज समेत वापस मिल जाता है। इसलिए इस काम में वह खुले हाथों खर्च करता है। अपने आस-पास के गरीबों को इसका इस तरह बड़ा सहारा रहता है, जिस तरह छोटे बच्चों को अपनी मां का।

दूसरे एक आदमी ने इसी तरह सचाई से पैसा कमाया था। लेकिन इसमें उसे संतोष न होता था। उसने एक बार बाग के लिए कुआं खुदवाया। कुआं बहुत गहरा था। उसमें से थोड़ी मिट्टी, कुछ छर्री और बहुत पत्थर निकले। कुआं जितना गहरा गया, इन चीजों का ढेर भी उतना ही ऊंचा लग गया। मन-ही-मन वह सोचने लगा, "मेरी तिजोरी में पैसे का ऐसा ही टीला लगा हुआ है, उसी अनुपात से किसी और जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया होगा !" विचार का धक्का बिजली जैसा होता है। इतने विचार से ही वह हड़बड़ाकर सचेत हो गया। वह कुआं तो उसका गुरु बन गया। कुएं से उसे जो कसौटी मिली उसपर उसने अपनी सचाई को घिसकर देखा। वह खरी नहीं उतरती, ऐसा ही उसे दिखाई दिया। इस विचार ने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यापारिक सचाई' की रक्षा मैंने भले ही की हो, फिर भी इस बालू की बुनियाद पर मेरा मकान कब तक टिक सकेगा ? अंत में पत्थर, मिट्टी और मानिक-मोतियों में उसे कोई फर्क नहीं दिखाई

दिया। यह सोचकर कि फिजूल का कूड़ा-कचरा भरकर रखने से क्या लाभ; वह एक दिन सवेरे उठा और अपनी सारी संपत्ति गधे पर लादकर गंगा-किनारे ले गया। "मां, मेरा पाप धो डाल!" इतना कहकर उसने वह कमाई गंगा माता के आंचल में उंड़ेल दी और बेचारा स्नान करके मुक्त हुआ। उससे कोई-कोई पूछते हैं, "दान ही क्यों न कर दिया ?" वह जवाब देता है, "दान करते समय 'पात्र' तो देखना पड़ता है। अपात्र को दान देने से धर्म के बदले अधर्म होने का डर जो रहता है। मुझे अनायास गंगा का 'पात्र' मिल गया, उसमें मैंने दान कर दिया।" इससे भी संक्षेप में वह इतना ही कहता है, "कूड़े-कचरे का भी कहीं दान किया जाता है ?" उसका अंतिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसके संपत्ति-त्याग से उसके सब 'सगों' ने उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दान की है, दूसरी त्याग की। आज के जमाने में पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है, उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है। इसीलिए शास्त्रकारों ने भी दान की महिमा कलियुग के लिए कही है। 'कलियुग' माने क्या ? कलियुग माने दिल की कमजोरी। दुर्बल हृदय द्रव्य के लोभ को पूरी तरह नहीं छोड़ सकता। इसलिए उसके मन की उड़ान अधिक-से-अधिक दान तक ही हो सकती है। त्याग तक तो उसकी पहुंच नहीं हो सकती। लोभी मन को तो त्याग का नाम सुनते ही जाने कैसा लगता है। इसलिए उसके सामने शास्त्रकारों ने दान के ही गुण गाये हैं।

त्याग तो बिल्कुल जड़ पर आघात करनेवाला है। दान ऊपर-ही-ऊपर से कोंपलें खोंटने जैसा है। त्याग पीने की दवा है, दान सिर पर लगाने की सोंठ है। त्याग में अन्याय के प्रति चिढ़ है, दान में नाम का लिहाज है। त्याग से पाप का मूलधन चुकता है और दान से पाप का व्याज। त्याग का स्वभाव दयालु है, दान का ममतामय। धर्म दोनों ही पूर्ण हैं। त्याग का निवास धर्म के शिखर पर है, दान का उसकी तलहटी में।

पुराने जमाने में आदमी और घोड़ा अलग-अलग रहते थे। कोई किसी के अधीन न था। एक बार आदमी को एक जल्दी का काम आ पड़ा। उसने थोड़ी देर के लिए घोड़े से उसकी पीठ किराये पर मांगी। घोड़े ने भी पड़ोसी के धर्म को सोचकर आदमी का कहना स्वीकार कर लिया। आदमी ने कहा,

"लेकिन तेरी पीठ पर मैं यों नहीं बैठ सकता। तू लगाम लगाने देगा तभी मैं बैठ सकूंगा।" लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार हो गया और घोड़े ने भी थोड़े समय में काम बजा दिया। अब करार के मुताबिक घोड़े की पीठ खाली करनी चाहिए थी, पर आदमी से लोभ न छूटता था। वह कहता है, "देख भाई, तेरी यह पीठ मुझसे छोड़ी नहीं जाती, इसलिए इतनी बात तू माफ कर। हां, तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी न भूलूंगा। इसके बदले में मैं तेरी खिदमत करूंगा, तेरे लिए घुड़साल बनाऊंगा, तुझे दाना-घास दूंगा, पानी पिलाऊंगा, खरहरा करूंगा, जो कहेगा वह करूंगा; पर छोड़ने की बात मुझसे न कहना।" घोड़ा बेचारा कर ही क्या सकता था? जोर से हिनहिनाकर उसने फरियाद भगवान् के दरबार में पेश की। घोड़ा त्याग चाहता था, आदमी दान की बातें कर रहा था। भले आदमी, कम-से-कम अपना यह करार तो पूरा होने दे!

: २२ :

कृष्ण-भक्ति का रोग

'दुनिया पैदा करें', ब्रह्माजी की यह इच्छा हुई। इसके अनुसार कारबार शुरू होनेवाला ही था कि कौन जाने कैसे उनके मन में आया कि "अपने काम में भला-बुरा बतानेवाला कोई रहे, तो बड़ा मजा रहेगा।" इसलिए आरम्भ में उन्होंने एक तेज-तर्रार टीकाकार गढ़ा और उसे यह अख्तियार दिया कि आगे से मैं जो गढ़ूंगा, उसकी जांच का काम तुम्हारे जिम्मे रहा। इतनी तैयारी के बाद ब्रह्माजी ने अपना कारखाना चालू किया। ब्रह्माजी एक-एक चीज बनाते जाते और टीकाकार उसकी चूक दिखाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करता जाता। टीकाकार की जांच के सामने कोई चीज बे-ऐब ठहर ही न पाती। "हाथी ऊपर नहीं देख पाता, ऊंट ऊपर ही देखता है। गदहे में चपलता नहीं है, बन्दर अत्यन्त चपल है।" यों टीकाकार ने अपनी टीका के तीर छोड़ने शुरू किये। ब्रह्माजी की अकल गुम हो गई। फिर

भी उन्होंने एक आखिरी कोशिश कर देखने की ठानी और अपनी सारी कारीगरी खर्च करके 'मनुष्य' गढ़ा। टीकाकार उसे बारीकी से निरखने लगा। अन्त में एक चूक निकल ही आई। "इसकी छाती में एक खिड़की होनी चाहिए थी, जिससे इसके विचार सब समझ पाते।" ब्रह्माजी बोले, "तुझे रचा, यही मेरी एक चूक हुई, अब मैं तुझे शंकरजी के हवाले करता हूं।"

यह एक पुरानी कहानी कहीं पढ़ी थी। इसके बारे में शंका करने की सिर्फ एक ही जगह है। वह यह कि कहानी के वर्णन के अनुसार टीकाकार शंकरजी के हवाले हुआ नहीं दीखता। शायद ब्रह्माजी को उसपर दया आई हो, या शंकरजी ने उनपर अपनी शक्ति न आजमाई हो। जो हो, इतना सच है कि आज उनकी जाति बहुत फैली हुई पाई जाती है। गुलामी के जमाने में कर्तृत्व बाकी न रह जाने पर वक्तव्य को मौका मिलता है। काम की बात खत्म हुई कि बात का ही काम रहता है, और बोलना ही है तो नित्य नये विषय कहां से खोजे जायं ? इसलिए एक सनातन विषय चुन लिया गया "निन्दा-स्तुति जन की, वार्ता वधू-धन की।" पर निन्दा-स्तुति में भी तो कुछ बाट-बखरा होना चाहिए। निन्दा अर्थात् पर-निन्दा और स्तुति अर्थात् आत्म-स्तुति। ब्रह्माजी ने टीकाकार को भला-बुरा देखने को तैनात किया था। उसने अपना अच्छा देखा, ब्रह्माजी का बुरा देखा। मनुष्य के मन की रचना ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दूसरे के दोष उसको जैसे उभरे हुए साफ दिखाई देते हैं, वैसे गुण नहीं दिखाई देते। संस्कृत में 'विश्वगुणादर्श-चंपू' नाम का एक काव्य है। वेंकटाचारी नाम के एक दाक्षिणात्य पंडित ने लिखा है। उसमें यह कल्पना है कि कृशानु और विश्वावसु नाम के गंधर्व विमान-में बैठकर फिर रहे हैं, और जो कुछ उनकी नजरों के सामने आता है, उसकी चर्चा किया करते हैं। कृशानु दोष-द्रष्टा है, विभावसु गुण-ग्राहक है। दोनों अपनी-अपनी दृष्टि से वर्णन करते हैं। गुणादर्श अर्थात् 'गुणों का दर्पण' इस काव्य का नाम रखकर कवि ने अपना निर्णायक मत विभावसु के पक्ष में दिया है। फिर भी कुल मिलाकर वर्णन का ढंग कुछ ऐसा है कि अन्त में पाठक के मन-पर कृशानु के मत की छाप पड़ती है। गुण लेने के इरादे से लिखी हुई चीज-की तो यह दशा है। फिर दोष देखने की वृत्ति होती तो क्या हाल होता ?

चंद्र की भांति प्रत्येक वस्तु के शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष होते हैं। इसलिए दोष ढूंढ़नेवाले मन के यथेच्छ विचरने में कोई बाधा पड़नेवाली नहीं है। 'सूर्य दिन में दिवाली करता है, फिर भी रात को अंधेरा ही देता है,' इतना ही कह देने से उस सारी दिवाली की होली हो जायगी। उसमें भी अवगुण ही लेने का नियम बना लिया जाय तो दो दिनों में एक रात न दिखकर एक दिन की अलग-अलग दो रातें दिखाई देंगी। फिर अग्नि की ज्योति की ओर ध्यान न जाकर धुएं से अग्नि का अनुमान करनेवाले न्याय-शास्त्र का निर्माण होगा। भगवान् ने ये सब मजे की बातें गीता में बतलाई हैं। अग्नि का धुआं, सूर्य की रात अथवा चंद्र का कृष्णपक्ष देखनेवाले 'कृष्ण-भक्तों' का उन्होंने एक स्वतन्त्र वर्ग रखा है। दिन में आंख बंद की तो अंधेरा और रात को आंखें खोलीं तो अंधेरा—स्थितप्रज्ञ की इस स्थिति के अनुसार इन लोगों का कार्यक्रम है। पर भगवान ने स्थितप्रज्ञ के लिए मोक्ष बतलाया है तो इनके लिए कपाल-मोक्ष। पर इतना होने पर भी यह सम्प्रदाय छुतहे रोग की तरह बढ़ रहा है। पुतली के काली होने या काले रंग में आकर्षण अधिक होने की वजह से काला पक्ष जैसा हमारी आंख में भरता है वैसा उज्ज्वल पक्ष नहीं भरता। ऐसी स्थिति में यह सांप्रदायिक रोग किस औषधि से अच्छा होगा, यह जान रखना जरूरी है।

पहली दवा है चित्त में भिदी हुई इस 'कृष्ण-भक्ति' को बाहरी कृष्ण न दिखायें, भीतर के कृष्ण के दर्शन करायें। लोगों की कालिख देखने की आदी निगाह को मन के भीतर की कालिख दिखावें। विश्व के गुण-दोष को जांचकर देखनेवाला मनुष्य बहुधा अपने-आपको निर्दोष मान बैठता है। उसका यह भ्रम दूर होने पर उसके परीक्षण का डंक अपने-आप टूट जाता है। बाइबिल के 'नये करार' में इस बारे में एक सुन्दर प्रसंग का उल्लेख है—एक बहन से कोई बुरा काम शायद हो गया। उसकी जांच करके न्याय देने के लिए पंच बैठे थे। वहां श्रवण-भक्त भी काफी तादाद में जुट गए होंगे, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं। किन्तु विशेषता यह थी कि उस बहन का सद्भाग्य भगवान ईसा को वहां खींच लाया था। पंचों ने फैसला सुनाया—"इस बहन ने घोर अपराध किया है। सब लोग पत्थरों से मारकर उसे शरीर से मुक्त करें। फैसला सुनते ही लोगों के हाथ फड़कने लगे और आसपास के ढेले

थर-थर कांपने लगे। भगवान् ईसाको उन ढेलों पर दया आई। उन्होंने खड़े होकर सबसे एक ही बात कही, "जिसका मन बिल्कुल साफ हो वह पहला ढेला मारे।" जमात जरा देर के लिए ठिठक गई। फिर धीरे-धीरे वहां से एक-एक आदमी खिसकने लगा। अंत में वह अभागी बहन और भगवान् ईसा, ये दो ही रह गए। भगवान् ने उसे थोड़ा उपदेश देकर प्रेम से विदा किया। वह कहानी हमें सदा ध्यान में रखनी चाहिए।

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय।
जो घट खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय॥

दूसरी दवा है मौन। पहली दवा दूसरे के दोष दीखे ही नहीं, इसलिए है। दृष्टि-दोष से दोष दीखने पर यह दूसरी दवा अचूक काम करती है। इससे मन भीतर-ही-भीतर तड़फड़ायेगा। दो-चार दिन नींद भी खराब जायगी; पर आखिर में थककर मन शांत हो जायगा। तानाजी के खेत रहने पर मावले पीठ दिखा देंगे, ऐसे रंग दिखाई पड़ने लगे। तब जिस रस्सी की मदद से वे गढ़ पर चढ़े थे और जिसकी मदद से अब वे उतरने का प्रयत्न करनेवाले थे, वह रस्सी ही सूर्याजी ने काट डाली। वह "रस्सी तो मैंने कभी-की काट दी है।" सूर्याजी के इस एक वाक्य ने लोगां में निराशा की वीरश्री पैदा कर दी और गढ़ सर हो गया। रस्सी काट डालने का तत्वज्ञान बहुत ही महत्व का है। मौन रस्सी काट देने जैसा है। 'या तो दूसरे के दोष देखना भूल जा, नहीं तो बैठकर तड़फड़ाता रह'। मन पर यह नौबत आ जाती है और यह हुआ नहीं कि सारा रास्ता सीधा हो जाता है। कारण, जिसको जीना है, उसके लिए बहुत समय तक तड़फड़ाते बैठना सुविधाजनक नहीं होता।

तीसरी दवा है कर्म योग में मग्न हो रहना। जैसे आज सूत कातना अकेला ही ऐसा उद्योग है कि छोटे-बड़े सबको काफी हो सकता है, वैसे ही कर्मयोग एक ही ऐसा योग है, जिसकी सर्वसाधारण के लिए बे-खटके सिफारिश की जा सकती है। किंबहुना, सूत कातना ही आज का कर्मयोग है।

सूत कातने का कर्म-योग स्वीकार किया कि लोक-निंदा को मथते रहने की फुर्सत ही नहीं रहती। जैसे किसान अन्न-अन्न के दाने को असली कीमत समझता है वैसे ही सूत कातनेवाले को एक-एक क्षण के महत्व का पता चलता है। "क्षणभर भी खाली न जाने दें," समर्थ की यह सूचना अथवा "क्षणार्ध

भी व्यर्थ न खो" नारद का यह नियम क्या कहता है, यह सूत कातते हुए, अक्षरशः समझने में आता है। कर्मयोग का सामर्थ्य अद्‌भुत है। उसपर जितना जोर दिया जाय, कम है। यह मात्रा ऐसे अनेक रोगों पर लागू है, पर जिस रोग की उपाय-योजना इस समय की जा रही है, उसपर उसका अद्‌भुत गुण अनुभूत है।

तीन दवाएं बताई गई। तीनों दवाएं रोगियों की जीभ को कड़वी तो लगेंगी, पर परिणाम में वे अतिशय मधुर हैं। आत्म-परीक्षण से मन का, मौन-से वाणी का और कर्मयोग से शरीर का दोष झड़े बिना आत्मा को आरोग्य नहीं मिलेगा। इसलिए कड़वी कहकर दवा छोड़ी नहीं जा सकती। इसके सिवा यह दवा शहद के साथ लेने की है, जिससे इसका कड़वापन मारा जायगा। सब प्राणियों में भगवद्‌भाव होना मधु है। उसमें घोलकर ये तीन मात्राएं लेने से सब मीठा हो जायगा।

: २३ :

कवि के गुण

एक सज्जन का सवाल है कि आजकल हम में पहले की तरह कवि क्यों नहीं है? इसके उत्तर में नीचे के चार शब्द लिखता हूं—

आजकल कवि क्यों नहीं हैं? कवि के लिए आवश्यक गुण नहीं हैं, इसलिए। कवि होने के लिए किन गुणों की आवश्यकता होती है? अब हम इसीपर विचार करें।

कवि माने मन का मालिक। जिसने मन नहीं जीता, वह ईश्वर की सृष्टि का रहस्य नहीं समझ सकता। सृष्टि का ही नाम काव्य है। जबतक मन नहीं जीता जाता, राग-द्वेष शांत नहीं होते, तब तक मनुष्य इन्द्रियों का गुलाम ही बना रहता है। इन्द्रियों के गुलाम को ईश्वर की सृष्टि कैसे दिखाई दे? वह बेचारा तो तुच्छ विषय-सुख में ही उलझा रहेगा। ईश्वरीय सृष्टि विषय-सुख से परे है। इस परे की सृष्टि के दर्शन हुए बिना कवि बनना असंभव

है। सूरदास की आंखें उनकी इच्छा के विरुद्ध विषयों की ओर दौड़ा करती थीं। उन आंखों को फोड़कर जब वह अंधे हुए तब उन्हें काव्य के दर्शन हुए। बालक ध्रुव ने घोर तपश्चर्या द्वारा जब इन्द्रियों को वश में कर लिया तब भगवान् ने अपने काव्यमय शंख से उसके कपोल को छू दिया और इस स्पर्श के साथ ही उस अज्ञान बालक के मुख से साक्षात् वेदवाणी का रहस्य व्यक्त करनेवाला अद्भुत काव्य प्रकट हुआ। तुकाराम ने जब शरीर, इन्द्रिय और मन को पूर्ण रूप से भंग किया तभी तो महाराष्ट्र को अभंग-वाणी का लाभ हुआ। मनोनिग्रह के प्रयत्न में जब शरीर पर चींटियों के वमीठे चढ़ गए तब उसमें से आदि-काव्य का उदय हुआ। आज तो हम इन्द्रियों की सेवा के हाथ बिक गए हैं। इसलिए हममें आज कवि नहीं है।

समुद्र जैसे नदियों को अपने उदर में स्थान देता है, उसी प्रकार समस्त ब्रह्मांड को अपने प्रेम से ढक ले, इतनी व्यापक बुद्धि कवि में होनी चाहिए। पत्थर में ईश्वर के दर्शन करना काव्य का काम है। इसके लिए व्यापक प्रेम की आवश्यकता है। ज्ञानेश्वर महाराज भैंसे की आवाज में भी वेद श्रवण कर सके, इसीलिए वह कवि हैं। वर्षा शुरू होते ही मेंढकों को टर्राता देख वसिष्ठ को जान पड़ा कि परमात्मा द्वारा कृपा की वर्षा से कृतकृत्य हुए सत्पुरुष ही इन मेंढकों के रूप में अपने आनन्दोद्गार प्रकट कर रहे हैं, और इसपर उन्होंने भक्ति-भाव से उन मेंढकों की स्तुति की। यह स्तुति ऋग्वेद में 'मंडूक-स्तुति' के नाम से ली गई है। अपनी प्रेमल वृत्ति का रंग चढ़ाकर कवि सृष्टि की ओर देखता है। इसीसे उसका हृदय सृष्टि-दर्शन से नाचता है। माता के हृदय में अपनी संतान के प्रति प्रेम होता है, इसीलिए उसे देखकर उसके स्तनों का दूध रोके नहीं रुकता। वैसे ही सकल चराचर सृष्टि के प्रति कवि का मन प्रेम से भरा होता है, इससे उसके दर्शन हुए कि वह पागल हो जाता है। उसकी वाणी से काव्य की धारा बह निकलती है। वह उसे रोक ही नहीं पाता। हममें ऐसा व्यापक प्रेम नहीं। सृष्टि के प्रति उदार बुद्धि नहीं। पुत्र-कलत्र-गृहादि से परे हमारा प्रेम नहीं गया है। फिर 'वृक्ष वल्ली आम्हां वनचरे सोयरों'—'वृक्ष, लता और वचन हमारे कुटुंबी हैं'—यह काव्य हमें कहां से सूझे!

कवि को चाहिए कि वह सारी सृष्टि पर आत्मिक प्रेम की चादर डाल दे।

वैसे ही उसको सृष्टि के वैभव से अपनी आत्मा को सजाना चाहिए। वृक्ष, लता और वनचरों में उसे आत्मदर्शन होना चाहिए। साथ ही आत्मा में वृक्ष, वल्ली, वनचरों का अनुभव करते आना चाहिए। विश्व आत्मरूप है, इतना ही नहीं, बल्कि आत्मा विश्वरूप है, यह कवि को दिखाई देना चाहिए। पूर्णिमा के चंद्र को देखकर उसके हृदय-समुद्र में ज्वार आना ही चाहिए, किंतु पूर्णिमा के अभाव में उसके हृदय में भाटा न होना चाहिए। अमावस्या के गाढ़ अंधकार में आकाश बादलों से भरा होने पर भी चंद्र दर्शन का आनंद उसे मिलना चाहिए। जिसका आनंद बाहरी जगत् में मर्यादित है, वह कवि नहीं है। कवि आत्मनिष्ठ है, कवि स्वयंभू है। पामर दुनिया विषय-सुख से झूमती है, कवि आत्मानंद में डोलता है। लोगों को भोजन का आनंद मिलता है, कवि को आनंद का भोजन मिलता है। कवि संयम का संयम है और इसलिए स्वतंत्रता की स्वतंत्रता है। टेनिसन ने बहते झरने में आत्मा का अमरत्व देखा; कारण अमरत्व का बहता झरना उसे अपनी आत्मा में दिखाई दिया था। कवि विश्व-सम्राट् है, कारण वह हृदय-सम्राट् होता है। कवि को जाग्रत अवस्था में महाविष्णु की योगनिद्रा के स्वप्नों का ज्ञान होता है, और स्वप्न में जाग्रत नारायण की जगत्-रचना देखने को मिलती है। कवि के हृदय में सृष्टि का सारा वैभव संचित रहता है। हमारे उदर में भूख का ज्ञान भरा हुआ है और मुख में भीख़ की भाषा। जहां इतना भान भी अभी स्पष्ट नहीं हुआ कि मैं स्वतंत्र हूं अथवा मनुष्य हूं, वहां आत्मनिष्ठ काव्य-प्रतिभा की आशा नहीं की जा सकती।

कवि में 'लोक-हृदय को यथावत् संप्रकाशित' करने का सामर्थ्य होना चाहिए, यह सभी मानते हैं। पर लोगों को इस बात का भान नहीं होता कि सत्य-निष्ठा इस सामर्थ्य का मूलाधार है। सत्यपूत वाणी से अमोघ वीर्य (वीरता) उत्पन्न होता है। जो "सत्य होगा वही बोलूंगा," इस तरह के नैष्ठिक सत्याचरण के फलस्वरूप ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि "जो बोला जायगा वही सत्य होगा।" भवभूति ने ऋषियों के काव्य-कौशल-का वर्णन किया है कि "ऋषि पहले बोल जाते और बाद में उसमें अर्थ प्रविष्ट होता।" इसका कारण है ऋषियों की सत्यनिष्ठा। 'समूलो वा एष परिशुष्यति। योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्।" जो असत्य

बोलता है वह समूल शुष्क हो जाता है, अतः मुझे असत्य नहीं बोलना चाहिए। प्रश्नोपनिषद् में ऋषि ने ऐसी चिंता प्रदर्शित की है। जाज्वल्य सत्य निष्ठा में से काव्य का जन्म होता है। वाल्मीकि ने पहले रामायण लिखी, बाद को राम ने आचरण किया। वाल्मीकि सत्यमूर्त्ति थे, अतः राम को उनका काव्य सत्य करना ही पड़ा। और वाल्मीकि के राम थे भी कैसे —"द्विः शरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।" राम न दोबारा बाण छोड़ते हैं और न दो बार बोलते हैं। आदि-कवि की काव्य-प्रतिभा को सत्य का आधार था। इसीसे उनके ललाट पर अमरत्व का लेख लिखा गया। सृष्टि के गूढ़ रहस्य अथवा समाज-हृदय की सूक्ष्म भावनाएं व्यक्त कर दिखाने का सामर्थ्य चाहते हो तो सत्यपूत बोलना चाहिए। हूबहू वर्णन करने की शक्ति एक प्रकार की सिद्धि है। कवि वाचासिद्ध होता है, कारण वह वाचा-शुद्ध होता है। हमारी वाचा शुद्ध नहीं है। असत्य को हम खपा लेते हैं, इतना ही नहीं, सत्य हमें खटकता है, ऐसी हमारी दीन दशा है। इसलिए कवि का उदय नहीं होता।

कवि की दृष्टि शाश्वत कालकी ओर रहनी चाहिए। अनंत कालकी ओर नजर हुए बिना भवितव्यता का परदा नहीं खुलता। प्रत्यक्ष से अंध हुई बुद्धि को सनातन सत्य गोचर नहीं होते। सुकरात को विष का प्याला पिलानेवाले तर्क ने सुकरात को मर्त्य देखा। "मनुष्य मर्त्य है और सुकरात मनुष्य है, इसलिए सुकरात मर्त्य है।" इससे आगे की कल्पना उस टटपूंजिये तर्क को न सूझी, लेकिन विषप्राशन के दिन आत्मा की सत्ता के संबंध में प्रवचन करनेवाले सुक-रात को परे का भविष्य स्पष्ट दिखाई देता था। भवितव्यता के उदर में सत्य की जय को छिपा हुआ वह देख रहा था। इस वजह से वह वर्तमान युग के विषय में बेफिक्र रहा। ऐसी उदासीन वृत्ति मन में रमे बिना कवि-हृदय का निर्माण नहीं हो सकता। संसार के सब रस करुण रस की गुलामी में लगे रहनेवाले हैं, यह बात समाज के चित्त पर अंकित कर देने का भवभूति ने अनेक प्रकार से प्रयत्न किया। पर तत्कालीन विषयलोलुप उन्मत्त समाज को वह मान्य न हुआ। उसने भवभूति को ही फेंक दिया। पर कवि ने अपनी भाषा न छोड़ी। कारण, शाश्वत काल पर उसे भरोसा था। शाश्वत काल पर नजर रखने की हमारी हिम्मत नहीं होती। चारों तरफ से घिरा हुआ हिरन जैसे

हताश होकर आस-पास देखना छोड़ देता है और झट बैठ जाता है, वैसे ही हमारी विषय-त्रस्त बुद्धि से भावी काल की ओर देख सकना नहीं होता। "को जाने कल की ? आज जो मिले वह भोग लो", इस वृत्ति से काव्य की आशा नहीं हो सकती।

ईशावास्योपनिषद् के निम्नलिखित ब्रह्मपरमंत्र में यहअर्थसुझाया गया है:

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

अर्थ—कवि (१) मन का स्वामी, (२) विश्व-प्रेम से भरा हुआ, (३) आत्मनिष्ठ, (४) यथार्थभाषी और (५) शाश्वत काल पर दृष्टि रखनेवाला होता है।

मनन के लिए निम्नलिखित अर्थ सुझाता हूं—

(१) मन का स्वामित्व=ब्रह्मचर्य, (२) विश्व प्रेम=अहिंसा, (३) आत्मनिष्ठता=अस्तेय, (४) यथार्थभाषित्व=सत्य, (५) शाश्वत काल पर दृष्टि=अपरिग्रह।

: २४ :

फायदा क्या है ?

कहते हैं रेखागणित की रचना पहले-पहल यूक्लिड ने की। वह ग्रीस (यूनान) का रहनेवाला था। उसके समय में ग्रीस के सब शिक्षितों के दिमाग राजनीति से भर गये थे—या यों कहिये कि उनके दिमागों में राजनीति के पत्थर भरे थे। इस वजह से रेखागणित के कद्रदां दुर्लभ हो गये थे और यूक्लिड तो रेखागणित पर मुग्ध था फिर भी जैसे आज चरखे पर मुग्ध एक मानव ने बहुतेरे राजनीति-विशारदों को चक्कर में डाल दिया, वैसे ही यूक्लिड ने भी बहुतेरे राजनीतिज्ञों को रेखाएं खींचने में लगा दिया था। रोज यूक्लिड के घर पर रेखागणित के शिक्षार्थियों का जमघट लगता और वह उन्हें अपना आविष्कार कुशलतापूर्वक समझाता।

बहुतेरे राजनीतिज्ञों को यूक्लिड की ओर आकर्षित होते देख राजा के मन में आया,' "हम भी चल देखें, कुछ फायदा होगा।" उसने हफ्तेभर यूक्लिड के पास रेखागणित सीखा। अंत में उसने यूक्लिड से पूछा, "मुझे आज रेखागणित सीखते सात दिन हो गये, पर यह न समझ में आया कि इससे फायदा क्या है?" यूक्लिड ने गंभीरता पूर्वक अपने एक शिष्य से कहा, "सुनो जी, इन्हें चार आने रोज के हिसाब से सात दिन के पौने दो रुपये दे दो।" फिर राजा की ओर मुखातिब होकर कहा, "तुम्हारा इस हफ्ते का काम पूरा हो गया, कल से तुम कहीं और काम ढूंढ़ो।" क्या वह राजनीति-कुशल राजा झेंपने के बजाय पौने दो रुपये पल्ले पड़ने से खुश हुआ होगा? हम लोगों की मनोवृत्ति उस ग्रीक राजा की-सी बन गई है।

हर बात में फायदा देखने की बहुतों की आदत पड़ गई है। सूत कातने से बड़ा फायदा है, इससे लेकर स्वराज्य हासिल होने तक के फायदे के बारे में दसियों सवाल होते हैं। ये फायदावादी लोग अपनी फायदेवाली अक्ल को जरा और आगे हांक ले जायं तो तत्वज्ञान की ठेठ चोटी पर पहुंच जायंगे। तत्वज्ञान के शिखर से ये लोग केवल एक प्रश्न के ही पीछे हैं और वह प्रश्न है—"फायदे से भी क्या फायदा है?" एक लड़का अपने बाप से कहता है, "बाबूजी, गाय-भैंस का फायदा तो समझ में आता है कि उनसे हमें रोज दूध पीने को मिलता है; लेकिन कहिये तो इन बाघ-बघेरों और सांपों के होने से क्या फायदा है?" बाप जवाब देता है, "समूची सृष्टि मनुष्य के फायदे के लिए ही है, इस बेकार की गलतफहमी में हम न रहें, यही इनका फायदा है।"

कालिदास ने एक जगह मनुष्य को 'उत्सव-प्रिय' कहा है। कालिदास का मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान गहरा था और इसीसे वह कवि कहलाने के अधिकारी हुए। सभीका अनुभव है कि मनुष्य को उत्सव-प्रिय है, लेकिन क्यों प्रिय है? पाठशाला के लड़कों को रविवार की छुट्टी क्यों प्यारी लगती है? छः दिन दीवारों के घेरे में घिरे रहने के बाद रविवार को जरा स्वच्छंदता के सांस ले पाते हैं, इस कारण। मनुष्य को उत्सव प्यारा क्यों है, इसका भी उत्तर ऐसा ही है। दुःखों से दबा हुआ हृदय उत्सव के कारण हलका हो जाता है। हमारे घर अठारह बिस्वे दारिद्रय रहता है, इसीसे लड़के का ब्याह रचने पर हम

जेवनार में अठारह दूना छत्तीस व्यंजन बनाना नहीं भूलते। सारांश यह कि मनुष्य उत्सव-प्रिय है, यह उसके जीवन के दुःखमय होने का सबूत है। वैसे ही आज जो हमारी बुद्धि सिर्फ फायदावादी बन गई है, यह हमारे राष्ट्र के महान् बौद्धिक दिवालियेपन का सबूत है।

हमेशा फायदे की शरण जाने की बान पड़ जाने से हमारे समाज में साहस का ही अभाव-सा हो रहा है। इसके कारण ब्राह्मण-वृत्ति, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति लुप्त-सी हो रही है। ब्राह्मण के मानी हैं साहस की साक्षात् प्रतिमा। मृत्यु के परले पार की मौज लेने के निमित्त जीवन की आहुति देने-वाला ब्राह्मण कहलायेगा। फायदा कहेगा, "मौत के बाद की बात किसने देखी है ? हाथ का घड़ा पटककर बादल का भरोसा क्यों करें ?" फायदे के कोश में साहस शब्द मिलना ही संभव नहीं। और मिल भी गया तो उसका अर्थ लिखा होगा 'मूर्खता' ! यदि फायदे के कोश से जीवन-गीता की संगति बिठाई जाय तो फल-त्याग की अपेक्षा त्याग का फल क्या है, यह प्रश्न पैदा हो जायगा। ऐसी स्थिति में सच्ची ब्राह्मणवृत्ति के लिए ठौर ही कहां रहेगा ? "त्याग करना, साहस करना, यह सब ठीक है।" फायदावादी कहता है, "पर क्या त्याग के लिए ही त्याग करने को कहते हो ?" "नहीं, त्याग के लिए त्याग नहीं कहता, फायदे के लिए त्याग सही।" "पर वह फायदा कब मिलना चाहिए, इसकी कोई मियाद बताइयेगा या नहीं ?" "तुम्हारा कोई कायदा है कि फायदा कितने दिन में मिलना चाहिए ?" वह कहेगा, "त्याग-के दो दिन पहले मिल जाय तो अच्छा है।" समर्थ गुरु रामदास ने लोगों के लालची स्वभाव का वर्णन करते हुए 'कार्यारंभ में देव (ईश्वर) का नाम लेना चाहिए,' इस कथन का अर्थ फायदे के कोश के अनुसार किया, "कार्यारंभी देव, अर्थात् काम के शुरू में कुछ तो देव (दो)।" सारांश फल ही देव है और वह काम करने के पूर्व मिलना चाहिए, इसका नाम है बाफायदा तत्त्व-ज्ञान ? जहां (बेचारे) देव (ईश्वर) की यह दशा है वहां ब्राह्मणवृत्ति की बात ही कौन पूछता है ?

परलोक के लिए इस लोक को छोड़नेवाला साहस तो सरासर पागलपन है, इसलिए उसका तो विचार ही नहीं करना है। इससे उतरकर हुई क्षात्र-वृत्ति उर्फ मिलावटी पागलपन। इह-लोक में बाल-बच्चे, अड़ोसी-पड़ोसी,

या देश की रक्षा के लिए मरने की तैयारी का नाम है क्षात्रवृत्ति। पर 'आप मरे तो जग डूबा' यह फायदे का सूत्र लगाकर देखिये तो इस मिलावटी पागलपन का मतलब समझ में आ जायगा। राष्ट्र की रक्षा क्यों, अथवा स्वराज्य क्यों? मेरे फायदे के लिए। और जब मैं ही चल बसा तो फिर स्वराज्य लेकर क्या होगा? यह भावना आई कि क्षात्रवृत्ति का साहस विदा हुआ।

वाकी रही वैश्यवृत्ति। पर वैश्यवृत्ति में भी कुछ कम साहस नहीं चाहिए। अंग्रेजों ने दुनियाभर में अपना रोजगार फैलाया तो विना हिम्मत के नहीं फैलाया है। इंग्लैंड में कपास की एक डोंडी भी नहीं पैदा होती और आधे से अधिक हिन्दुस्तान को कपड़ा देने की करामात कर दिखाई! कैसे? इंग्लैंड के इतिहास में समुद्री यात्राओं के प्रकरण साहसोंसे भरे पड़े हैं। कभी अमरीका की यात्रा तो कभी हिन्दुस्तान का सफर; कभी रूस की परिक्रमा तो कभी सु-आशा अंतरीप के दर्शन; कभी नील नदी के उद्गम की तलाश है तो कभी उत्तरी ध्रुव के किनारे पहुंचे हैं। यों अनेक संकट-भरे साहसों के वाद ही अंग्रेजों का व्यापार सिद्ध हुआ है। यह सच है कि यह व्यापार अनेक राष्ट्रों की गुलामी का कारण हुआ। इसीसे आज वह उन्हींकी जड़ काट रहा है। पर जो हो, साहसी स्वभाव को तो सराहना ही होगा। हममें इस वैश्य-वृत्ति का साहस भी वहुत-कुछ नहीं दिखाई देता। कारण, फायदा नहीं दीखता।

जव तक तकलीफ सहने की तैयारी नहीं होती तव तक फायदा दीखने का ही नहीं। फायदे की इमारत नुकसान की धूप में बनी है।

: २५ :

चार पुरुषार्थ

मनुष्य के अंतःकरण की सूक्ष्म भावनाओं की दृष्टि से समाज-रचना का गहरा अध्ययन करके हमारे ऋषियों ने अनेक सुंदर कल्पनाओं का आविष्कार

किया है 'अनंतवैमनः । अनंता विश्वदेवाः'—मन की अनंत वृत्तियां होने के कारण विश्व में भी अनंत शक्तियां उत्पन्न होती हैं, इन अनंत मानसिक वृत्तियों और सामाजिक शक्तियों का सम्पूर्ण साक्षात्कार करके ऋषियों ने धर्म की रचना की है। स्वयं ऋषि ही कहते है; 'ऋषिः पश्यन् अबोधत।' योगशास्त्र में योगी की 'अर्धोन्मीलित' दृष्टि का वर्णन किया गया है। इसका रहस्य है—विश्व में ओतप्रोत शक्तियों के अवलोकन तथा निरीक्षण के लिए आधी दृष्टि खुली रहे और अपने हृदय में सन्निहित वृत्तियों के परीक्षण के लिए आधी दृष्टि भीतर की तरफ मुड़ी रहे। काल के कराल जबड़े में पिसने-वाले दीनजनों के प्रति करुणा से आधी दृष्टि खुली हुई और अन्तर्यामी परमेश्वर के प्रेम-रस के पान से मतवाली होने के कारण आधी दृष्टि मुंदी हुई। योगी ऋषियों की इस अर्धोन्मीलित दृष्टि ने अन्तर्बाह्य सारी सृष्टि के दर्शन कर लिए थे। इसीसे हिन्दूधर्म अनेक आश्चर्यकारक कल्पनाओं का भंडार बन गया है। अर्जुन के अक्षय तरकस में बाणों की कमी होती ही न थी। उसी तरह हिन्दू-धर्म-रूपी महासागर में छिपे हुए रत्न कभी खतम ही नहीं हो सकते। ऋषियों की इन मनोहर कल्पनाओं में चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना भी एक ऐसा ही रमणीक रत्न है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ बतलाये गए हैं। इनमें से मोक्ष और काम दो परस्पर-विरोधी सिरों पर स्थित हैं। प्रकृति और पुरुष या शरीर और आत्मा में अनादि काल से संघर्ष चला आ रहा है। वेदों में जो वृत्र और इन्द्र के युद्ध का वर्णन है, वह इसी सनातन युद्ध का वर्णन है। 'वृत्र' का अर्थ है ज्ञान को ढंक देनेवाली शक्ति। 'इन्द्र' संज्ञा परोक्ष संकेत की द्योतक है और उस अर्थ को सूचित करने के लिए खासकर गढ़ी गई है। 'इदम्'—'द्र' या 'विश्वद्रष्टा', 'इन्द्र' शब्द का प्रत्यक्ष अर्थ है। यह है उसका स्पष्टीकरण। ज्ञान को ढांकने की कोशिश करनेवाली और ज्ञान का दर्शन करने की चेष्टा करनेवाली, इन दो शक्तियों का अर्थ क्रमशः जड़, शरीरात्मक, भौतिक शक्ति और चेतना, ज्ञानमय, आत्मिक शक्ति है। इन दोनों में सदा संघर्ष होता रहता है और मनुष्य का जीवन इस संघर्ष में फंसा हुआ है। ये दोनों परस्पर-विरोधी तत्व एक ही व्यक्ति में काम करते हैं, इसलिए मनुष्य का हृदय इनके युद्ध का 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' हो गया है। आत्मा को मोक्ष-पुरुषार्थ की

अभिलाषा होती है, शरीर को काम-पुरुषार्थ प्रिय है। दोनों एक-दूसरे का नाश करने की ताक में हैं।

मोक्ष कहता है, "काम आत्मा की जान लेने पर तुला हुआ उसका कट्टर वैरी है। उसे मार डालो—निष्काम बनो। यह बड़ा मायावी और स्नेही मालूम होता है। लेकिन इसके प्रेम के स्वांग पर मोहित होकर धोखा न खाना। यह जितना कोमल दीखता है उतना ही क्रूर है। इसके दिखाने के दांत प्रेममय हैं, पर खाने के दांत क्रोध से भरे हुए। ऊपर-ऊपर से यह चैतन्य-रस से परिपूर्ण बालकों को जन्म देता हुआ दिखाई देता है, लेकिन यह वास्तविक नहीं है। 'यह बूढ़ी महतारी अब तक मरती क्यों नहीं,' इसीकी इसे हमेशा फिक्र रहती है। याद रहे कि लड़के को जन्म देने का अर्थ है पिता की मृत्यु की तैयारी करना। अगर आपकी यह इच्छा होती कि आपके बाप-दादा, आपके पुरखा, जीवित रहें तो क्या आप लड़के और नाती-पोते पैदा करते ? क्या आपको पता नहीं कि इतने आदमियों का प्रचण्ड 'लोक-संग्रह' या मनुष्यों का ढेर पृथ्वी संभाल नहीं सकती ? आप इतना भी नहीं जानते ? मां तो मरने ही वाली है, वह हमारे वश की बात नहीं, यह कह देने से काम नहीं चलेगा। यह हम नहीं भुला सकते कि माता की मृत्यु की अवश्यम्भाविता स्वीकार करके ही पुत्र का उत्पादन किया जाता है। इसीलिए तो जन्म का भी 'सूतक' (जननाशौच) रखना पड़ता है। चैतन्य रस से भरे बालक को उत्पन्न करने का श्रेय अगर आपको देना हो, तो उसी रस से ओतप्रोत माता को मार डालने का पातक भी उसीके मत्थे होगा। उत्पत्ति और संहार, काम और क्रोध, एक ही छड़ी के दो सिरे हैं। 'काम' कहते ही उसमें 'क्रोध' का अन्तर्भाव हो जाता है। इसीलिए अहिंसक वृत्तिवाले सत्पुरुष संहार-क्रिया की तरह उत्पत्ति की क्रिया में भी हाथ नहीं बंटाते। सच तो यह है कि बालक का चैतन्य रस काम का पैदा किया हुआ होता ही नहीं। जिस गन्दे अंगरज से मलिन होने में मां-बाप अपने-आपको धन्य मानते हैं, वह रजोरस इसका पैदा किया होता है। कारण, इसका अपना जन्म ही रजोगुण की धूल (रज) से हुआ है। आप अगर इसके मनोरथ पूरे करने के फेर में पड़ेंगे तो यह कभी अघायेगा ही नहीं, इतना बड़ा पेटू है। जिस-जिसने इसे तृप्त करने का प्रयोग किया, वे सभी असफल हुए। उन सबको यही अनुभव हुआ

कि काम की तृप्ति कामोपभोग द्वारा करने का यत्न स्वयं क्षत्रिय बनकर पृथ्वी को निःक्षत्र करने के प्रयास की तरह व्याघातात्मक या असंगत है। इसे चाहे जितना भोग लगाइये, सब आग में घी डालने-जैसा ही होता है। इसकी भूख बढ़ती ही जाती है। अन्नदाता ही इसका सबसे प्यारा खाद्य है और उसे खाने में इसे निःसंदेह भस्मासुर से भी बढ़कर सफलता मिलती है। इसलिए इस कामासुर को वरदान देने की गलती न कीजिये।"

इसकी ठीक उलटी बात काम कहता है। वह भी उतनी ही गंभीरता से कहता—"मोक्ष के चकमे में आओगे तो नाहक अपना काल-मोक्ष (कपाल-क्रिया) करा लोगे। याद रखो, वेदांत को ही बदौलत हिन्दुस्तान चौपट हुआ है। यह तुम्हें स्वर्गसुख और आत्म-साक्षात्कार की मीठी-मीठी बातें सुनाकर भुलावे में डालेगा। लेकिन यह इसकी खालिस दगाबाजी है। ऐसे काल्पनिक कल्याण के पीछे पड़कर ऐहिक सुख को जलांजलि देना बुद्धिमानी की बात नहीं है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों की चर्चा यदि कोई घड़ी-भर मनोविनोद के लिए भोजन के अनंतर नींद आने से पहले या नींद आने के लिए करे तो उसकी वह क्रीड़ा क्षम्य मानी जा सकती है, परन्तु यदि कोई खाली पेट यह चर्चा करने का हौसला करेगा तो वह याद रखे कि उसे व्यावहारिक तत्त्वमसि (पैसे) की ही शरण लेनी होगी। चांदनी बिलकुल आटे-जैसी सफेद भले ही हो, परन्तु उसकी रोटियां नहीं बनतीं। और तो कुछ नहीं, मोक्ष की चिंता की बदौलत जीवन का आनंद खो बैठोगे। इस विश्व के विविध विषयों का स्वाद लेने के लिए तुम्हें इंद्रियां दी गई हैं। लेकिन यदि तुम 'जगन्मिथ्या' मानकर इन्द्रियों को मारने का उद्योग करते होंगे तो आत्मवंचना करोगे और आखिर तुम्हें पछताना पड़ेगा। पहले तो जो आंखों को साफ-साफ नजर आता है, उस संसार को मिथ्या मानो और फिर जिसके अस्तित्व के विषय में बड़े-बड़े दार्शनिक भी सशंक हैं, वैसी, 'आत्मा' नामक किसी वस्तु की कल्पना करो, इसका क्या अर्थ है? वेदों ने भी कहा है, 'कामस्तदग्रे समवर्तत'—सृष्टि की उत्पत्ति काम से हुई। और इसका अनुभव तो सभी को है। यदि दरअसल ईश्वर-जैसी कोई वस्तु हो तो भी कल यदि सभी लोग निष्काम होकर ब्रह्मचर्य पालन करने लगें, तो जिस सृष्टि को नष्ट होने से बचाने के लिए यही परमेश्वर समय-समय पर अवतार

धारण करता है, उसका पूरा-पूरा विध्वंस हुए बिना न रहेगा। 'मोक्ष' के माने अगर अत्यंतिक सुख हो तो सरल भाषा में अर्थ उसका चिरंतन कामोपभोग ही हो सकता है।"

यह है काम की दलील।

संपूर्ण त्याग और संपूर्ण भोग, ये परस्पर-विरोधी दो ध्रुव हैं। एक कहता है शरीर मिथ्या है, दूसरा कहता है आत्मा झूठी है। दोनों को एक-दूसरे की परवा नहीं, दोनों पूरे स्वार्थी हैं। लेकिन आत्मा और शरीर दोनों का मिलन मनुष्य में हुआ है। इसलिए इस तरह दोनों पक्ष में अपने ही सगे-संबंधी देखकर अर्जुन के लिए आत्मनिर्णय करना असंभव हो गया, उसी तरह कर्मयोग के धर्मक्षेत्र में अपने स्नेही-संबंधियों को दोनों विपक्षों से संलग्न देखकर मनुष्य के लिए किसी भी एक पक्ष के अनुकूल स्थायी और निश्चित निर्णय देना कठिन हो जाता है। मन की द्विधा स्थिति हो जाती है और एक मन शरीर का पक्ष लेता है, दूसरा आत्मा की हिमायत करता है। मनुष्य का जीवन अ-शरीर आत्मा और आत्महीन शरीर की संधि पर आश्रित है, इसलिए उसे शुद्ध आत्मवाद या मोक्ष-पूजा पचती नहीं, और शुद्ध जड़वाद या कामोपासना रुचती नहीं। इन दोनों मंत्रों में अद्वैत कायम करना, या उनका सामंजस्य करना बड़े कौशल का काम है। यह कर्म करने की चतुराई या 'कौशल' ही जीवन का रहस्य है।

यदि देहासक्त या नीचेवाले मन को 'मन' और आत्म-प्रवण या ऊपर-वाले मन को 'बुद्धि' नाम दिया जाय, तो 'मन' और 'बुद्धि' में एकता करके व्यवहार करना चाहिए। 'त्वयाऽधर्म—मयाऽधर्म' यह गणित की समता यहां किसी काम की नहीं। "घर में चार रोटियां हैं और दो लड़के हैं तो हरेक को कितनी रोटियां दी जायं?" ऐसी त्रैराशिक की समता अगर माताएं सीखने लगें तो बड़ा अंधेर हो जाय। एक लड़का दो साल का है और दूसरा पच्चीस वर्ष का। पहला अतिसार से मरेगा और दूसरा भूख से। ऐसे हिसाबी न्याय का अवलंबन करके आधा शरीर का संतोष, आधा आत्मा का संतोष करने की कोशिश से यह मसला हल नहीं होगा। समता का अर्थ है—योग्यता के अनुसार कीमत आंकना। गणित-शास्त्र में अनंत के आगे चाहे जितनी बड़ी सांत संख्या ली जाय तो भी उसकी कीमत अनंत के मुकाबले में

शून्य समझी जाती है, उसी तरह की योग्यता कितनी ही बढ़ाई जाय, तो भी आत्मा अनंत महिमा के मुकाबले में वह शून्यवत् हो जाती है। इसलिए निष्पक्ष समता को आत्मा के ही पक्ष का समर्थन करना चाहिए।

यह हुआ एक पक्ष। इस पक्ष की दृष्टि में शुद्ध आत्मपक्ष या आत्मवाद इष्ट है, परन्तु जब तक देह का बन्धन है तब तक वह शक्य नहीं प्रतीत होता। पर 'संसार छोड़कर परमार्थ करने से खाने को अन्न भी नहीं मिलता', यही कथन बहुतेरे लोगों के दिमाग में—या यों कह लीजिये कि पेट में—तुरंत घुस जाता है। 'उदरनिमित्तम्' सारा ढकोसला होने से सभी चाहते हैं कि गुड़-खोपड़े के नैवेद्य से ही भगवान् संतुष्ट हो जायं। नामदेव का दिया हुआ नैवेद्य भगवान् खाते नहीं थे, इसलिए वह वहीं धरना देकर बैठ गये। लेकिन इनका दिया हुआ गुड़-खोपड़ा यदि भगवान् सचमुच खाने लगे, तो भगवान् को एकादशी व्रत रखने के लिए यह नई मंडली सत्याग्रह किये बिना न रहेगी ! ये आत्मा को थोड़े-से संतुष्ट करना चाहते हैं। कारण कि अगर आत्मा को बिल्कुल ही संतोष न दिया जाय और केवल देवपूजा के धर्म का ही अनुसरण किया जाय तो उस देवपूजा के समर्थन के लिए नास्तिक तत्त्वज्ञान का पारायण करने पर भी अंतरात्मा का दंश बंद नहीं होता। इसलिए दोनों पक्षों की दृष्टि में समझौता वांछनीय है। यह समझौता कराने का भार धर्म और अर्थ ने लिया है।

जब दो आदमी मार-पीट करके एक-दूसरे का सिर फोड़ने पर आमादा हो जाते हैं तब उनका टंटा मिटाने के लिए दोनों पक्ष के लोग बीच-बचाव करने लगते हैं। उसी प्रकार आत्मवादी मोक्ष और देहवादी काम का झगड़ा मिटाने के लिए मोक्ष की तरफ से धर्म और काम की तरफ से अर्थ, ये दो पुरुषार्थ उपस्थित हुए हैं। अब, ये—कम-से-कम दिखाने को तो—समझौता कराने के लिए बीच-बचाव करते हैं, इसलिए निष्पक्ष वृत्ति या समझदारी के समझौते का स्वांग करना उनके लिए लाजिमी हो जाता है। अतः उनकी भाषा दोनों पक्षों को थोड़ी-बहुत खुश करनेवाली होनी चाहिए, और होती भी है। परंतु यद्यपि इन लोगों को तकरार मिटाने की बात करनी पड़ती है तथापि उनके दिल में यह उत्कट इच्छा नहीं होती कि दोनों पक्षों में से किसी

पर भी मार न पड़े। वे लहू-लुहान सिर देखना नहीं चाहते, मगर सिर्फ अपने पक्ष का। यदि केवल शत्रु-पक्ष के ही सिर फूटते हों तो उन्हें कोई परवाह न होती। लेकिन दुःख का विषय तो यह है कि शत्रु-पक्ष के साथ-साथ अपने पक्ष के सिर पर भी डंडे पड़ते ही हैं। इसीलिए झगड़ा तै कराने की इतनी उत्सुकता होती है। सारांश, धर्म और अर्थ यद्यपि टंटा मिटाने के लिए शांति-मंत्र जपते हुए बीच-बचाव करने आये हैं, तथापि वास्तव में धर्म के मन में यही इच्छा होती है कि काम का सिर अच्छी तरह कुचल दिया जाय, और अर्थ भी सोचता है कि मोक्ष मर जाय तो अच्छा हो ! किसी भी एक पक्ष का नाश होने से झगड़ा तो खतम होगा ही। कई बार जो काम लड़ाई से नहीं होता, वह सुलह से हो जाता है। योद्धाओं की तलवार की अपेक्षा राजनीतिज्ञों की कलम को कभी-कभी सफलता का अधिक हिस्सा मिलता है। 'मोक्ष' और 'काम' को अगर योद्धा मानें तो 'धर्म', और 'अर्थ' को राजनीतिज्ञ कहना चाहिए। दोनों समझौता चाहते हैं; लेकिन धर्म की यह कोशिश होती है कि संधि की शर्तें मोक्षानुकूल हों, और अर्थ की यह चेष्टा होती है कि वे कामानुकूल हों। प्रत्येक चाहता है कि समझौता तो हो, लेकिन अपने पक्ष की कोई हानि न हो। यहां इस समझौते का थोड़ा-सा नमूना ही दिखाया जा सकता है। उदाहरण के लिए—

मोक्ष ब्रह्मचारी और काम व्यभिचारी है। इस प्रकार ये दो सिरे हैं। धर्म कहेगा—"हमारा आदर्श ब्रह्मचर्य ही होना चाहिए, इसमें संदेह नहीं। उस आदर्श के पालन का जोरों से यत्न करना चाहिए। जब काम बहुत ही भूंकने लगे तब धार्मिक विधि के अनुसार गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार कर उसके आगे एकाध टुकड़ा डाल देना चाहिए। परन्तु वहां भी उद्देश्य तो संयम के पालन का ही होना चाहिए और फिर तैयारी होते ही श्रेष्ठ आश्रम में प्रवेश करके उससे छुटकारा पाना चाहिए। ब्रह्मचर्य से संसार उत्पन्न होगा, यह पाप के समर्थन में दी जानेवाली लचर दलील है। संसार के उत्पन्न होने की फिक्र आप न करें। उसके लिए भगवान् पर्याप्त हैं। ब्रह्मचर्य से सृष्टि नष्ट नहीं होगी, बल्कि मुक्ति होगी। फिर भी संयम का पालन करने के अभिप्राय से गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है। इसमें काम का भी थोड़ा-बहुत काम निकल जायगा। लेकिन इससे कब छुटकारा पाऊंगा, इसकी चिंता

और चिंतन लगातार करते रहना चाहिए। इससे मोक्ष की भी पूर्व-तैयारी हो जायगी।"

अर्थ कहेगा, "अगर व्यभिचार को स्वीकृति दी जाय तो संसार की व्यवस्था का अंत हो जायगा। इसलिए वह न इष्ट है, न संभव। परंतु ब्रह्मचर्य का नियम तो एकदम निसर्ग-विरोधी है। वह अशक्त ही नहीं, अनिष्ट भी है। तब, बीच का गृहस्थ-वृत्ति का ही राजमार्ग शेष रहता है। इस में थोड़ा-सा संयम का कष्ट जरूर है, लेकिन वह अपरिहार्य है। बुढ़ापे में इंद्रियां जर्जरित हो जाने पर अनायास ही त्याग हो जाता है। इसलिए यह त्याग की शर्त अपरिहार्य होने के कारण उसे मंजूर कर लेना चाहिए। इससे मोक्ष को भी ज़रा तसल्ली होगी। लेकिन विवाह का बंधन अभेद्य मानने का कोई कारण नहीं है। विवाह हमारे सुख के लिए होते हैं, हम विवाह के लिए नहीं हैं। इसीलिए हम विवाह के धर्म को स्वीकार नहीं करते, लेकिन विवाह की नीति को स्वीकार कर सकते हैं।"

मोक्ष की दृष्टि में अहिंसा परम धर्म है। पतंजलि ने कहा है कि यह 'जाति-देश-काल-समय' आदि सारे बंधन से परे 'सार्वभौम महाव्रत' है। इसके विपरीत काम का सिद्धांत-वाक्य 'ईश्वरोऽहमहं भोगी' है। इसलिए उसका तो बिना हिंसा के निर्वाह ही नहीं हो सकता, क्योंकि साम्राज्यवाद की वृकोदर-वृत्ति की इमारत हिंसा के ही पाये पर रची जा सकती है।

ऐसी हालत में धर्म कहेगा "कम-से-कम मानसिक हिंसा तो किसी हालत में नहीं होने देनी चाहिए। शरीर-धर्म के रूप में कुछ-न-कुछ हिंसा अनजाने भी हो ही जाता है। उसे भी कम करने की कोशिश करनी चाहिए। परंतु प्रयत्न करने पर भी कमज़ोरी के कारण जो हिंसा बाकी रह जायगी उतनी क्षम्य समझी जाय। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उतनी हिंसा करने का हमें अधिकार है। किंतु उतनी के लिए हम परमेश्वर से नम्रतापूर्वक क्षमा मांगें और अपनी बुद्धि शुद्ध रखें। अगर क्षमा-वृत्ति असंभव ही हो, तो 'सौ अपराध माफ करूंगा', जैसा कोई व्रत लेकर हिंसा को आगे टाल देना चाहिए। इतना करने पर भी हम अपनी वृत्ति को काबू में न रख सकें, हमारे अंतःकरण में छिपा हुआ पशु अगर जाग ही उठे तो हम अपने से अधिक बलवान् व्यक्ति से लोहा लें, कम-से-कम अपने से कम बलवान् को तो क्षमा

करें। यह भी नामुमकिन हो तो अपने बचाव के लिए हिंसा करें, हमला करने के लिए नहीं। उसमें भी फिर हिंसा के साधन, जहां तक हो सके, सीधे-सादे और सुथरे हों। केवल शरीर से ही द्वंद्व-युद्ध करें, हथियार काम में न लायें। सारांश, चाहे धर्म में हिंसा का स्थान भले ही न हो, लेकिन हिंसा में धर्म का स्थान अवश्य होना चाहिए।"

अर्थ कहेगा, "हिंसा के बिना संसार का चलना ही असंभव है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' सृष्टि का न्याय है। हमें उसे मानना ही पड़ेगा। लेकिन हिंसा करना भी एक कला है। उस कला में निपुणता प्राप्त किये बिना किसी को भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। मुसलमानों के राज में जितनी गायों की हत्या होती थी, उससे कई गुनी गायें अंग्रेजों के राज में कत्ल की जाती हैं, यह बात सरकारी आंकड़ों से साफ जाहिर है। लेकिन मुसलमान हिंसा की कला के पंडित नहीं थे, इसलिए उनके खिलाफ इतना हो-हल्ला मचा, अंग्रेजों से किसी को खास चिढ़ नहीं होती। इसका कारण है, हिंसा की कला। इन्फ्लूएंजा ने तीस करोड़ आदमियों में से थोड़े ही समय में साठ लाख आदमियों को खाकर अपने-आप को बदनाम कर लिया। वस्तुतः मलेरिया उससे अधिक आदमियों का कलेवा कर लेता है। लेकिन धीरे-धीरे चबा-चबाकर खाने का आहार-शास्त्र का नियम उसे मालूम है, इसलिए वह बड़ा साह ठहरा। नये चिकित्सा-विज्ञान का एक नियम है कि शीतोपचार और उष्णोपचार एक के बाद एक बारी-बारी से करते रहना चाहिए। वही नियम हिंसा पर भी लागू होता है। जबतक युद्ध के पश्चात् शांति-परिषद् और शांति-परिषद् के बाद फिर युद्ध, यह क्रम भली-भांति जारी न किया जा सके तबतक हिंसा नहीं करनी चाहिए। चूने पर ईंटें और ईंटों पर चूना रख-रख कर दीवार बनाई जाती है, और फिर उसपर चूना पोता जाता है। उसी प्रकार शांति के बाद युद्ध और युद्ध के बाद शांति के क्रम में साम्राज्य कायम करके उस साम्राज्य पर फिर शांति का चूना पोतना चाहिए। इसके बदले अगर केवल ईंटों पर ईंटें ही जमाई जायं तो सारी ईंटें लुढ़ककर गिर जाती हैं। इसलिए दो हिंसाओं के बीच एक अहिंसा को स्थान अवश्य देना चाहिए। इतना समझौता कर लेने में कोई हर्ज नहीं।"

'अर्थमनर्थंमृम् भावय नित्य' यह मोक्ष का सूत्र-वाक्य है। इसके विपरीत

जहां कामोपभोग ही महामंत्र है वहां अर्थ-संचय का अनुष्ठान स्वाभाविक ही है। धर्म के मत से 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'—मनुष्य की तृप्ति अर्थ संचयोंसे कदापि नहीं हो सकती। इसलिए अर्थसंग्रह करना ही हो तो उसकी मर्यादा बना लेनी चाहिए। सृष्टि का स्वरूप 'अश्वत्थ' है। अर्थात् कल के लिए संचय उसके पास नहीं है। इसलिए मनुष्य को भी 'अश्वत्थ-संग्रह' रखना चाहिए। 'स एवाद्य स उश्वः'—"वह आज भी है और कल भी है", वह वर्णन ज्ञान-संग्रह पर घटित होता है। इसलिए एक आदमी चाहे कितना भी ज्ञान क्यों न कमाये, उसके कारण दूसरे का ज्ञान नहीं घट सकता। परन्तु द्रव्य-संग्रह की यह बात नहीं है। मैं अगर पच्चीस दिन के लिए आज ही संग्रह करके रखता हूं तो मेरा व्यवहार चौबीस मनुष्यों का आज का संग्रह चुराने के बराबर है और इतने मनुष्यों को कम या अधिक मात्रा में भूखों मारने का पाप मेरे सिर है। इसके अलावा, सृष्टि में अधिक संग्रह ही न होने के कारण इतना संग्रह करने के लिए मुझे कुटिल मार्ग का अवलंबन करना पड़ता है। एकबारगी संग्रह करने में मेरी शक्ति पर अतिरिक्त बोझ पड़ता है। इसलिए मेरी वीर्य-हानि होती ही रहती है। इसके अतिरिक्त, इतना परिग्रह सुरक्षित रखने की चिंता के कारण मेरा चित्त भी प्रसन्न नहीं रह सकता। अर्थ-संग्रह की एक ही क्रिया में सत्य, अहिंसा अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों का सामुदायिक भंग होता है।

इसलिए कम-से-कम, यानी केवल शरीर-निर्वाह के लिए ही, संग्रह करना चाहिए। यह भी—'अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा'—"शरीर-श्रम द्वारा शरीर में से पानी निकालकर'—करना चाहिए। केवल शरीर-कर्म से शरीर-यात्रा चलाने से पाप लगने पर डर नहीं होता—'नाप्नोति किल्विषम्' यह भगवान् श्रीकृष्ण का आश्वासन है। परंतु जैसा कि कालिदास ने रघुवंश के राजाओं का वर्णन करते हुए कहा है, उसमें भी त्याग की वृत्ति होनी चाहिए। कारण, केवल तुम्हारा धन ही नहीं, तुम्हारा शरीर भी तुम्हारा निज का नहीं है; किंतु सार्वजनिक है, ईश्वर का है। सारांश, संग्रह का परिणाम अश्वत्थ या तात्कालिक, साधन शारीरिक श्रम, हेतु केवल शरीर-यात्रा और वृत्ति त्याग की हो, तो इतना भोग धर्म को मंजूर है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।'

अर्थ की राय में—

"संसार में जीवन-कलह चिरस्थायी है। जो योग्य होगा वह टिकेगा, जो अयोग्य होगा, उसका नाश होगा। इसलिए सबका सुभीता देखने का प्रयास व्यर्थ है। इसके अलावा, विश्व का विस्तार अनंत है। उसका एक जरा-सा ही हिस्सा हमारे काबू में आ पाया है। भौतिक शास्त्रों (विज्ञान) की ज्यों-ज्यों उन्नति होगी त्यों-त्यों हमारा प्रभुत्व भी अधिक विस्तृत होने की संभावना है। इसलिए अगर हम सबकी सुविधा देखने की अनावश्यक जिम्मेदारी स्वीकार कर भी लें, तो भी उसे पूरी करने का एकमात्र उपाय हमारा अपना संग्रह कम करना नहीं है। सबके सामुदायिक संग्रह की वृद्धि करने का एक दूसरा रास्ता भी हमारे लिए अभी खुला है और वह पौरुष का रास्ता है। सृष्टि में अक्षय भण्डार भरा हुआ है। पर हमें उसका पूरा ज्ञान नहीं है। इसलिए वैज्ञानिक आविष्कार की दिशा में प्रयत्न जारी रखकर भविष्य के लिए संग्रह करने में कोई हर्ज नहीं है—बल्कि संग्रह करना कर्तव्य है। मनुष्य की जरूरतें जितनी बढ़ेंगी उतना ही व्यापार को उत्तेजन मिलेगा और संपत्ति बढ़ेगी। इसलिए संग्रह अवश्य करना चाहिए।

"लेकिन बिल्कुल ही एकांतिक स्वार्थ ठीक नहीं होगा। कारण कि मनुष्य समाजबद्ध है, इसलिए उसे दूसरों के स्वार्थ का भी विचार करना ही पड़ता है। संसार की रोटी को स्वादिष्ट बनाने के लिए स्वार्थ के आटे में थोड़ा-सा परार्थ का नमक भी मिलाना जरूरी हो जाता है। लेकिन याद रहे कि आटे में नमक मिलाना है, न कि नमक में आटा। स्वार्थ के गाल पर परार्थ का तिल बना देने से शोभा बढ़ जाती है लेकिन तिल के बराबर बिंदी लगाना एक बात है और सारे गाल में काजल पोत लेना दूसरी बात है। परार्थ के सिद्धांतों को अगर अनावश्यक महत्व दिया जायगा तो परावलंबन को प्रोत्साहन मिलेगा। स्वार्थ स्वावलंबन का तत्व है। स्वार्थमय जीवन-संग्राम में जो दुर्बल ठहरेंगे उन्हें मरना ही चाहिए, और दुर्बलों को मारने में अगर हम कारणीभूत हों, तो वह दूषण नहीं है, किंतु भूषण ही है।

"एक दृष्टि से तो दान करना दूसरों का अपमान करना है। प्याऊ खोलने में पुण्य माना जाता है, लेकिन स्वयं धर्म-शास्त्रों ने ही कहा है कि प्याऊ पर पानी पीनेवाला पाप का भागी होता है, इसका क्या मतलब है?

क्या प्याऊ इसलिए होती है कि लोग उसका पानी ही न पियें ? दूसरों को पानी पिलाने से उन्हें हमारे पाप का अंश मिलेगा और हमारा पाप कुछ अंश में घटेगा, इस विचार में कहां तक उदारता है ? और फिर यह देखिये कि मैं लोगों की चिंता करूं और लोग मेरी चिंता करें, इस तरह का द्राविड़ी प्राणायाम करने के वदले क्या यही श्रेयस्कर नहीं है कि हरेक अपनी-अपनी फिक्र करे ? शहरों में फूहड़ स्त्रियां अपने वच्चों को रास्ते पर शौच कराती हैं। लेकिन मजा यह है कि अपने घर की अलग-वगल में गंदगी न हो, इस-लिए अपने बच्चों को दूसरों के घरों के सामने वैठाती हैं ? और दूसरे भी प्रतियोगी सहयोग के सिद्धांत के अनुसार उसके घर के सामने वैठाते हैं ! इसके वदले सीधे अपने वच्चे को अपने घर के सामने वैठायें तो क्या हर्ज है ? यह परार्थ का तत्व भी इसी कोटि का है। इसलिए मनुष्यता का अप-मान करनेवाली यह परार्थ-वृत्ति त्याग कर हरेक को स्वार्थ-साधना करते रहना चाहिए। दूसरे की बहुत अधिक चिंता नहीं करनी चाहिए। सहानु-भूति के सुख के लिए या दूरदर्शी स्वार्थ की दृष्टि से, तात्कालिक सुख का त्याग क्वचित् करना पड़ता है। उतना समझौता जरूर कर लेना चाहिए।"

काम क्रोध और लोभ, ये तीन नरक के दरवाजे माने हैं। इसलिए मोक्ष का मुख्य आक्रमण, इन्हीं पर होना स्वाभाविक है। इसलिए इन तीनों के विषय में समझौते की दृष्टि से, धर्म और अर्थ का क्या रुख हो सकता है, इसका विचार अव तक किया गया। आखिर काम भी एक पुरुषार्थ ही है। इसलिए उसका जो चित्र यहां खींचा गया है, वह शायद कुछ लोगों को अति-रंजित मालूम होगा। लेकिन है वह विल्कुल वस्तु-स्थिति का निदर्शक। "स्वर्ग की गुलामी की अपेक्षा तो नरक का अधिराज्य श्रेयस्कर है", मिल्टन के शैतान का यह वाक्य भी इसी अर्थ का द्योतक है। 'पुरुषार्थ' का अर्थ है पुरुष को प्रवृत्त करनेवाला हेतु। यह आवश्यक नहीं कि यह हेतु 'सद्धेतु' ही हो। हिंदू-धर्म ने काम को भी पुरुषार्थ माना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने काम पर मान्यता (स्वीकृति) की मुहर लगा दी हो। यहां तो इतना ही अर्थ है कि काम भी मनुष्य के मन में रहनेवाली एक प्रेरक शक्ति है। आत्मवान् पुरुष शायद उसे स्वीकार भी न करे। इसके विपरीत 'मोक्ष' की गिनती भी 'पुरु-षार्थों' में करके हिंदू-धर्म ने उसपर शक्यता की मुहर नहीं लगाई है। वहां

भी इतना ही अभिप्राय है कि मोक्ष भी मानवीय मन की एक प्रेरक शक्ति है। देहधारी पुरुष के लिए उसकी आज्ञा मानना शायद असंभव भी हो।

शास्त्रकारों ने तो केवल मनुष्य की अत्युच्च और अतिनीच प्रेरणाओं की तरफ संकेतमात्र किया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है, इसलिए इच्छा यह है कि मनुष्य उसकी तरफ अग्रसर हो। और काम अधम पुरुषार्थ है, इसलिए इरादा यह है कि जहां तक हो सके, उसकी शकल ही न देखी जाय। लेकिन इन दोनों का मिलाप करने की प्रेरणा होना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। इसलिए धर्म और अर्थ नित्य की दो प्रेरणाएं कही गई हैं। मनुष्य को संतोष देने की चेष्टा करनेवाले ये दो मध्यस्थ हैं। संस्कार-भेद से किसीको धर्म-प्रिय होगा, किसीको अर्थ प्यारा लगेगा।

वल्लभाचार्य की व्यवस्था के अनुसार सृष्टि के तीन विभाग होते हैं—(१) पुष्टि, (२) मर्यादा और (३) प्रवाह। जो आत्म-साक्षात्कार का अमृत पीकर पुष्ट हो गये हैं, मोक्ष-शास्त्र के ऐसे उपासक पुष्टि की भूमिका पर विहार किया करते हैं। माया नदी के प्रवाह में बहे जानेवाले काम-शास्त्र के अनुयायी प्रवाह-पतित वासनाओं के गुलाम होते हैं। ये दोनों तरह के व्यक्ति समाज-शास्त्र की मर्यादा से परे हैं। काम-कामी पुरुष समाज के सुख का विचार ही नहीं कर सकता, क्योंकि उसे तो अपना सुख देखना है। मोक्षार्थी पुरुष भी समाज-सुख की फिक्र नहीं कर सकता; क्योंकि उसे किसीके भी सुख की चिंता नहीं। कामशास्त्र स्व-सुखार्थी है और मोक्ष-शास्त्र स्व-हितार्थी है। इस तरह दोनों स्व-अर्थी ही हैं। "प्रायेण देवमुनयः स्वमुक्तिकामाः'—"देव या ऋषि भी प्रायः स्वार्थी हो होते हैं", यह भगवद्भक्त प्रह्लाद की प्रेम भरी शिकायत है। इन दो एकांतिक वर्गों के सिवा सामाजिक कानूनों या नियमों की मर्यादाओं में रहनेवाले जो लोग होते हैं, उनके लिए धर्म-शास्त्र या अर्थशास्त्र की प्रवृत्ति है।

अब मोक्ष-शास्त्र के साथ न्याय करने की दृष्टि से इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जैसे काम-शास्त्र को समाज की परवा नहीं है वैसे समाज को मोक्ष-शास्त्र की कद्र नहीं है। अर्थात् समाज और काम-शास्त्र के अनबन की जिम्मेदारी अगर काम-शास्त्र पर है, तो समाज और मोक्ष-शास्त्र के अनबन का दायित्व समाज पर ही है। मोक्ष-शास्त्र स्वाहित-परायण तो है, परन्तु जैसा

स्व-सुख और पर-सुख का विरोध है वैसा स्वहित और पर-हित का विरोध नहीं है। इसलिए जो 'स्व-हित'-रत होता है, वह अपने-आप ही 'सर्वभूत-हितेरतः' हो जाता है।

लेकिन मनुष्य 'सर्वभूतहिते रतः' होते हुए भी समाज को प्रिय नहीं होता। कारण यह कि समाज सुख-लोलुप होता है, उसे हित की कोई खास परवा नहीं है। सात्विकता का जुल्म भी वह ज्यादा सह नहीं सकता। यह सच है कि संत जगत के कल्याण के लिए होते हैं। लेकिन यदि वे जगत के सुख के लिए हों तो समाज को प्रिय होंगे। ईसा, सुकरात, तुकाराम आदि संत समाज को प्रिय हैं, परंतु अपने-अपने समय में तो वे समाज को कांटे की तरह चुभते थे। आज भी वे इसलिए प्रिय नहीं हैं कि समाज उतना आगे बढ़ गया है, बल्कि इसलिए कि वे आज जीवित नहीं हैं।

अब, कामशास्त्र चूंकि बिल्कुल ही तामस और समाज की अवहेलना करनेवाला है, इसलिए वह समाज को दुखदायी होता है। काम-शास्त्र समाज को 'दुःख' देता है, मोक्ष-शास्त्र 'हित' देता है, इसलिए दोनों समाज-बाह्य हैं। कामशास्त्र का तामस 'प्रवाह' और मोक्ष-शास्त्र की तात्विक 'पुष्टि' दोनों समाज को, एक-सी अपथ्यकर मालूम होती हैं। किसी-न-किसी मरीज की ऐसी नाजुक हालत हो जाती है कि उसे अन्न दीजिये तो हजम नहीं होता और उपवास सहन नहीं होता। समाज भी एक ऐसा ही नाजुक रोगी है। बेचारा चिकित्सकों को प्रयोग का विषय हो रहा है! उसके लिए तामस प्रवाह और सात्विक पुष्टि दोनों वर्ज्य ठहरे हैं, इसलिए उसपर राजस मर्यादा के प्रयोग हो रहे हैं। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों समाज के लिए मर्यादाएं कायम करनेवाले शास्त्र हैं। दोनों को राजस कहा जाय तो भी धर्मशास्त्र को सत्व-प्रचुर और अर्थशास्त्र को धर्म-प्रचुर कहना होगा। हमारे यहां मुख्यतः धर्मशास्त्र का विकास हुआ, पश्चिम में अर्थ-शास्त्र का हुआ।

थोड़ा-सा समुद्र-मंथन करते ही विष निकल आया, परंतु अमृत हाथ आने के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ा। उसी न्याय से समाज-शास्त्र के ज़रा-से अध्ययन के अर्थशास्त्र का जन्म होता है, लेकिन धर्मशास्त्र के उदय के लिए गंभीर अध्ययन की आवश्यकता होती है। हमारे यहां भी अर्थशास्त्र

था। वह विल्कुल रहा ही नहीं, ऐसी वात नहीं है, परंतु उसकी जहरीली तासीर जानकर समाज-शास्त्र का अधिक मंथन किया गया और धर्मशास्त्र निकाला गया। आर्य-संस्कृति में अर्थशास्त्र का विकास नहीं हुआ, इसका यही कारण है। या फिर यह कहना ही गलत है कि विकास नहीं हुआ। पूर्ण विकास हुआ, इसीलिए धर्मशास्त्र का उदय हुआ। पाश्चात्य अर्थशास्त्र के इतिहास से भी इसी वात का प्रमाण मिल रहा है। "अर्थशास्त्रात्तु वलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः"—"अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र अधिक प्रमाणभूत है", इस सिद्धांत का जन्म हुए विना अर्थशास्त्र का छुटकारा ही नहीं हो सकता। इस सिद्धांत के जन्म के अरमान पाश्चात्य संस्कृति को गत शताव्दी के उत्तरार्द्ध से होने लगे।

अर्थशास्त्र के श्रम-विभाग के तत्व से अव सभी ऊवने लगे हैं। गरीव राष्ट्र आमरण 'अहमन्नम् अहमन्नम् अहमन्नम्'—"मैं खाद्य हूं, मैं खाद्य हूं, मैं खाद्य हूं--ऐसी उपासना करें और वलवान् राष्ट्र "अहमन्नादः, अहमन्नादः, अहमन्नादः"—"मैं खानेवाला हूं, मैं खानेवाला हूं, मैं खानेवाला हूं"—यह मंत्र जपते रहें, ऐसे नीच श्रम-विभाग से अब दुनिया विल्कुल उकता गई और चिढ़ गई है। रस्किन-जैसे दार्शनिकों ने अर्थशास्त्र के विरुद्ध जो मोर्चा शुरू किया, उसे आगे चलानेवाले वीरों की परंपरा अव्याहत चल रही है। और उस मोर्चे का अंत विजय में ही होने के स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे हैं। 'अर्थशास्त्र' को शंकराचार्य ने 'अनर्थशास्त्र' नाम कभी का दे रखा है। उसी नाम का, 'डिस्मल साइंस' (काली विद्या) कहकर, जीर्णोद्धार पाश्चात्य लोग कर रहे हैं। इसीलिए अर्थशास्त्र के नये संशोधित-संस्करण निकलने लगे हैं। इन सव लक्षणों से आशा की जा सकती है कि पाश्चात्य संस्कृति की कोख से धर्म का अवतार होगा। पिछले महायुद्ध से तो प्रसव-वेदना भी शुरू हो गई है, इससे कुछ लोगों का यह खयाल है कि अव यह अवतार जल्दी ही होनेवाला है।

यह अवतार कितनी देर में होनेवाला है, यह कहना कठिन है। लेकिन इस अवतार के आने की प्रारंभिक तैयारी करनेवाले नीति-शास्त्र का जन्म हो चुका है और वह दिन-पर-दिन वड़ा भी हो रहा है, धर्म-प्रधान पौरस्त्य संस्कृति और अर्थ-प्रधान पाश्चात्य संस्कृति की एक-वाक्यता की आशा

नीतिशास्त्र से बहुत-कुछ की जा सकती है। लेकिन आकाश और पृथ्वी को स्पर्श करनेवाले क्षितिज की रेखा जिस प्रकार काल्पनिक है, उसी प्रकार की स्थिति इस उभयान्वयी शास्त्र की भी है। कोश का काम केवल भले-बुरे सभी तरह के शब्दों का संग्रह करना है। इसलिए उसका अपना कोई भी विशेष संदेश नहीं होता। "तुम व्यवहार करते समय मेरा उपयोग कर सकते हो", इससे अधिक वह कुछ नहीं कह सकता। इसी तरह नीति-शास्त्र का कोई विशेष प्रमेय नहीं है। आशा लगाये 'मुझे बरतो, मुझे बरतो' कहते रहना ही उसके भाग्य में लिखा है। उसकी गिनती पुरुषार्थों में करने की किसीको नहीं सूझती।

नीतिशास्त्र का सिद्धांत ही यह है कि किसी भी सिद्धांत का अत्यधिक आग्रह नहीं रखना चाहिए। इसलिए इस बिंदु पर सारी दुनिया को एक किया जा सकता है। लेकिन 'संतोष से रहो', 'हिल मिलकर रहो' या 'जैसे चाहो वैसे रहो'—इस तरह की संदिग्ध सिफारिश करने से अधिक नीतिशास्त्र आज कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए उसके झंडे के नीचे सारा विश्व एकत्र होने की संभावना होते हुए भी इस भव्य दिग्वस्त्र की अपेक्षा लोगों को लंगोटी से भी अधिक संतोष होता है। 'मरने तक जीओगे', इस आशीर्वाद में सत्य है, परंतु स्फूर्ति नहीं है। इसलिए इस आशीर्वाद में उतना संतोष देने की भी सामर्थ्य नहीं है, जितना संतोष कि परीक्षित को 'सात दिन में मरोगे' इस शाप से हुआ होगा। मनुष्य को मनुष्यता से व्यवहार करना चाहिए, यह नीति-शास्त्र का रहस्य है। और मनुष्यता के क्या मानी हैं? मनुष्य का स्वभाव! संज्ञा के मानी प्रत्येक पदार्थ का नाम! ऐसे व्यापक शास्त्र से मनुष्य को संतोष कैसे हो सकता है? संस्कृत न्यायशास्त्र में ऐसे ही प्रचंड प्रमेय होते हैं। "जिसमें घटत्व है वह घट है", "जिसमें पटत्व है वह पट है"; "जिसमें पत्थरपन है वह पत्थर! और जिसमें यह सब हो वह है न्याय-शास्त्र!" ऐसी ही दशा नीतिशास्त्र की हो रही है। इसलिए धर्म मोक्ष की बात तो जाने दीजिये, अर्थ-काम के बराबर की स्फूर्ति भी उसमें नहीं है।

परंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि धर्म और अर्थ चाहे कितना ही समझौते का स्वांग क्यों न करें, फिर भी वे पक्षपाती ही हैं और नीति-शास्त्र निष्पक्षपात है। निष्पक्षपात वृत्ति के कारण आकर्षण-शक्ति कुछ कम भले

ही हो तो भी वह उसका गुण ही माना जाना चाहिए। नित्य के भोजन में आकर्षण नहीं होता। रोज की खूराक होने से नीतिशास्त्रमें चाहे आकर्षकताका अभाव भले ही हो, परंतु सारे समाज को देने योग्य उससे बढ़कर पौष्टिक दूसरी खूराक नहीं है। धर्म-मोक्ष पौष्टिक होते हुए भी मंहगे हैं। अर्थ-काम सस्ते तो हैं, मगर उनकी गिनती कुपथ्य में होती है। इसलिए संसार को आज नीतिशास्त्र के विना गत्यंतर नहीं है।

ऊपर कहा गया है कि हमारी संस्कृति धर्म-प्रधान है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम धर्म-प्रधान हैं। हम तो अर्थ-काम के ही दास हैं। इसलिए यद्यपि हमारी संस्कृति को नीति की परवाह नहीं, तथापि हमारे लिए नीति की उपासना करना नितांत आवश्यक है। सारांश, क्या हमारी और क्या इतरों की—सारे संसार की ही—सामान्य भाषा नीतिशास्त्र ही है, ऐसा कहा जा सकता है। सभी पुरुषार्थों की शिक्षा इसी भाषा में दी जानी चाहिए। नीति पुरुषार्थ भले ही न हो, किंतु पुरुषार्थ के शिक्षण का द्वार है। अगर पुरुषार्थों का भाषांतर नीति की भाषा में किया जाय तो सभी पुरुषार्थों का स्वरूप सौम्य तथा परंपरानुकूल प्रतीत होगा।

वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में गाय और वाघ एक ही झरने पर पानी पीते थे, ऐसा वर्णन है। इसका केवल इकहरा ही अर्थ नहीं है, प्रत्युत् दोहरा अर्थ है—अर्थात् न केवल वाघ की क्रूरता ही नष्ट होती थी, वल्कि गाय की भीरुता भी नष्ट हो जाती थी। मतलब गाय ऋण भय, शेर ऋण क्रौर्य। इस तरह मेल बैठता है, नहीं तो शेर को गाय वनाने की सामर्थ्य तो सर्कसवालों में भी है। उसके लिए ऋषि के आश्रम की जरूरत नहीं है।

नीति के आश्रम में भी सभी पुरुषोंका आग्रही या एकांगी स्वरूप बदलकर उनका समन्वय हो सकेगा। नीति के शीशे में से चारों पुरुषार्थों के रंग बिल्कुल बदले हुए नजर आएंगे। काम की सुंदरता, अर्थ की उपयोगिता, धर्म की पवित्रता और मोक्ष की स्वतंत्रता का एकत्र दर्शन होगा और संपूर्ण जीवन की यथार्थ कल्पना होगी। सौंदर्य, उपयोगिता, पावित्र्य और स्वातंत्र्य, इन चारों दिशाओं को नीति का आकाश स्पर्श करता है, इसलिए अगर चारों पुरुषार्थ ये नई पोशाकें पहनना मंजूर करें तो उनका द्वैत कम होकर मनुष्य को संतोष होने की संभावना है।

परन्तु आधुनिक नीति शास्त्र का अपना कोई निश्चित सिद्धान्त न होने के कारण वह बिल्कुल खोखला हो गया है। इसलिए उससे ठोस सन्तोष की आशा करना व्यर्थ है। दूसरी भाषा में, वर्तमान नीतिशास्त्र के आत्मा ही नहीं है, इसलिए उसका स्वरूप बहुत-कुछ शाब्दिक हो गया है। चार पुरुषार्थों के मिलाप की सम्भावना दिखाई जाने पर भी उनमें समझौता करने का कर्तृत्व इस शास्त्र में नहीं है, इसलिए इस कमी की पूर्ति करने के उद्देश्य में ऋषियों ने कर्तृत्ववान् योगशास्त्र का निर्माण किया। समझौते की पूर्व तैयारी के लिए नीतिशास्त्र को धन्यवाद देकर अगले कार्य के लिए इस योगशास्त्र की शरण लेनी पड़ेगी। 'अथ योगानुशासनम्'।

: २६ :
निर्भयता

निर्भयता तीन प्रकार की होती है—विज्ञ निर्भयता, ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, विवेक निर्भयता। 'विज्ञ' निर्भयता वह निर्भयता है, जो खतरों से परिचय प्राप्त करके उनके इलाज जान लेने से आती है। यह जितनी प्राप्त हो सकती हो, उतनी कर लेनी चाहिए। जिसकी सांपों से जान-पहचान हो गई, निर्विष और सविष सांपों का भेद जिसने जान लिया, सांप पकड़ने की कला जिसे सिद्ध हो गई, सांप काटने पर किये जानेवाले इलाज जिसे मालूम हो गये, सांप से बचने की युक्ति जिसे विदित हो गई, वह सांपों की तरफ से काफी निर्भय हो जायगा। अवश्य ही यह निर्भयता सांपों तक ही सीमित रहेगी। हरेक को शायद वह प्राप्त न हो सके, लेकिन जिसे सांपों में रहना पड़ता है, उसके लिए यह निर्भयता व्यावहारिक उपयोग की चीज है, क्योंकि उसकी बदौलत जो हिम्मत आती है, वह मनुष्य को अस्वाभाविक आचरण से बचाती है। लेकिन यह निर्भयता मर्यादित है।

दूसरी यानी ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, मनुष्य को पूर्ण निर्भय बनाती है।

परन्तु दीर्घ प्रयत्न, पुरुषार्थ, भक्ति इत्यादि साधनों के सतत अनुष्ठान के बिना वह प्राप्त नहीं होती। जब वह प्राप्त होगी तो किसी अवान्तर सहायता की जरूरत ही न रहेगी।

इसके बाद तीसरी विवेकी निर्भयता है। वह मनुष्य को अनावश्यक और ऊटपटांग साहस नहीं करने देती। और फिर भी अगर खतरे का सामना करना ही पड़े तो विवेक से बुद्धि शान्त रखना सिखाती है। साधक को चाहिए कि वह इस विवेकी निर्भयता की आदत डालने का प्रयत्न करे। वह हरेक की पहुंच में है।

मान लीजिये कि मेरा शेर से सामना हो गया और वह मुझपर झपटना ही चाहता है। सम्भव है कि मेरी मृत्यु अभी बदी न हो। अगर बदी हो तो वह टल नहीं सकती। परन्तु यदि मैं भयभीत न होकर अपनी बुद्धि शान्त रखने का प्रयत्न करूं तो बचने का कोई रास्ता सूझने की सम्भावना है? या ऐसा कोई उपाय न सूझे तो भी अगर मैं अपना होश बनाये रखूं तो अन्तिम समय में हरि-स्मरण कर सकूंगा। ऐसा हुआ तो यह परम लाभ होगा। इस प्रकार यह विवेकी निर्भयता दोनों तरह से लाभदायी है और इसीलिए यह सबके प्रयत्नों का विषय होने योग्य है।

: २७ :

आत्म-शक्ति का अनुभव

आप सब जानते हैं कि आज गांधीजी का जन्म-दिन है। ईश्वर की कृपा से हमारे इस हिन्दुस्तान में गांधीजी-जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति इससे पहले भी हुए हैं। ईश्वर हमारे यहां समय-समय पर ऐसे अच्छे व्यक्ति भेजता आया है। आइये, हम ईश्वर से प्रार्थना करें कि हमारे देश में सत्पुरुषों की ऐसी ही अखण्ड परम्परा चलती रहे।

मैं आज गांधीजी के विषय में कुछ न कहूंगा। अपने नाम से कोई उत्सव

हो, यह उन्हें पसंद नहीं है। इसलिए उन्होंने इस सप्ताह को खादी-सप्ताह नाम दिया है। अपने से संबंध रखनेवाले उत्सव को कोई प्रोत्साहन नहीं दे सकता, परंतु गांधीजी इस उत्सव को प्रोत्साहन दे सकते हैं। कारण, यह उत्सव एक सिद्धांत के प्रसार के लिए, एक विचार के विस्तार के लिए मनाया जाता है।

गांधीजी किसी ज्ञानी पुरुष के एक कथन का जिक्र किया करते हैं, जिसका आशय यह है कि किसी भी व्यक्ति का जीवन जब तक समाप्त नहीं हो जाता तबतक उसके विषय में मौन रहना ही उचित है। मुझे तो व्यक्ति का स्थूल चरित्र भूल जाने-जैसी ही बात मालूम होती है। मनुष्य ईश्वर की लिखी हुई एक चिट्ठी है, एक संदेश है। चिट्ठी का मजमून देखना चाहिए, उसकी लम्बाई-चौड़ाई और वजन देखने से मतलब नहीं है।

अभी यहां जो कार्यक्रम रहा, उसमें लड़कों ने खासा उत्साह दिखाया। ऐसे कार्यक्रमों में लड़के हमेशा उत्साह और आनंद से शरीक होते हैं। परन्तु जो प्रौढ़ लोग यहां इकट्ठे हुए, उन्होंने एकत्र बैठकर उत्साह से सूत काता, यह कार्यक्रम का बहुत सुंदर अंग है। सालभर में कई त्यौहार आते हैं, उत्सव भी होते हैं। हम उस दिन के लिए कोई-न-कोई कार्यक्रम भी बना लेते हैं, परंतु उसी दिन के लिए कार्यक्रम बनाने से हम उस उत्सव से पूरा लाभ नहीं उठा सकते। ऐसे अवसरों पर शुरू किया हुआ कार्यक्रम हमें सालभर तक चलाना चाहिए। इसलिए यहां एकत्र हुई मंडली को मैंने यह सुझाया कि वे लोग आज से अगले साल के इसी दिन तक रोज आध घंटा नियमित रूप से कातने का संकल्प करें। अगर आप ऐसा शुभ निश्चय करेंगे तो उस निश्चय को पूरा करने में ईश्वर आपकी हर तरह से सहायता करेगा। ईश्वर तो इसके इन्तजार में ही रहता है कि कौन शुभ निश्चय करे और कब उसकी मदद करने का सुयोग मुझे मिले। रोज नियमित रूप से सूत कातिये। लेकिन इतना ही काफी नहीं है। उसका लेखा भी रखना चाहिए। यह लेखा लोगों के लिए नहीं रखना है, अपने दिल को टटोलने के लिए रखना है। निश्चय छोटा-सा ही क्यों न हो, मगर उसका पालन पूरा-पूरा होना चाहिए। हम ऐसा करेंगे तो उससे हमारा संकल्प-बल बढ़ेगा। यह शक्ति हमारे अन्दर भरी हुई है, लेकिन हमें उसका अनुभव नहीं होता। आत्म-शक्ति का

अनुभव हमें नहीं होता, क्योंकि कोई-न-कोई संकल्प करके उसे पूरा करने की आदत हम नहीं डालते। छोटे-छोटे ही संकल्प या निश्चय कीजिए और उन्हें कार्यान्वित कीजिये, तब आत्म-शक्ति का अनुभव होने लगेगा।

दूसरी बात यह है कि गांव में जो काम हुआ है, उसके विवरण से यह पता चलता है कि वे ही लोग काम करते हैं जिन्हें इस काम में शुरू से दिलचस्पी रही। हमें इसकी जांच करनी चाहिए कि दूसरे लोग इसमें क्यों नहीं शामिल होते। कातनेवाले कातते हैं, इतना ही काफी नहीं है। इसका भी विचार करना चाहिए कि न कातनेवाले क्यों नहीं कातते। हमने अपना फर्ज अदा कर दिया, इतना काफी है, ऐसा कहने से काम नहीं चलेगा। इसका भी चिंतन करना चाहिए कि यह चीज गांवभर में कैसे फैलेगी? इसमें असली दिक्कत यह है कि हम शायद ही कभी ऐसा मानकर व्यवहार करते हों कि सारा गांव एक है। जब आग लग जाती है, बाढ़ आती या कोई छूत की बीमारी फैलने लगती है, तभी हम सारे गांव का विचार करते हैं। लेकिन यह तो अपवाद हुआ। हमारे नित्य के व्यवहार में यह बात नहीं पाई जाती। जब किसीका स्पर्श-ज्ञान बिल्कुल नष्ट होनेवाला होता है तो उसे मामूली स्पर्श मालूम ही नहीं पड़ता। जोर से चुटकी काटिये तो थोड़ा-सा पता चलता है। यही हाल हमारा है। हमारा आत्म-ज्ञान बिल्कुल मरणोन्मुख हो गया है।

पशुओं का आत्म-ज्ञान उनकी देह तक सीमित रहता है। वे अपनी संतान को भी नहीं पहचानते। अलबत्ता मादा को कुछ दिनों तक यह ज्ञान होता है, क्योंकि उसे दूध पिलाना पड़ता है। लेकिन यह पहचान भी तभी-तक होती है जब तक वह दूध पिलाती रहती है। उसके बाद अक्सर वह भी भूल जाती है। नर को तो उतनी भी पहचान नहीं होती। कुछ जानवरों में तो बाप अपने बच्चे को खा जाता है। मनुष्य अपने बाल-बच्चों को पहचानता है, इसलिए वह पशु से श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। कौन-सा प्राणी कितना श्रेष्ठ है, इसका निश्चय उसके आकार से नहीं होता। उसकी आत्मरक्षा की शक्ति या युक्ति से भी इसका पता नहीं चलता। उसका आत्मज्ञान कितना व्यापक है, इसीसे उसके बड़प्पन का हिसाब लगाया जा सकता है। दूसरे प्राणियों का आत्मज्ञान उसके शरीर तक ही रहता है। जंगली मानी गई

जाति के मनुष्य में भी वह कम-से-कम उनके परिवार तक व्यापक होता है। जितनी कमाई होती है, वह सारे घर की मानी जाती है। कुछ कुटुंबों में तो यह कौटुंविक प्रेम भी नहीं होता। भाई-भाई, पति-पत्नी और बाप-बेटों में झगड़े-टंटे होते रहते हैं।

हिंदुस्तान में फिर भी कौटुम्बिक प्रेम थोड़ा-बहुत पाया जाता है। लेकिन कुटुंब से बाहर वह बहुत कम मात्रा में है। जब कोई भारी आपत्ति आ पड़ती है तो उतने समय के लिए सारा गांव एक हो जाता है। आम तौर-पर कुटुंब से बाहर देखने की वृत्ति नहीं है। इसका यह मतलब हुआ कि हिंदुस्तान का आत्म-ज्ञान मौत की तरफ बढ़ रहा है। इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि समूचे गांव को एक इकाई मानकर सारे गांव की चिंता कीजिये। यह गोपालकृष्ण का मंदिर कौनसा संदेश सुनाता है? इस मंदिर का मालिक गोपालकृष्ण हैं। उसके पास उसके सब बालकों को जाने की इजाजत होनी चाहिए। यह मंदिर हरिजनों के लिए खोलकर आपने इतना काम किया है। किंतु मंदिर खोलने का पूरा अर्थ समझकर 'इस गोपालकृष्ण की छत्रछाया में यह सारा गांव एक है', ऐसी भावना का विकास कीजिये।

गांव की प्राथमिक आवश्यकता की चीजें गांव में ही बननी चाहिए। अगर हम ऐसी चीज बाहर से लाने लगेंगे तो बाहर के लोगों पर जुल्म होगा। जापान की मिलों और कारखानों में मजदूरों को बारह-बारह घंटे काम करना पड़ता है। कम-से-कम मजदूरी में उनसे ज्यादा-से-ज्यादा काम लिया जाता है। वे यह सब किसलिए करते हैं? हिंदुस्तान के बाजार अपने हाथ में रखने के लिए। मगर उनकी भाषा में "हमारी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए।" यह कहां के मालदार पूंजीपति कहते हैं। वहां के गरीबों का इसमें कोई फायदा नहीं, वहां के मालदार आदमियों का भी कल्याण इसमें नहीं है, और हमारा तो हरगिज नहीं है। हमारे उनका माल खरीदने से उन्हें जो पैसा मिलता है, उसका वे कैसा उपयोग करते हैं? उस पैसे से वे बम बनाते हैं। उनकी बदौलत वे आज चीन को हरा रहे हैं। इंग्लैंड, जर्मनी आदि राष्ट्रों का भी यही कार्यक्रम है। बाहर का माल खरीदकर हम इस प्रकार दुर्जनों का लोभ बढ़ाते हैं, शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद बनाने के लिए पैसा देते हैं। इसका उपयोग राष्ट्र-के-राष्ट्र वीरान कर देने के लिए हो रहा है।

बीस-बीस हजार फुट की ऊंचाई से बम गिराये जाते हैं। जर्मन लोग बड़े गर्व से कहते हैं कि "हमने लंदन को बेचिराग कर दिया।" अंग्रेज कहते हैं, "हमने बर्लिन को भून डाला।" और हम लोग समाचारपत्रों में ये सब खबरें पढ़-पढ़कर मजे लेते हैं। औरतें और बच्चे मर रहे हैं। मंदिर, विद्यालय और दवाखाने जमींदोज हो रहे हैं। लड़नेवालों और न लड़नेवालों में कोई फर्क नहीं किया जाता। क्या इन लड़नेवालों को हम पापी कहें ? लेकिन हम पुण्यवान् कैसे साबित हो सकते हैं ? हम ही उनका माल खरीदते हैं ?

इस प्रकार हम दुर्जनों को उनके दुष्ट कार्य में सक्रिय सहायता देते हैं। यह कहना व्यर्थ है कि हम तो सिर्फ अपनी जरूरत की चीजें खरीदते हैं, हम किसीकी मदद नहीं करते। खरीदना और बेचना केवल मामूली व्यवहार नहीं है। उनमें परस्पर दान है। हम जो खरीदार हैं और वे जो बेचनेवाले हैं, दोनों एक-दूसरे की मदद करते हैं। परस्पर के हम सहयोगी हैं। एक-दूसरे के पाप-पुण्य में हमारा हिस्सा है। अमरीका नकद सोना लेकर इंग्लैंड को सोना बेचता है, तो भी यह माना जाता है कि वह इंग्लैंड की मदद करता है और अंग्रेज इस सहायता के लिए उसका उपकार मानते हैं। व्यापार-व्यवहार में भी पाप-पुण्य का बड़ा भारी सवाल है। बैंक वाला हमें ब्याज देता है, लेकिन हमारे पैसे किसी व्यापार में लगाता है। बैंक में पैसे रखनेवाला उसके पाप-पुण्य का हिस्सेदार होता है। जिसका उपयोग पाप के लिए होता हो, ऐसी कोई भी मदद करना पाप ही है। इसलिए अपने गांव की प्राथमिक आवश्यकता की चीजें बनाने का काम भी दूसरों को सौंपने का मतलब यह है कि हम खुद परावलंबन और आलस्य का पाप करते हैं और दूसरों को भी पाप में डालने में सहायता करते हैं।

हिंदुस्तान और चीन दोनों बहुत बड़े देश हैं। उनकी जनसंख्या पिचासी करोड़, यानी संसार की जन-संख्या के आधे से कुछ ही कम है। इतने बड़े देश हैं, लेकिन सिवा नाज के इनमें और क्या उत्पन्न होता है ? ये दो विराट् लोक-संख्यावाले देश गैर-मुल्कों के माल के खरीदार हैं। चीन में तो फिर भी कुछ माल तैयार होता है, पर हिंदुस्तान में वह भी नहीं होता। हिंदुस्तान सर्वथा परावलंबी है। हम समझते हैं कि हम तो अपनी जरूरत की

चीजें खरीदते हैं। हमसे मिले हुए पैसे का उपयोग, जो लोग पाप में करते होंगे, वे पापी हैं, हम कैसे पापी हुए ? बौद्ध-धर्मावलंबी स्वयं जानवरों को मारना हिंसा समझते हैं; लेकिन कसाई के मारे हुए जानवर का मांस खाने में वे हिंसा नहीं मानते। उसी प्रकार का विचार यह भी है। हमें ऐसे भ्रम में नहीं रहना चाहिए। गांधीजी जब यह कहते हैं कि खादी और ग्रामोद्योग द्वारा प्रत्येक गांव को स्वावलंबी बनना चाहिए, तब वे हरेक गांव को सुखी बनाना चाहते हैं और साथ-साथ दुर्जनों से लोगों पर जुल्म करने की शक्ति भी छीन लेना चाहते हैं। इस उपाय से दुर्जन और उन्हें शक्ति देनेवाले आलसी लोग, दोनों पुण्य के रास्ते पर आयेंगे।

हम अपने पैरों पर खड़े रहने में किसीसे द्वेष नहीं करते। अपना भला करते हैं। अगर हम लंकाशायर, जापान या हिन्दुस्तान की मिलों का कपड़ा न खरीदें तो मिल वाले भूखों न मरेंगे। उनका पेट तो पहले ही से भरा हुआ है। बुद्धिमान होने के कारण वे दूसरे कई धंधे भी कर सकते हैं। लेकिन हम किसान ग्रामोद्योग खो बैठने के कारण उत्तरोत्तर कंगाल हो रहे हैं। इसके अलावा बाहर का माल खरीद कर हमने दुर्जनों का बल बढ़ाया है। दुर्जन संगठित होकर आज दुनिया पर राज कर रहे हैं। इसके लिए हम सब तरह से जिम्मेदार हैं।

वास्तव में ईश्वर ने दुर्जनों की कोई अलग जाति नहीं पैदा की है। जब द्रव्यसंग्रह की धुन सवार हो जाती है तब जन्मसिद्ध सज्जन भी धीरे-धीरे दुर्जन बनने लगता है। अगर हम स्वावलंबी हो गये, हमारे गांव अपने उद्योग के बल अपने पैरों पर खड़े हो सके तो सज्जन को दुर्जन बनानेवाली लोभ-वृत्ति की जड़ें ही उखड़ जायंगी और आज जो सत्ताधारी बनकर बैठे हैं, उनकी लोगों पर जुल्म करने की शक्ति निन्यानवे फीसदी गायब हो जायगी। "लेकिन जुल्म करने की जो एक प्रतिशत शक्ति शेष रह जायगी, उसका क्या इलाज है ?" निन्यानवे प्रतिशत नष्ट हो जाने के बाद बाकी रहा हुआ एक प्रतिशत अपने-आप मुरझा जायगा। लेकिन जैसे चिराग बुझने के वक्त ज्यादा भभकता है, उसी तरह अगर यह एक प्रतिशत जोर मारे तो हमें उसका प्रतिकार करना पड़ेगा।

इसके लिए सत्याग्रह के शस्त्र का आविष्कार हुआ है। दुर्जनों से हमें द्वेष

नहीं करना है, पर दुर्जनता का प्रतिकार अपनी पूरी ताकत से करना है। आजतक दुर्जनों की सत्ता जो संसार में चलती रही, इसका सवव यह है कि लोग दुर्जनों के साथ व्यवहार करने के दो ही तरीके जानते थे। 'लोग' शब्द से मेरा मतलव है 'सज्जन कहे जानेवाले लोग'। या वे 'झगड़े का मुंह काला' कहकर निष्क्रिय होकर वैठ जाना जानते थे, या फिर दुर्जनों से दुर्जन होकर लड़ते थे। जव मैं दुर्जन से उसीका शस्त्र लेकर लड़ने लगता हूं तो उसमें और मुझमें जो भेद है, उसे बताने का इसके सिवा दूसरा तरीका ही नहीं है कि मैं अपने माथे पर 'सज्जन' शब्द लिखकर एक लेविल चिपका लूं और जव मैं उसका शस्त्र वरतता हूं तो अपने शस्त्र के प्रयोग में वही अधिक प्रवीण होगा, अर्थात् मेरी किस्मत में पराजय तो लिखी ही है। या फिर मुझे सवाया दुर्जन वनकर उसको पराजित करना चाहिए। जो थोड़े-वहुत सज्जन थे, वे इस 'दुष्ट चक्र' से डरकर निष्क्रिय होकर चुपचाप वैठ जाते थे। इन दोनों पगडंडियों को छोड़कर हमें सत्याग्रह से यानी स्वयं कष्ट सहकर अन्याय का प्रतिकार करना चाहिए और अन्याय करनेवाले के प्रति प्रेमभाव रखना चाहिए, ऐसा यह अभंग शस्त्र हमें प्राप्त हुआ है। इसी शस्त्र का वर्णन करते हुए ज्ञानदेवने कहा है, "अगर मित्रता से ही वैरी मरता हो तो नाहक कटार क्यों वांधें ?" गीता कहती है, "आत्मा अमर है, मारनेवाला वहुत करेगा तो हमारे शरीर को मारेगा। हमारी आत्मा को, हमारे विचार को वह नहीं मार सकता।" यह गीता की सिखावन ध्यान में रखते हुए सज्जनों को निर्भयता और निर्वैर-वुद्धि से प्रतिकार के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

दुर्जनों की निन्यानवे प्रतिशत शक्ति नष्ट करने का काम खादी और ग्रामोद्योगों का है। निन्यानवे प्रतिशत जनता के लिए यही कार्यक्रम है। शेप एक प्रतिशत काम अहिंसक प्रतिकार का है। यदि पहला सुचारु रूप से हो जाय तो दूसरे की जरूरत ही न पड़नी चाहिए। और अगर जरूरत पड़े ही तो उसके लिए जनसंख्या के एक प्रतिशत की भी आवश्यकता न होनी चाहिए। थोड़े-से निर्भय, निर्वैर और आत्मज्ञ पुरुषों द्वारा यह काम हो सकता है। मैं समझता हूं, इन वातों में गांधी-जयन्ती का सारा सार आ जाता है।

: २८ :

सेवा का आचार-धर्म

सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु ।
सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु ।
मा विद्विषावहै । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

मैंने आज अपने भाषण का आरम्भ जिस मंत्र से किया है, वह मंत्र हमारे देश के लोग पाठशाला में अध्ययन शुरू करते समय पढ़ा करते थे ! मंत्र गुरू और शिष्य के मिलकर कहने के लिए है। "परमात्मा हम दोनों का एक साथ रक्षण करे। एक साथ पालन करे। हम दोनों जो कुछ सीखें वह, हम दोनों की शिक्षा, तेजस्वी हो। हम दोनों में द्वेष न रहे। और सर्वत्र शांति रहे।" यह इस मंत्र का संक्षिप्त अर्थ है। आश्रम में भोजन के प्रारम्भ में यही मंत्र पढ़ा जाता है। अन्यत्र भी भोजन आरम्भ करते समय इसे पढ़ने की प्रथा है। "इस मंत्र का भोजन से क्या संबंध है? इसके बदले कोई दूसरा भोजन के समय पढ़ने योग्य मंत्र क्या खोजा ही नहीं जा सकता ?" यह सवाल एक बार बापू से किया गया था। उन्होंने वह मेरे पास भेज दिया था। मैंने एक पत्र में उसका विस्तार से उत्तर दिया है। वही मैं थोड़े में यहां कहनेवाला हूं।

इस मंत्र में समाज दो भागों में बांटा गया है और ऐसी प्रार्थना की गई है कि परमात्मा दोनों का एक साथ रक्षण करे। भोजन के समय इस मंत्र का उच्चार अवश्य करना चाहिए; क्योंकि हमारा भोजन केवल पेट भरने के लिए ही नहीं है, ज्ञान और सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए है। इतना ही नहीं, इसमें यह भी मांग की गई है कि हमारा वह ज्ञान, वह सामर्थ्य और वह भोजन भगवान एक साथ कराये। इसमें केवल पालन की प्रार्थना नहीं है, एक साथ पालन की प्रार्थना है। पाठशाला में जिस प्रकार गुरू और शिष्य होते हैं, उसी प्रकार सर्वत्र द्वैत है। परिवार में पुरानी और नई पीढ़ी, समाज में स्त्री-पुरुष, वृद्ध-तरुण, शिक्षित-अशिक्षित आदि भेद हैं। उसमें फिर गरीब-अमीर का भेद भी है। इस प्रकार सर्वत्र भेद-दृष्टि आती है। हमारे इस

हिंदुस्तान में तो असंख्य भेद हैं। यहां प्रांत-भेद हैं। यहां का स्त्री-वर्ग बिल्कुल अपंग रहता है। इसलिए यहां स्त्री-पुरुषों में भी बहुत भेद बढ़ा है। हिंदू और मुसलमान का भेद तो प्रसिद्ध है ही। परन्तु हिंदू हिंदू में भी, हरिजनों और दूसरों में भी भेद है। हिंदुस्तान की तरह भेद संसार में भी है। इसलिए इस मंत्र में यह प्रार्थना की गई है कि हमें "एक साथ तार, एक साथ मार"। मारने की प्रार्थना प्राय कोई नहीं करता। इसलिए यहां एक साथ तारने की प्रार्थना है। लेकिन "यदि मुझे मारना ही हो तो कम-से-कम एक साथ मार", ऐसी प्रार्थना है। सारांश "हमें दूध देना है तो एक साथ दे, सूखी रोटी देना है तो भी एक साथ दे, हमारे साथ जो कुछ करना है वह सब एक साथ कर," ऐसी प्रार्थना इस मंत्र में है।

देहात के लोग यानी किसान और शहराती, गरीब और अमीर, इनका अंतर जितना कम होगा, उतना ही देश का कदम आगे बढ़ेगा। अंतर दो तरह से मेटा जा सकता है। ऊपरवालों के नीचे उतरने से और नीचेवालों के ऊपर चढ़ने से। परन्तु दोनों ओर से यह नहीं होता। हम सेवक कहलाते हैं, लेकिन किसान-मजदूरों की तुलना में तो चोटी पर ही हैं।

लेकिन सवाल तो यह है कि भोग और ऐश्वर्य किसे कहें ? मैं अच्छा स्वादिष्ट भोजन करूं और पड़ोस में ही दूसरा भूखों मरता रहे, इसे ? उसकी नजर बराबर मेरे भोजन पर पड़ती रहे और मैं उसकी परवा न करूं ? उसके आक्रमण से अपनी थाली की रक्षा करने के लिए एक डंडा लेकर बैठूं! मेरा स्वादिष्ट भोजन और डंडा तथा उनकी भूख, इसे ऐश्वर्य मानें ? एक सज्जन आकर मुझ से कहने लगे कि "हम दो आदमी एकत्र भोजन करते हैं, परन्तु हमारी निभ नहीं सकती। मैंने अब अलग भोजन करने का निश्चय किया है।" मैंने पूछा, "सो क्यों ?" उन्होंने जवाब दिया, "मैं नारंगियां खाता हूं, वह नहीं खाते; वह मजदूर हैं, इसलिए वह नारंगियां खरीद नहीं सकते। अतः उनके साथ खाना मुझे अनुचित लगता है।" मैंने पूछा, "क्या अलग घर में रहने से उनके पेट में नारंगियां चली जायंगी ? आप दोनों में जो व्यवहार आज हो रहा है, वही ठीक है। जबतक दोनों एक साथ खाते हैं, तबतक दोनों के निकट आने की संभावना है। एकाध बार आप उनसे नारंगियां लेने का आग्रह भी करेंगे। लेकिन यदि आप दोनों के बीच सुरक्षितता

की दीवार खड़ी कर दी गई तो भेद चिरस्थायी हो जायगा। दीवार को सुरक्षितता का साधन मानना कैसा भयंकर है ! हिंदुस्तान में हम सब कहते हैं, हमारे संतों ने पुकार-पुकारकर कहा है कि ईश्वर सर्वसाक्षी है, सर्वत्र है। फिर दीवार की ओट में छिपने से क्या फायदा ? इससे दोनों का अंतर थोड़े ही घटेगा।

यही हाल हम खादीधारियों का भी है। जनता के अंदर अभी खादी का प्रवेश ही नहीं हुआ है। इसलिए जितने खादीधारी हैं, वे सब सेवक ही हैं। यह कहा जाता है कि हमें और आपको गांवों में जाना चाहिए। लेकिन देहात में जाने पर भी, वहां के लोगों को जहां सूखी रोटी नहीं मिलती वहां मैं पूरी खाता हूं। मेरा घी खाना उस भूखे को नहीं खटकता। आज भी किसान कहता है कि अगर मुझे पेटभर रोटी मिल जाय तो तेरे घी की मुझे ईर्ष्या नहीं। मुझे तेल ही मिलता रहे तो भी संतोष है। यह भेद उसे भले ही न अखरता हो, मगर हम सेवकों को बहुत अखरता है। लेकिन इस तरह कब तक चलता रहेगा ? पारसाल मैं एक खासा दुबला-पतला जीव था। इस साल मुटा गया हूं। यह मुटापा खटकता है। मैं भी उन्हीं लोगों-जैसा दुबला-पतला हूं, यह संतोष अब जाता रहा।

इस टंगी हुई तख्ती पर लिखा है कि आवश्यकताएं बढ़ाते रहना सभ्यता का लक्षण नहीं है; बल्कि आवश्यकताओं का संस्करण सभ्यता का लक्षण है। तो भी मैं कहता हूं कि देहातियों की आवश्यकताएं बढ़ानी चाहिए। उन्हें सुधारना भी चाहिए। लेकिन उनकी आवश्यकताएं आज तो पूरी भी नहीं होतीं। उनका रहन-सहन बिल्कुल गिरा हुआ है। उनके जीवन का मान बढ़ाना चाहिए। मोटे हिसाब से तो यही कहना पड़ेगा कि आज हमारे गरीब देहातियों की आवश्यकताएं बढ़ानी चाहिए।

यदि हम गांवों में जाकर बैठे हैं तो हमें इसके लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासियों का रहन-सहन ऊपर उठे और हमारा नीचे उतरे। लेकिन हमें जरा-जरा-सी बातें भी तो नहीं करते। महीना-डेढ़-महीना हुआ, मेरे पैर में चोट लग गई। किसी ने कहा, उस पर मरहम लगाओ। मरहम मेरे स्थान पर आ भी पहुंचा। किसी ने कहा, मोम लगाओ, उससे होगा। मैंने निश्चय किया कि मरहम और मोम दोनों आखिर

मिट्टी के ही वर्ग के तो हैं। इसीलिए मिट्टी लगा ली। अभी पैर बिल्कुल अच्छा नहीं हुआ है, लेकिन अब मजे में चल सकता हूं। हमें मरहम जल्दी याद आता है, लेकिन मिट्टी लगाना नहीं सूझता। कारण, उसमें हमारी श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं।

हमारे सामने इतना बड़ा सूर्य खड़ा है। उसे अपना नंगा शरीर दिखाने-को हमें बुद्धि नहीं होती। सूर्य के सामने अपना शरीर खुला रखो, तुम्हारे सारे रोग भाग जायंगे। लेकिन हम अपनी आदत और शिक्षा से लाचार हैं, डाक्टर जब कहेगा कि तुम्हें तपेदिक हो गया, तब वही करेंगे।

हम अपनी जरूरत किस तरह कम कर सकेंगे, इसकी खोज करनी चाहिए। मैं यहां संन्यासी का धर्म नहीं बतला रहा हूं। खासे सद्‌गृहस्थ का धर्म बतला रहा हूं। ठंडी आब-हवा वाले देशों के डाक्टर कहते हैं कि बच्चों की हड्डियां बढ़ाने के लिए उन्हें 'कॉड लिवर आयल' दो। जहां सूर्य नहीं है, ऐसे देश में दूसरा उपाय नहीं है। कॉड लिवर के बिना बच्चे मोटे-ताजे नहीं होंगे। यहां सूर्य-दर्शन की कमी नहीं। यहां यह 'महा कॉड लिवर आयल' भरपूर है। लेकिन हम उसका उपयोग नहीं करते। यही हमारी दशा है। हमें लंगोटी लगाने में शर्म आती है। छोटे बच्चों पर भी हम कपड़े की बाइंडिंग (जिल्द) चढ़ाते हैं। नंगे बदन-रहना असभ्यता का लक्षण माना जाता है। वेदों में प्रार्थना की गई है कि "मा नः सूर्यस्य सदृशो युयोथाः।" "हे ईश्वर, मुझे सूर्य-दर्शन से दूर न रख।" वेद और विज्ञान दोनों कहते हैं कि खुले शरीर रहो। कपड़े की जिल्द में कल्याण नहीं। हम अपने आचार से ये बिना शक चीजें गांव में दाखिल न करें। हम देहातों में जाने पर भी अपने बच्चों को आधी या पूरी लम्बाई का पतलून पहनाते हैं। इसमें उन बच्चों का कल्याण तो है ही नहीं, उलटे एक दूसरा अशुभ परिणाम यह निकला है कि दूसरे बच्चों में और उनमें भेद पैदा हो जाता है। या फिर दूसरे लोगों को भी अपने बच्चों को सजाने का शौक पैदा हो जाता है। एक फिजूल की जरूरत पैदा हो जाती है। हमें देहातों में जाकर अपनी जरूरतें कम करनी चाहिए। यह विचार का एक पहलू हुआ।

देहात की आमदनी बढ़ाना इस विचार का दूसरा पहलू है। लेकिन वह कैसे बढ़ाई जाय? हम में आलस्य बहुत है। वह महान् शत्रु है। एक का

विशेषण दूसरे को जोड़ देना साहित्य में एक अलंकार माना गया है। "कहे लड़की से, लगे बहू को", इस अर्थ को जो कहावत है उसका भी अर्थ यही है। बहू को यदि कुछ जली-कटी सुनानी हो तो सास अपनी लड़की को सुनाती है। उसी तरह हम कहते हैं, "देहाती लोग आलसी हो गये।" दरअसल आसली तो हम हैं। यह विशेषण पहले हमें लागू होता है। हम इसका उन पर आरोप करते हैं। बेकारी के कारण उनके शरीर में आलस्य भले ही भिद गया हो, परंतु उनके मन में आलस्य नहीं है। उन्हें बेकारी का शौक नहीं है। लेकिन यदि सच कहा जाय तो हम कार्यकर्त्ताओं के तो मन में भी आलस्य है और शरीर में भी। आलस्य हिंदुस्तान का महारोग है। यह बीज है। बाहरी महारोग इसका फल है। हमें इस आलस्य को दूर करना चाहिए। सेवक को सारे दिन कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए। और कुछ न हो तो गांव की परिक्रमा ही करे। और कुछ न मिले तो हड्डियां ही बटोरे। यह भगवान् शंकर का कार्यक्रम है। हड्डियां इकट्ठी करके चर्मालय में भेज दे। इससे आशुतोष भगवान् शंकर प्रसन्न होंगे। या एक बाल्टी में मिट्टी लेकर रास्ते पर जहां-जहां खुला हुआ मैला पड़ा हो, उसपर डालता फिरे। अच्छी खाद बनेगी। इसके लिए कोई खास कौशल की जरूरत नहीं।

हमारे सेनापति बापट ने एक कविता में कहा है कि "झाड़ू, खपरैल और खुरपा, ये औजार धन्य हैं।" ये कुशल औजार हैं। जिस औजार का उपयोग अकुशल मनुष्य भी कर सकता है, उसे बनानेवाला अधिक-से-अधिक कुशल होता है। जिस औजार के उपयोग के लिए कम-से-कम कुशलता की जरूरत हो, वह अधिक-से-अधिक कुशल औजार है। खपरैल और झाड़ू ऐसे ही औजार हैं। झाड़ू सिर्फ फिराने की देर है, भू-माता स्वच्छ हो जाती है। खपड़िया में जरा भी आनाकानी किये बिना मैला आ जाता है। यंत्रशास्त्र के प्रयोग इस दृष्टि से होने चाहिए। खपरैल, खुरपा और झाड़ू के लिए पैसे नहीं देने पड़ते। इसलिए वे सीधे-सादे औजार धन्य हैं।

रामदास ने अपने 'दासबोध' में सुबह से शाम तक की दिनचर्या बतलाते हुए कहा है कि सवेरे शौच-क्रिया के लिए बहुत दूर जाओ और वहां से लौटते हुए कुछ-न-कुछ लेते आओ। वह कहते हैं कि खाली हाथ आना खोटा काम

है। सिर्फ हाथ हिलाते नहीं आना चाहिए। कोई-कोई कहते हैं कि हम तो हवा खाने गए थे। लेकिन हवा खाने का काम से विरोध क्यों हो ? कुदाली से खोदते हुए क्या नाक बंद कर ली जाती है ? हवा खाना तो सदा चालू ही रहता है। परंतु श्रीमान् लोग हमेशा बिना हवा वाली जगह में बैठे रहते हैं। इसलिए उनके लिए हवा खाना भी एक काम हो जाता है। मगर कार्यकर्त्ता को सदा खुली हवा में काम करने की आदत होनी चाहिए। वापस आते हुए वह अपने साथ कुछ-न-कुछ जरूर लाया करे। देहात में वह दतुअन ला सकता है। लीपने के लिए गोबर ला सकता है, और अगर कुछ न मिले तो कम-से-कम किसी एक खेत के कपास के पेड़ ही गिनकर आ सकता है यानी फसल-का ज्ञान अपने साथ ला सकता है। मतलब, उसे फिजूल चक्कर नहीं काटने चाहिए। देहात में काम करनेवाले ग्राम-सेवकों को सुबह से लेकर शाम तक कुछ-न-कुछ करते ही रहना चाहिए।

लोगों की शक्ति कैसे बढ़ेगी, इसके विषय में अब कुछ कहूंगा। देहात में बेकारी और आलस्य बहुत है। देहात के लोग मेरे पास आते और कहते हैं, "महाराज हम लोगों का बुरा हाल है। घर में चार खानेवाले मुंह हैं।" न जाने वे मुझे 'महाराज' क्यों कहते हैं ? मेरे पास कौनसा राज धरा है ? मैं उनसे पूछता हूं, "अरे भाई, घर में अगर खानेवाले मुंह न हों तो क्या बगैर खानेवाले हों ? बगैर खानेवाले मुंह तो मुर्दों के होते हैं। उन्हें तो तुरंत बाहर निकालना होता है। तुम्हारे घर में चार खानेवाले मुंह हैं, यह तो तुम्हारा वैभव है। वे तुम्हें भार क्यों हो रहे हैं ? भगवान् ने आदमी को अगर एक मुंह दिया है तो उसके साथ-साथ दो हाथ भी तो दिये हैं। अगर वह एक समूचा मुंह और आधा ही हाथ देता तो अलबत्ता मुश्किल थी। तुम्हार यहां चार मुंह हैं तो आठ हाथ भी तो हैं। फिर शिकायत क्यों ?" लेकिन हम उन हाथों का उपयोग करें, तब न ? हमें तो हाथ-पर-हाथ धर कर बैठे रहने की आदत हो गई है, हाथ जोड़ने की आदत हो गई है। जब हाथ चलाना बंद हो जाता है तो मुंह चलना शुरू हो जाता है। फिर खाने-वाले मुंह आदमी को ही खाने लगते हैं।

हमें अपने दोनों हाथों से एक-सा काम करना चाहिए। पौनार में कुछ लड़के कातने आते हैं। उनसे कहा, "बाएं हाथ से कातना शुरू करो।"

उन्होंनें यहीं से कहना शुरू किया कि "हमारी मजदूरी कम हो जायगी। बायां हाथ दाहिने की बराबरी नहीं कर सकेगा।" मैंने कहा, "यह क्यों ? दाहिने हाथ में अगर पांच अंगुलियां हैं तो बाएं हाथ में भी तो हैं। फिर क्यों नहीं बराबरी कर सकेगा ?" निदान, मैंने उनमें से एक लड़का चुन लिया और उससे कहा कि "बाएं हाथ से कात।" उसे जितनी मजदूरी कम मिलेगी, उतनी पूरी कर देने का जिम्मा मैंने लिया। चौदह रोज में वह साढ़े चार रुपया कमाता था। बाएं हाथ से पहले पखवाड़े में ही उसे करीब तीन रुपये मिले। दूसरे पाख में बायां हाथ दाहिने की बराबरी पर आ गया। एक रुपया मैंने अपनी गिरह से पूरा किया। लेकिन उससे सबकी आंख खुल गई। यह कितना बड़ा लाभ हुआ ? मैंने लड़कों से पूछा, "क्यों लड़को, इसमें फायदा है कि नहीं ?" वे कहने लगे, "हां, क्यों नहीं ?" दाहिना हाथ भी तो आठ घंटे लगातार काम करने में धीरे-धीरे थकने लगता है। अगर दोनों हाथ तैयार हों तो अदल-बदल कर सकते हैं और थकावट बिल्कुल नहीं आती। अट्ठाईस-के-अट्ठाईसों लड़के बाएं हाथ का प्रयोग करने के लिए तैयार हो गये।

शुरू-शुरू में हाथ में थोड़ा दर्द होने लगता है। लेकिन यह सात्विक दर्द है। सात्विक सुख ऐसा ही होता है। अमृत भी शुरू-शुरू में जरा कड़ुआ ही लगता है। पुराणों का एकदम वह मीठा-ही-मीठा अमृत वास्तविक नहीं। अमृत अगर, जैसा कि गीता में कहा है, सात्विक हो तो वह मीठा-ही-मीठा कैसे हो सकता है ? गीता में बताया हुआ सात्विक सुख तो प्रारंभ में कड़ुआ ही होता है। मेरी बात मानकर लड़कों ने तीन महीने तक सिर्फ बाएं हाथ से कातने का प्रयोग करने का निश्चय किया। तीन महीने मानो दाहिने हाथ को बिल्कुल भूल ही गये। यह कोई छोटी तपस्या नहीं हुई।

देहात में निंदा का दोष काफी दिखलाई देता है। यह बात नहीं कि शहर के लोग इससे बरी हैं। लेकिन यहां मैं देहात के ही विषय में कह रहा हूं। निंदा सिर्फ पीठ-पीछे जिंदा रहती है। उससे किसी का भी फायदा नहीं होता। जो निंदा करता है, उसका मुंह खराब होता है और जिसकी निंदा की जाती है, उसकी कोई उन्नति नहीं होती। मैं यह जानता तो था कि

देहातियों में निंदा करने की आदत होती है, लेकिन यह रोग इतने उग्र रूप में फैल गया होगा, इसका मुझे पता न था। इधर कुछ दिनों में मैं सत्य और अहिंसा के बदले सत्य और अनिंदा कहने लगा हूं। हमारे संतों की बुद्धि बड़ी सूक्ष्म थी। उसके वाङ्मय का रहस्य अब मेरी समझ में आया। वे देहातियों से भली-भांति परिचित थे, इसलिए उन्होंने जगह-जगह कहा है कि निंदा न करो, चुगली न खाओ। संतों के लिए मेरे मन में छुटपन से ही भक्ति है। उनके किये हुए भक्ति और ज्ञान के वर्णन बड़े मीठे लगते थे। लेकिन मैं सोचता था कि 'निंदा मत करो' कहने में क्या बड़ी विशेषता है। उनकी नीति-विषयक कविताएं मैं पढ़ता तो था, लेकिन वे मुझे भाती न थीं। पर-स्त्री को माता के समान समझो, पराया माल न छुओ, और निंदा न करो—इतने में उनकी नैतिक शिक्षा की पूंजी खत्म हो जाती थी। भक्ति और ज्ञान के साथ-साथ उसी श्रेणी में वे इन चीजों को भी रखते थे। यह मेरी समझ में न आता था। लेकिन अब खूब अच्छी तरह समझ गया हूं। निंदा का दुर्गुण उन्होंने लोगों की नस-नस में पैठा हुआ देखा, इसलिए उन्होंने अनिंदा पर बार-बार इतना जोर दिया और उसे बड़ा भारी सद्गुण बतलाया। कार्यकर्त्ताओं को यह शपथ ले लेनी चाहिए कि हम न तो निंदा करेंगे और न सुनेंगे। निंदा में अक्सर गलती और अत्युक्ति होती है। साहित्य में अत्युक्ति भी एक अलंकार माना गया है। संसार को चौपट कर दिया है इन साहित्य-वालों ने। वस्तु-स्थिति को तिगुना, दसगुना, बीसगुना बढ़ाकर बताना उनके मत से अलंकार है। तो क्या जो चीज जैसी है, उसे वैसी ही बताना अपनी नाक काटने के समान है? कथाकार और प्रवचनकार की अत्युक्ति का कोई ठिकाना ही नहीं। एक को सौगुना बढ़ाने का नाम अतिशयोक्ति है, ऐसी उसकी कोई नाप होती तो अतिशयोक्ति वस्तु-स्थिति की कल्पना कर सकते। लेकिन यहां तो कोई हिसाब ही नहीं है। वे एक का सौगुना नहीं करते, बल्कि शून्य को सौगुना बढ़ाते हैं। सुनाता हूं, सौ अनंत का गुणा करने से कोई एक अंक आता है, लेकिन यह तो गणितज्ञ ही जानें।

तीसरी बात जो मैं आप लोगों से कहना चाहता हूं, वह है सचाई। हमारे कार्यकर्ताओं में स्थूल अर्थ में सचाई है, सूक्ष्म अर्थ में नहीं। अगर मैं किसी से कहूं कि तुम्हारे यहां सात बजे आऊंगा तो वह पांच ही बजे से मुझे

लेने के लिए मेरे यहां आकर बैठ जाता है, क्योंकि वह जानता है कि इस देश में जो कोई किसी खास वक्त आने का वादा करता है, वह उस वक्त आयेगा ही, इसका कोई नियम नहीं। इसलिए वह पहले से ही आकर बैठ जाता है। सोचता है कि दूसरे के भरोसे काम नहीं बनता। इसलिए हमें हमेशा बिल्कुल ठीक बोलना चाहिए। किसी गांववाले से आप कोई काम करने के लिए कहिये तो वह कहेगा, 'जी हां', लेकिन उसके दिल में वह काम करना नहीं होता। हमें टालने के लिए 'जी हां' कह देता है। उसका मतलब इतना ही रहता है कि अब ज्यादा तंग न कीजिये। 'जी हां' से उसका मतलब है कि यहां से तशरीफ ले जाइये। उसके 'जी हां' में थोड़ा अहिंसा का भाव होता है। वह 'आगे बढ़िये' कह कर आपके दिल को चोट पहुंचाना नहीं चाहता। आपको वह ज्यादा तकलीफ देना नहीं चाहता, इसलिए 'जी हां' कह कर जान बचा लेता है।

इसलिए कोई भी बात जो हम देहातियों से कराना चाहें, वह उन्हें समझा भर देनी चाहिए। उनसे शपथ या व्रत नहीं लिवाना चाहिए। जब से मैं देहात में गया तब से किसी से किसी बात के विषय में वचन लेने से मुझे चिढ़-सी हो गई है। अगर मुझ से कोई कहे भी कि मैं यह बात करूंगा तो मैं उससे यही कहूंगा कि "यह तुम्हें जंचती है न ? बस, तो इतना काफी है। वचन देने की जरूरत नहीं। तुम से हो सके तो करो।" लोगों को उसकी उपयोगिता समझाकर सन्तोष मान लेना चाहिए, क्योंकि किसी से कोई काम करने का वचन लेने के बाद उस काम के कराने की जिम्मेदारी हम पर आ जाती है। अगर वह अपना वचन पूरा न करे तो हम अप्रत्यक्ष रूप से झूठ बोलने में सहायता करते हैं। राजकोट-प्रकरण और क्या चीज है ? अगर कोई हमारे सामने किसी विषय में वचन देदे और फिर उसे पूरा न करे तो उसमें हमारा भी अधःपतन होता है। इसलिए बापू को राजकोट में इतना सारा प्रयास करना पड़ा। इसलिए वचन, नियम या व्रत में किसी को बांधना नहीं चाहिए और अगर किसी से वचन लेना ही पड़े तो वह वचन अपना समझ कर उसे पूरा कराने की सावधानी पहले रखनी चाहिए। उसे पूरा करने में हर तरह से मदद करनी चाहिए। सचाई का यह गुण हमारे अन्दर होना चाहिए।

बाइबिल में कहा है, "ईश्वर की कसम न खाओ।" आपके दिल में 'हां' हो तो 'हां' कहिये और 'ना' हो तो 'ना' कहिये। लेकिन हमारे यहां तो राम-दुहाई भी काफी नहीं समझी जाती। कोई भी बात तीन बार वचन दिये बिना पक्की नहीं मानी जाती। सिर्फ 'हां' कहने का अर्थ इतना ही है कि "आपकी बात समझ में आ गई। अब देखेंगे, विचार करेंगे।" किसी मजबूत पत्थर पर एक-दो चोट लगाइये तो उसे पता भी नहीं चलता। दस-पांच मारिये, तब वह सोचने लगता है कि शायद कोई व्यायाम कर रहा है। पचास चोटें लगाइये तब कहीं उसे पता चलता है कि 'अरे, वह व्यायाम नहीं कर रहा है, यह तो मुझे फोड़ने जा रहा है।' एक बार 'हां' कहने का कोई अर्थ नहीं। दो बार कहने पर वह सोचने लगता है कि मैंने 'हां' कर दी है। और जब तीसरी बार 'हां' कहता है तब उसके ध्यान में आता है कि मैंने जान-बूझकर 'हां' कही है। कुल का अर्थ इतना ही है कि सूक्ष्म दृष्टि से झूठ हमारी नस-नस में भिद गया है। इसलिए कार्यकर्ताओं को अपने लिए यह नियम बना लेना चाहिए कि जो बात करना कबूल करें, उसे करके ही दम लें। इसमें तनिक भी गलती न करें। दूसरे से कोई वचन न लें। उस झंझट में न पड़ें।

अब कार्यकर्ताओं से कार्य-कुशलता के बारे में दो-एक बातें कहना चाहता हूं। जब हम कार्य करने जाते हैं तो चालू पीढ़ी के बहुत पीछे पड़ते हैं। चालू पीढ़ी का तो विशेषण ही 'चालू' है। वह चलती चीज है। उसकी सेवा कीजिये लेकिन उसके पीछे न पड़िये। उसके शरीर के समान उसका मन और उसके विचार भी एक सांचे में ढले हुए होते हैं। जो नई बात कहना हो वह नौजवानों से कहनी चाहिए। तरुणों के विचार और विकार दोनों बलवान् होते हैं। इसलिए कुछ लोग उन्हें उच्छृंखल भी कहते हैं। इसमें सचाई इतनी ही है कि वे बलवान् और वेगवान् होते हैं। अगर उनके विचार बलवान् हो सकते हैं तो वैराग्य भी जबरदस्त हो सकता है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है वैसे-वैसे विकारों का शमन होता जाता है। मोटे हिसाब से यह सच है। लेकिन इसका कोई भरोसा नहीं। यह कोई शास्त्र नहीं है। हमारी बात चालू पीढ़ी को अगर जंचे तो अच्छा ही है, और न जंचे तो भी कोई हानि नहीं। भावी पीढ़ी को हाथ में लेना चाहिए। युवक ही नये-नये कामों में हाथ डालते हैं,

बूढ़े नहीं। विकार किस तरह बढ़ते या घटते हैं, यह तो मैं नहीं जानता। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वृद्धों की अपेक्षा तरुणों में आशा और हिम्मत ज्यादा होती है।

दूसरी बात यह है कि कार्य शुरू करते ही उसके फल की आशा नहीं करनी चाहिए। पांच-दस साल काम करने पर भी कोई फल न होता देखकर निराश न होना चाहिए। हिंदुस्तान के लोग हजार साल के बूढ़े हैं। जब किसी गांव में कोई नया कार्यकर्त्ता जाता है तो वे सोचते हैं कि ऐसे तो कई देख चुके हैं। साधु-संत भी आये और चले गए। नया कार्यकर्ता कितने दिन टिकेगा, इसके विषय में उन्हें संदेह होता रहता है। अगर एक-दो साल टिक गया तो वे सोचते हैं कि शायद टिक भी जाय। अनुभवी समाज है। वह प्रतीक्षा करता रहता है। अगर लोग अपनी या हमारी मृत्यु तक भी राह देखते रहें तो कोई बड़ी बात नहीं।

ग्रामवासियों से 'समरस' होने का ठीक-ठीक मतलब समझना चाहिए। उनका रंग हम पर भी चढ़ जाय, इसका नाम उनसे मिलना नहीं है। इस तरह मिलने से तद्रूपता आने लगती है। मेरे मत से समाज के प्रति आदर का जितना महत्व है, उतना परिचय का नहीं। समाज के साथ समरस होने से उसका लाभ ही होगा, अगर हम ऐसा मानें तो इसमें अहंकार है। हम कोई पारस पत्थर हैं कि हमारे केवल स्पर्श से समाज की उन्नति हो जायगी? केवल समाज से समरस होने से काम होगा, यह मानने में जड़ता है। रामदास कहते हैं, "मनुष्य को ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए। समुदाय को हौसला रखना चाहिए; लेकिन अखंड और स्थिर होकर एकांत-सेवन करना चाहिए।" वे कहते हैं कि "कोई जल्दी नहीं है; शांति से अखंड एकांत-सेवन करो।" एकांत-सेवन से आत्म-परीक्षण का मौका मिलता है। लोगों से किस हद तक संपर्क बढ़ाया जाय, यह ध्यान में आता है, अन्यथा अपना निजी रंग न रहकर उस पर दूसरे रंग चढ़ने लगते हैं। कार्यकर्त्ता फिर देहातियों के रंग का ही हो जाता है। उसके चित्त में व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक होती है। फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालय की शरण लूं। एकाध बड़े आदमी के पास जाकर कहने लगता है कि मैं दो-चार महीने आपका सत्संग करना चाहता हूं। फिर वे महादेवजी और

ये नंदी, दोनों एक जगह रहने लगते हैं। वह कहता है, "मैं बड़ा होकर खराब हुआ। अब तू मेरे पास रहता है। इसमें कोई लाभ नहीं।" इसलिए समाज में सेवा के लिए ही जाना चाहिए। बाकी का समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षण में बिताना चाहिए। आत्म-परीक्षण के बिना उन्नति नहीं हो सकती। अपने स्वतंत्र समय में हम अपना एकाध प्रयोग भी करें। कई कार्यकर्त्ता कहते हैं, "क्या करें, चिंतन के लिए समय ही नहीं मिलता। जरा बैठे नहीं कि कोई-न-कोई आया नहीं।" जो आये उससे बोलने में समय बिताना सेवा नहीं है! कार्यकर्त्ता को स्वाध्याय और चिंतन के लिए अलग समय रखना चाहिए। एकांत-सेवन करना चाहिए। यह भी देहात की सेवा ही है।

एक बात स्त्रियों के संबंध में। स्त्रियों के लिए कोई काम करने में हम अपनी हतक समझते हैं। पौनार का उदाहरण लीजिये। व्याकरण के अनुसार जिनकी गणना पुल्लिग में हो सकती है, ऐसा एक भी आदमी अपनी धोती आप नहीं फींचता। बाप के कपड़े लड़की धोती है, और भाई के कपड़े बहन को धोने पड़ते हैं। मां की साड़ी फींचने में भी हमें शर्म आती है, तो पत्नी की साड़ी धोने की बात ही क्या? अगर विकट प्रसंग आ जाय तो कोई रिश्तेदारिन धो देती है। और वह भी न मिले तो पड़ोसिन यह काम करेगी। अगर वह भी न मिले और पत्नी की साड़ी साफ करने का मौका आ ही जाय तो फिर वह काम शाम को, कोई देख न पाये ऐसे इंतजाम से, चुपचाप चोरी से कर लिया जाता है। यह हालत है! और मेरा प्रस्ताव तो इससे बिल्कुल उलटा है। लेकिन अगर आप मेरी बात पर अमल करें तो आगे चलकर वे स्त्रियां ही आपके कपड़े बना देंगी, इसमें तनिक भी शंका नहीं। एकबार मैं खादी का एक स्वावलंबन-केंद्र देखने गया। दफ्तर में कोई सत्तर-पिचहत्तर स्वावलंबी खादीधारियों की तालिका टंगी हुई थी। लेकिन उसमें एक भी स्त्री नहीं थी। वहां जो सभा हुई, उसमें मेरे कहने से खासकर स्त्रियां भी बुलाई गई थीं। मैंने पूछा, "यहां इतने स्वावलंबी खादीधारी पुरुष हैं तो क्या स्त्रियां न कातेंगी?" स्त्रियों ने जवाब दिया, "हम ही तो कातती हैं।" तब मैंने खुद कातनेवाले पुरुष से हाथ उठाने को कहा। कोई तीन-चार हाथ उठे। शेष सब स्त्रियों द्वारा काते गए सूत के जोर पर स्वावलंबी थे। इसलिए कहता हूं

कि फिलहाल उनके लिए महीन सूत कातिये। आगे चलकर वे ही आप के कपड़े तैयार कर देंगी। कम-से-कम खादी-यात्रा में पहनने के लिए एक साड़ी अगर आप उन्हें बना दें तो भी मैं संतोष मान लूंगा। अगर वे यहां आयेगी तो कम-से-कम हमारी बातें उनके कानों तक पहुंचेंगी।

: २६ :

परशुराम

यह एक अद्भुत प्रयोगी लगभग पच्चीस हजार बरस पहले हो गया है। यह कोंकणस्थों का मूल पुरुष है। मां की ओर से क्षत्रिय और बाप की ओर से ब्राह्मण। पिता की आज्ञा से इसने मा का सिर ही काट डाला था। कोई पूछ सकते हैं, "यह कहां तक उपयुक्त था?" लेकिन उसकी श्रद्धा को सशंकता छू तक नहीं गई थी। 'निष्ठा से प्रयोग करना और अनुभव से ज्ञान प्राप्त करना,' यही उसका सूत्र था।

परशुराम उस जमाने का सर्वोत्तम पुरुषार्थी व्यक्ति था। उसे दुःखियों के प्रति दया थी और अन्यायों से तीव्रतम चिढ़। उस समय के क्षत्रिय बहुत उन्मत्त हो गये थे। वे अपने को जनता का रक्षक कहते थे। लेकिन व्यवहार में तो उन्होंने कभी का 'र' को 'भ' में बदल दिया था। परशुराम ने उन अन्यायी क्षत्रियों का घोर प्रतिकार शुरू किया। जितने क्षत्रिय उसके हाथ आये, उन सबको उसने मार ही डाला। 'पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाकर छोड़ूंगा', यह उसने अपना विरद बना लिया था।

इसके लिए वह अपने पास हमेशा एक कुल्हाड़ी रखने लगा और कुल्हाड़ी से रोज कम-से-कम एक क्षत्रिय का सिर तो उड़ाना ही चाहिए, ऐसी उपासना उसने अपने ब्राह्मण अनुयायियों में जारी की। पृथ्वी निःक्षत्रिय करने का यह प्रयोग उसने इक्कीस बार किया, लेकिन पुराने क्षत्रियों को जान-बूझकर खोज-खोज कर मारने और उनकी जगह अनजाने नये-नये क्षत्रियों का निर्माण करने की प्रक्रिया का फलित भला क्या हो सकता था?

आखिर रामचंद्रजी ने उसकी आंखों में अंजन डाला। तब के उसकी दृष्टि कुछ सुधरी।

तब उसने उस समय के कोंकण के घने जंगल तोड़-तोड़ कर वस्तियां बसाने के रचनात्मक कार्य का उपक्रम किया। लेकिन उसके अनुयायियों को कुल्हाड़ी के हिंसक प्रयोग का चस्का पड़ गया था। इसलिए उन्हें कुल्हाड़ी का अपेक्षाकृत अहिंसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा। निर्धन को जिस प्रकार उसके सगे-संबंधी त्याग देते हैं, उसी प्रकार उसके अनुयायियों ने भी उसे छोड़ दिया।

लेकिन यह निष्ठावान् महापुरुष अकेला ही वह काम करता रहा। ऐच्छिक दरिद्रता का कारण बननेवाले, आरण्यक प्रजा के आदि-सेवक भगवान् शंकर के ध्यान से वह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जंगल काटना, झोंपड़ियां बनाना, वन्य पशुओं की तरह एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाले अपने मानव-बंधुओं को सामुदायिक साधना सिखाना—इन उद्योगों में उस स्फूर्ति से काम लेने लगा। निष्ठावंत और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नहीं रहने पाती। परशुराम की अदम्य सेवावृत्ति देख कोंकण के जंगलों के वे वन्य निवासी पिघल गये और आखिर उन्होंने उनका अच्छा साथ दिया। अपने-आपको ब्राह्मण कहलानेवाले उसके पुराने अनुयायियों ने तो उसका साथ छोड़कर शहरों की पनाह ली थी, मगर उनके बदले ये नये अवर्ण अनुयायी उसे मिले। उसने उन्हें स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चार की शिक्षा दी। एक दिन परशुराम ने उनसे कहा, "भाइयो, आज से तुम लोग ब्राह्मण हो गये।"

राम और परशुराम की पहली भेंट धनुर्भंग-प्रसंग के बाद एक बार हुई थी। उसी वक्त उसे रामचंद्रजी से जीवन-दृष्टि मिली थी। उसके बाद इतने दिनों में उन दोनों की भेंट कभी नहीं हुई थी। लेकिन अपने वनवास के दिनों में रामचंद्र पंचवटी में आकर रहे थे। उनके वहां के निवास के आखिरी वर्ष में बागलाण की तरफ से परशुराम उन से मिलने आया था। वह जब पंचवटी के आश्रम में पहुंचा, उस समय रामचंद्र पौधों को पानी दे रहे थे। परशुराम से मिलकर रामचंद्र को बड़ा ही आनंद हुआ। उन्होंने उस तपस्वी और वृद्ध पुरुष का साष्टांग प्रणामपूर्वक स्वागत किया और कुशल-प्रश्नादि के

वाद उसके कार्यक्रम के वारे में पूछा। परशुराम ने कुल्हाड़ी के अपने नये प्रयोग का सारा हाल रामचंद्र को सुनाया। वह सुन रामचंद्र ने उसका वड़ा गौरव किया। दूसरे दिन परशुराम वहां से लौटा।

अपने मुकाम पर वापस आते ही उसने उन नये ब्राह्मणों को राम का सारा हाल सुनाया और बोला—

"रामचंद्र मेरा गुरु है। अपनी पहली ही भेंट में उसने मुझे जो उपदेश दिया, उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मैं तुम्हारी सेवा करने लगा। अवकी मुलाकात में उसने मुझे शब्दों द्वारा कोई भी उपदेश नहीं दिया। लेकिन उसकी कृति में से मुझे उपदेश मिला है। वही मैं अब तुम लोगों को सुनाता हूं।

"हम लोग जंगल काट-काटकर वस्ती वसाने का जो कार्य कर रहे हैं, वह वेशक उपयोगी कार्य है। लेकिन इसकी भी मर्यादा है। उस मर्यादा को न जानकर हम अगर पेड़ काटते ही रहेंगे, तो वह एक वड़ी भारी हिंसा होगी। और कोई भी हिंसा अपने कर्त्ता पर उलटे विना नहीं रहती, यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अव हम पेड़ काटने का काम खत्म करें। आज तक जितना कुछ किया, सो ठीक ही किया; क्योंकि उसकी वदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था, अव 'सह्याद्रि' वन गया है। लेकिन अव हमें जीवनोपयोगी वृक्षों के रक्षण का काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए।"

यह कहकर उसने उन्हें आम, केले, नारियल, काजू, कटहल, अनन्नास, आदि छोटे-वड़े फल के वृक्षों के संगोपन की विधि सिखाई। उसे इसके लिए स्वयं वनस्पति-संवर्धन-शास्त्र का अध्ययन करना पड़ा और उसने अपने हमेशा के उत्साह से उस शास्त्र का अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्र में कई महत्वपूर्ण शोध भी किये। पेड़ों को मनोज्ञ आकार देने के लिए उन्हें व्यवस्थित काटने-छांटने की जरूरत महसूसकर, उसने उसके लिए छोटे से औजार का आविष्कार किया। इस औजार को 'नव-परशु' का नाम देकर उसने अपनी परशु-उपासना अखंड जारी रखी।

एक वार उसने समुद्रतट पर नारियल के पेड़ लगाने का एक सामुदायिक समारोह सम्पन्न किया। उस अवसर से लाभ उठाकर उसने वहां आये हुए लोगों के सामने अपने जीवन के सारे प्रयोगों और अनुभवों का

सार उपस्थित किया। सामने पूरे ज्वार में समुद्र गरज रहा था। उसकी तरफ इशारा करके समुद्रवत् गंभीर ध्वनि में उसने बोलना प्रारंभ किया—

"भाइयो, यह समुद्र हमें क्या सिखा रहा है, इसपर ध्यान दीजिये। इतना प्रचंड शक्तिशाली है यह; परंतु अपने परम उत्कर्ष के समय भी यह अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। इसलिए इसकी शक्ति हमेशा ज्यों-की-त्यों रही है। मैंने अपने सारे उद्योगों और प्रयोगों में से यही निष्कर्ष निकाला है। छुटपन में मैंने पिता की आज्ञा से अपनी माता की हत्या की। लोग कहने लगे 'कैसा मातृ-हत्यारा है!' मैं उस आक्षेप को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। मैं कहा करता, 'आत्मा अमर है और शरीर मिथ्या है। कौन किसे मारता है? मैं मातृ-हत्यारा नहीं हूं, प्रत्युत पितृ-भक्त हूं।'

"लेकिन आज मैं अपनी गलती महसूस करता हूं। मातृ-वध का आरोप मुझे उस वक्त स्वीकार नहीं था और आज भी नहीं है। लेकिन मेरे ध्यान में यह बात नहीं आई थी कि पितृ-भक्ति की भी मर्यादा होती है। यही मेरा वास्तविक दोष था। लोग अगर अचूक उतना ही दोष बताते तो उससे मेरी विचार-शुद्धि हुई होती। लेकिन उन्होंने भी मर्यादा का अतिक्रमण करके मुझ पर आक्षेप किया और उससे मेरी विचार-शुद्धि में कोई सहायता नहीं पहुंची।

"बाद में बड़ा होनेपर न्याय के प्रतिकार का व्रत लेकर मैं जुल्मी सत्ता से इक्कीस बार लड़ा। हर बार मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं सफल हो गया हूं; लेकिन प्रत्येक बार मुझे निश्चित असफलता ही नसीब हुई। रामचंद्र ने मेरी गलती मुझे समझा दी।

"अन्याय-प्रतिकार मनुष्य का धर्म तो है; लेकिन उसकी भी एक शास्त्रीय मर्यादा है, यह ज्ञान मुझे गुरु-कृपा की बदौलत प्राप्त हुआ।

"इसके उपरांत मैं जंगल काटकर मानव-उपनिवेश बसाने के, मानव-सेवा के कार्य में जुट गया; लेकिन आप जानते ही हैं कि जंगल काटने की भी एक हद होती है, उस बात का ज्ञान मुझे ठीक समय पर कैसे हुआ?

"अब तक मैं निरंतर प्रवृत्ति का ही आचरण करता रहा। पर आखिर

प्रवृत्ति की भी मर्यादा तो है ही न ? इसलिए अब मैं निवत्त होने की सोच रहा हूं। इसके माने यह नहीं है कि मैं कर्म ही त्याग दूंगा। स्वतंत्र नई प्रवृत्ति का आरंभ अब नहीं करूंगा। प्रवाह-पतित करता रहूंगा। प्रसंगवश आप पूछेंगे तब, सलाह भी देता रहूंगा।

"इसीलिए मैंने आज जानबूझकर इस समारोह का आयोजन किया और अपना यह 'समुद्रोपनिषत्' या जीवनोपनिषत्', चाहे जो कह लीजिये, आपसे निवेदन किया है। फिर-से थोड़े में कहता हूं—पितृ-भक्ति की मर्यादा, प्रतिकार की मर्यादा, मानव-सेवा की मर्यादा—सारांश, सभी प्रवृत्तियों की मर्यादा—यही मेरा जीवनसार है। आओ, एक बार सब मिलकर कहें, "ॐ नमो भगवत्ये मर्यादायै।"

इतना कहकर परशुराम शांत हो गया। उसके उपदेश की यह गंभीर प्रतिध्वनि सह्याद्रि की खोह-कंदराओं में आज भी गूंजती हुई सुनाई देती है।

: ३० :

राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

आजकल खादी का कार्य हमने श्रद्धा से किया है। अब श्रद्धा के साथ-साथ विचारपूर्वक करने का समय आ गया है। खरीदनेवाले ही यह समय लाये हैं; क्योंकि उन्होंने ही खादी की दर बढ़ाई है।

सन् १९३० में हमने सत्रह आने गज खरीदी थी। मगर सस्ती करने के इरादे से दर कम करते-करते चार आने गज पड़ने लगीं। चारों ओर 'यंत्र-युग' होने के कारण कार्यकर्त्ताओं ने मिल के भाव दृष्टि में रखकर धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उसे सस्ता किया। इस हेतु की सिद्धि के लिए जहां गरीबी थी, उन स्थानों में कम-से-कम मजदूरी देकर खादी उत्पत्ति का कार्य चलाना पड़ा। लेनेवालों ने भी ऐसी खादी इसलिए ली कि वह सस्ती थी। मध्यम-वर्ग के लोग कहने लगे—अब खादी का इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योंकि

उसके भाव मिल के कपड़े के बराबर हो गये हैं, वह टिकाऊ भी काफी है और मंहगी भी नहीं है। अर्थात्, 'थुड़मुली और घनदुधी' इस कहावत के अनुसार खादीरूपी गाय लोगों को चाहिए थी। उन्हें वह वैसी मिल गई और वे मानने लगे कि खादी इस्तेमाल करके महान् देश-सेवा कर रहे हैं।

यह बात तो गांधीजी ने सामने रखी है कि अब मजदूरों को अधिक मजदूरी दी जाय, उन्हें रोजाना आठ आने मिलने चाहिए। क्या यह भी लालबुझक्कड़ की बकवास है या उनकी बुद्धि सठिया गई है ? या उनके कहने में कुछ सार भी है ? इस पर हमें विचार करना चाहिए। हम अभी साठ के अन्दर ही हैं, संसार से अभी ऊब नहीं गये हैं, दुनिया में अभी हमें रहना है। यदि यह विचार हमें नहीं जंचते तो यह समझकर हम उन्हें छोड़ सकते हैं कि यह खब्ती लोगों की सनक है। सच बात तो यह है कि जब से खादी की मजदूरी बढ़ी तब से मुझमें मानो नई जान आ गई। पहले भी मैं यही काम करता था। मैं व्यवस्थित कातनेवाला हूं। उत्तम पूनी और निर्दोष चरखा काम में लाता हूं। कातते समय मेरा सूत टूटता नहीं, यह आपने अभी देखा ही है। मैं श्रद्धापूर्वक, ध्यानपूर्वक कातता हूं। आठ घंटे इस तरह काम करने पर भी मेरी मजदूरी सवा दो आने पड़ती थी। रीढ़ में दर्द होने लगता था। लगातार आठ घंटे काम करता था, मानपूर्वक कातता था, एक बार पालथी जमाई कि चार घंटे उसी आसन में कातता रहता। तो भी मैं सवा दो आने ही कमा सकता था। सारे राष्ट्र में इसका प्रचार कैसे हो, इसका विचार मैं करता रहता था। यह मजदूरी बढ़ गई, इससे मुझे आनन्द हुआ, कारण मैं भी एक मजदूर ही हूं। "घायल की गति घायल जानै।"

मेरे हाथ के सूत की धोती पांच रुपये की हो, तब भी धनी लोग बारह रुपये में खरीदने को तैयार हैं। कहते हैं, "वह आपके सूत की है, इसलिए हम इसे लेते हैं।" ऐसा क्यों ? मैं मजदूरों का प्रतिनिधि हूं। जो मजदूरी मुझे देते हो वही उन्हें भी दो। ऐसी परिस्थिति में मुझे यही चिंता हो गई है कि इतनी सस्ती खादी कैसे जीवित रह सकेगी। अब मेरी यह चिन्ता दूर हो गई है। पहले कातनेवाले चिंतित रहते थे कि खादी कैसे टिकेगी। आज वैसी ही चिन्ता पहननेवालों को मालूम हो रही है।

संसार में तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं—(१) काश्तकार, (२) दूसरे धंधे करने वाले और (३) कुछ भी धंधा न करनेवाले, जैसे बूढ़े, रोगी, बच्चे, बेकार वगैरा। अर्थशास्त्र का—सच्चे अर्थशास्त्र का—यह नियम है कि इन तीनों वर्गों में जो ईमानदार हैं, उन सबको पेटभर अन्न, वस्त्र और आश्रय की आवश्यक सुविधा होनी चाहिए। कुटुम्ब भी इसी तत्व पर चलता है। जैसा कुटुम्ब में वैसा ही समस्त राष्ट्र में होना चाहिए। इसी का नाम है 'राष्ट्रीय अर्थशास्त्र'—सच्चा अर्थशास्त्र। इस अर्थशास्त्र में सब ईमानदार आदमियों के लिए पूरी सुविधा होनी चाहिए। आलसी यानी गैर-ईमानदार लोगों के पोषण का भार राष्ट्र के ऊपर नहीं हो सकता।

इंग्लैंड-सरीखे देशों में (जो यन्त्र-सामग्री से सम्पन्न हैं) दूसरे देशों की सम्पत्ति बहकर आती है, सब बाजार खुले हुए हैं, नाना प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हैं तो भी वहां बेकारी है। ऐसा क्यों? इसका कारण है यंत्र। इस बेकारी के कारण प्रतिवर्ष बेकारों को भिक्षा (डोल) देनी पड़ती है। ऐसे बीस-पच्चीस लाख बेकारों को मजदूरी न देकर अन्न देना पड़ता है। आप कहते हैं कि भिखारियों को काम किये बगैर अन्न न दो, पर वहां अन्नदान का रिवाज चालू है। इन लोगों को काम दीजिये। इन्हें काम देना कर्तव्य है। 'काम दो, नहीं तो खाने को दो', यह नीति इंग्लैंड में है, तो सारे संसार में क्यों न हो? यहां भी उसे लागू कीजिये। पर यहां लागू करने पर काम न देकर डेढ़ करोड़ लोगों को अन्न देना पड़ेगा। यहां कम-से-कम डेढ़ करोड़ मनुष्य ऐसे निकलेंगे। यह मैं हिसाब देखकर कह रहा हूं। इतने लोगों को अन्न कैसे दिया जा सकेगा? नहीं दिया जा सकता—मन में ठान लिया जाय तो भी नहीं दिया जा सकता। उधर, चूंकि इंग्लैंड वाले दूसरे देशों की सम्पत्ति लूट लाते हैं, इसलिए वे ऐसा कर सकते हैं। ईमानदारी से राज करना हो तो ऐसा करना सम्भव नहीं हो सकता।

हिन्दुस्तान कृषि-प्रधान देश है तो भी यहां ऐसा धंधा नहीं, जो कृषि के साथ-साथ किया जा सके। जिस देश में केवल खेती होती है, वह राष्ट्र दुर्बल समझा जाता है। यहां हिन्दुस्तान में तो ७५ प्रतिशत से भी ज्यादा काश्तकार हैं। यहां की जमीन पर कम-से-कम दस हजार बरस से काश्त की जाती है। अमरीका हिन्दुस्तान से तिगुना बड़ा मुल्क है, पर आबादी वहां की

सिर्फ १२ करोड़ है। जमीन काश्त केवल ४०० वर्ष पूर्व से हो रही है। इसलिए वहां की जमीन उपजाऊ है और वह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्र के काश्तकारों के हाथ में और भी धंधे दिये जायं तभी वह संभल सकेगा। काश्तकार, यानी (१) खेती करनेवाला, (२) गोपालन करनेवाला और (३) धुन कर कातनेवाला। काश्तकार की यह व्याख्या की जाय तभी हिन्दुस्तान में काश्तकारी टिक सकेगी।

सारांश यह वर्त्तमान परिपाटी बदलनी ही पड़ेगी । बहुत लोग दुःख प्रकट करते हैं कि खादी का प्रचार जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। इसमें दुःख नहीं, आनन्द है। खादी बीड़ी के बंडल अथवा लिप्टन की चाय नहीं है। खादी एक विचार है। आग लगाने को कहें तो देर नहीं लगती, पर यदि गांव बसाने को कहें तो इसमें कितना समय लगेगा, इसका भी विचार कीजिये। खादी निर्माण का काम है, विध्वंस का नहीं। यह विचार अंग्रेजों के विचार का शत्रु है। तब खादी की प्रगति धीमी है, इसका दुःख नहीं, यह तो सद्भाग्य ही है। पहले अपना राज था तब खादी थी ही; पर उस खादी में और आज की खादी में अन्तर है। आज की खादी में जो विचार है, वह उस समय नहीं था। आज हम खादी पहनते हैं, इसके क्या मानी हैं? यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आज की खादी का अर्थ है सारे संसार में चलते हुए प्रवाह के विरुद्ध जाना। यह पानी में प्रवाह के ऊपर चढ़ना है। इसलिए जब हम यह बहुत-सा प्रतिकूल प्रवाह-प्रतिकूल समय-जीत सकेंगे, तभी खादी आगे बढ़ सकेगी। "इस प्रतिकूल समय का संहार करनेवाली मैं हूं", यह वह कह सकेगी । "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः" ऐसा अपना विराट् रूप वह दिखलायेगी। इसलिए खादी की यदि मिल के कपड़े से तुलना की गई तो समझ लीजिये कि वह मिट गई, मर गई। इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि "मैं मिल की तुलना में सस्ती नहीं, मंहगी हूं। मैं बड़े मोल की हूं। जो-जो विचारशील मनुष्य हैं, मैं उन्हें अलंकृत करती हूं। मैं सिर्फ शरीर ढांपने-भर को नहीं आई, मैं तो आपका मन हरण करने आई हूं।" ऐसी खादी एकाएक कैसे प्रसूत होगी? वह धीरे-धीरे ही आगे जायगी और जायगी तो पक्के तौर से जायगी । खादी के प्रचलित विचारों की विरोधिनी होने के कारण उसे पहननेवालों की गणना पागलों में होगी।

मैंने अभी जो तीन वर्ग बनाये हैं—काश्तकार, अन्य धंधा करनेवाले और जिन के पास धंधा नहीं—उन सभी ईमानदार मनुष्यों को हमें अन्न देना है। इसे करने के लिए तीन शर्तें हैं। एक तो सर्वप्रथम काश्तकार की व्याख्या बदलिये। (१) खेती, (२) गो-रक्षण और (३) कातने का काम करने-वाले, ये सब काश्तकार हैं—काश्तकार की ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, बैल, गाय, दूध इन वस्तुओं के विषय में काश्तकार को स्वाव-लंबी होना चाहिए। यह एक शर्त हुई। दूसरी शर्त है कि जो वस्तुएं काश्त-कार तैयार करें, वे सब दूसरों को महंगी खरीदनी चाहिए। तीसरी बात यह है कि इनके सिवाय बाकी की चीजें जो काश्तकार को लेनी हों, वे उसे सस्ती मिलनी चाहिए। अन्न-वस्त्र, दूध ये वस्तुएं महंगी, पर घड़ी, गिलास-जैसी वस्तुएं सस्ती होनी चाहिए। वास्तव में दूध महंगा होना चाहिए, जो है सस्ता, और गिलास सस्ते होने चाहिए, जो हैं महंगे। यह आज की स्थिति है। आपको यह विचार रूढ़ करना चाहिए कि अच्छे-से-अच्छे गिलास सस्ते और मध्यम दूध भी महंगा होना चाहिए। इस प्रकार का अर्थशास्त्र आपको तैयार करना चाहिए। खादी, दूध और अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी हो सकेगा? इने-गिने कुछ ही नौकरों को नियमित रूप से अच्छी तनख्वाह मिलती है उनकी बात छोड़िये। जिस राष्ट्र में पिचहत्तर प्रतिशत काश्तकार हों, उसमें यदि ये वस्तुएं सस्ती हुई तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा? उसे सुखी बनाने के लिए खादी, दूध, अनाज ये काश्तकारों की चीजें महंगी और बाकी की चीजें सस्ती होनी चाहिए।

मुझसे लोग कहते हैं, "तुम्हारे ये सब विचार प्रतिगामी हैं। इस बीसवीं सदी में तुम गांधीवाले लोग यंत्र-विरोध कर रहे हो।" पर मैं कहता हूं कि क्या आप हमारे मन की मात जानते हैं? हम सब यंत्र-विरोधी हैं, यह आपने कैसे समझ लिया? मैं कहता हूं कि हम यंत्रवाले ही हैं। एकदम आप हमें समझ सकें, यह बात इतनी सरल नहीं है। हम तो आपको भी हजम कर जानेवाले हैं। मैं कहता हूं कि आपने यंत्रों का आविष्कार किया है न? हमें भी वे मान्य हैं। काश्तकारों की वस्तुएं छोड़कर बाकी की वस्तुएं आप सस्ती कीजिये। अपनी यंत्रविद्या काश्तकारों के धंधों के अलावा दूसरे धंधों पर चलाइये और वे सारी वस्तुएं सस्ती होने दीजिये। पर आज होता है उल्टा।

काश्तकारों की वस्तुएं सस्ती, पर इतने यंत्र होते हुए भी यंत्र की सारी वस्तुएं महंगी ! मैं खादीवाला हूं, तो भी यह नहीं कहता कि चकमक से आग पैदा कर लो। मुझे भी दियासलाई चाहिए। काश्तकारों को एक पैसे में पांच डिविया क्यों नहीं देते ? आप कहते हैं कि हमने बिजली तैयार की और वह गांववालों को चाहिए। तो दीजिये न आधा आने में महीने भर ! आप खुशी से यंत्र निकालिये, पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए, जैसा मैं कहता हूं। केले चार आने दर्जन होने चाहिए और आपके यंत्रों की बनी वस्तुएं पैसे-दो-पैसे में मिलनी चाहिए। मक्खन दो रुपये सेर आपको काश्तकारों से खरीदना चाहिए। यदि आप कहें कि हमें यह जंचता नहीं तो काश्तकार भी कह दें कि हम अपनी चीजें खाते हैं, हमारे खाने के बाद बचेंगी तो आपको देंगे। मुझे बताइये, कौन-सा काश्तकार इसका विरोध करेगा ?

इसलिए यह खादी का विचार समझ लेना चाहिए। बहुतों के सामने यह समस्या है कि खादी महंगी हुई तो क्या होगा ? पर किन का ? किसानों को खादी खरीदनी नहीं, बेचनी है। इसलिए उनके लिए खादी महंगी नहीं, वह उन्हें दूसरों को महंगी बेचनी है।

: ३१ :

खादी और गादी की लड़ाई

सोनेगांव की खादी-यात्रा में शिष्ट लोगों के लिए गादी (गद्दी) बिछाई गई थी। 'शिष्ट' की जगह चाहे 'विशिष्ट' कह लीजिये, क्योंकि वहां जो दूसरे लोग आये थे वे भी शिष्ट तो थे ही। उस मौके पर मुझे कहना पड़ा था कि खादी और गादी की अनबन है, दोनों की लड़ाई है और अगर इस लड़ाई में गादी की ही जीत होनेवाली हो तो हम खादी को छोड़ दें।

लोग कहते हैं, 'खादी की भी तो गादी बन सकती है ?' हां, बन क्यों नहीं सकती ? अंगूर से भी शराब बन सकती है। लेकिन बननी नहीं चाहिए और बनाने पर उसे अंगूर में शुमार न करना ही उचित है।

हमें ध्यान देना चाहिए भावार्थ की तरफ। बीमार, कमजोर और बूढ़ों के लिए गादी का इंतजाम किया जाय तो बात और है। लेकिन जो शिष्ट समझे जाते हैं, उनमें और दूसरों में फर्क करके उनके लिए भेद दर्शक गद्दी-तकिये का आसन लगाना बिल्कुल दूसरी ही चीज है। इस दूसरी तरह की गादी और खादी में विरोध है।

वास्तव में तो जो गादी हमेशा आलसी लोगों और खटमलों की सोहबत करती है, उसे शिष्ट जनों के लिए बिछाना उनका आदर नहीं, बल्कि अनादर करना है। लेकिन दुर्भाग्यवश शिष्ट लोग भी इसमें अपना अपमान नहीं समझते। हमने तो यहां तक कमाल कर दिया कि शंकराचार्य की भी गद्दी बनाने से बाज नहीं आये ! शंकराचार्य तो कह गये—"कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः"—लंगोटिये ही सबसे बड़भागी हैं। और किसी को यह बात चाहे जंचे या न जंचे, कम-से-कम आचार्य के भक्तों को तो जंचनी ही चाहिए।

राष्ट्र ऊपर उठते हैं और गिरते हैं। लेकिन आलस्य, विलासिता और जड़ता कभी ऊपर उठती ही नहीं। शिवाजी महाराज कहा करते थे कि "हम तो धर्म के लिए फकीर बने हैं।" लेकिन पेशवा तो पानीपत की लड़ाई के लिए भी सकुटुंब, सपरिवार गये, मानो किसी बारात में जा रहे हों और वहां से कार्य सिद्धि से हाथ धोकर अपना-सा मुंह लेकर लौटे। गिबन ने कहा है—"रोम चढ़ा कैसे ?" "सादगी से", "रोम गिरा कैसे ?" "भोग-विलास से।"

कुछ साल पहले, असहयोग के आरंभ काल में, देश के युवकों और बूढ़ों में, पुरुषों और स्त्रियों में, त्यागवृत्ति और वीरता का संचार होने लगा था। सत्रह-सत्रह आने गज वाली खादी—टाट-जैसी मोटी—लोग बड़े अभिमान से बेचते थे और खरीदनेवाले भी अभिमान से खरीदते थे। आगे चल कर धीरे-धीरे हम खादी का कुछ और ही ढंग से गुणगान करने लगे। खादी बेचनेवाले गर्व से कहने लगे, "देखिये, अब खादी में कितनी तरक्की हो गई है। बिल्कुल अप-टू-डेट—अद्यतन—पोशाक, विलासी, भड़कीली, महीन, जैसी आप चाहें खादी की बनवा लीजिये। और सो भी पहले की अपेक्षा कितने सस्ते दामों में !" खरीदार भी कहने लगे, "खादी की प्रतिष्ठा इसी

तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़े और एक दिन वह मिल के कपड़े की पूरी-पूरी बराबरी करे।" लेकिन उनकी समझ में यह मोटी-सी बात न आती थी कि यदि खादी को मिल के कपड़े की ही बराबरी करनी है तो फिर खादी की जरूरत ही किसलिए है ? मिल ही क्या बुरी है ? वैद्य अपनी दवाई की तारीफ करने लगा, "बिल्कुल सस्ती दवाई है, न परहेज की जरूरत न पथ्य की।" मरीज आ गया चकमे में। लेकिन बेचारा यह भूल गया कि 'पथ्य-परहेज नहीं तो फायदा भी नहीं।'

कोई गलत अर्थ न समझे। कहने का यह मतलब कतई नहीं है कि मजदूरों को पूरी-पूरी मजदूरी देकर खादी सस्ती करना हमारा कर्तव्य नहीं है। यह भी कोई नहीं कहता कि खादी सब लोगों की सब तरह की जरूरतें पूरी न करे। प्रश्न केवल इतना ही है कि खादी का गौरव किस बात में है। किसी की आंखें बिगड़ गई हों तो उसे ऐनक जरूर देनी चाहिए। लेकिन ऐनकधारी को देख उसे 'पद्म-लोचन' कहकर उसकी बड़ाई तो नहीं की जा सकती।

यहां एक प्रसंग सहज ही याद आ रहा है। एक रसिक दृष्टिवाला कलाधर एक बार पंढरपुर जाकर विठोबा के दर्शन कर आया। मुझ से कहने लगा, "विठोबा के सारे भक्त उनके रूप की प्रशंसा करते नहीं अघाते; उनके उद्घोष (स्लोगंस) सुन-सुन कर तो जी ऊब गया। लेकिन मुझे तो उस मूर्ति को देख कर कहीं भी सुंदरता का खयाल नहीं आया। एक निरा बेडौल पत्थर नजर आया। मूर्तिकार और भक्तगण दोनों, मुझे तो ऐसा लगता है कि, यदृच्छा लाभ से ही संतुष्ट हो गये। पंचतंत्र वाले किस्से में जिस तरह उन तीन धूर्तों ने सिर्फ बार-बार कह-कह कर बकरे को कुत्ता बना दिया, ठीक उसी तरह इन लोगों ने चिल्ला-चिल्लाकर एक बेडौल पत्थर में सुंदरता निर्माण करने की ठान ली है।" मैंने जवाब दिया, "हां, यही बात है। इस संसार की भीमा नदी में गोते खानेवालों को उबारने का जिसने प्रण किया है, उसे तो मजबूत, दृढ़, ठोस और हट्टा-कट्टा ही होना चाहिए। वह यदि शेषशय्या पर लेटनेवाले या पंचायतन का ठाट जमाकर तस्वीर खींचनेवाले के लिए आसन लगानेवाले देवता की सुंदरता का अनुकरण करे, तो क्या यह उसे शोभा देगी ?" रामदास ने सिखाया है—"मनुष्य के अंतरंग का शृंगार है चातुर्य,

वस्त्र तो केवल बाहरी सजावट हैं। दोनों में कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका विचार करो।" इसीलिए शिवाजी को हट्टे-कट्टे मावलों-जैसे साथी मिले।

मेरा समाजवादी दोस्त कहेगा, "तुम तो बस वही अपना पुराना राग अलापने लगे। बस, फिर उसी दरिद्रनारायण की पूजा में मगन हो गये! यहां दरिद्रता के पुजारी नहीं हैं। अपने राम तो वैभव के आराधक हैं।" मैं उनसे कहना चाहता हूं, "मेरे दोस्त, इस तरह अक्ल के पीछे लट्ठ लेकर मत पड़ो। हम कब दारिद्र्य को नारायण कहते हैं? हम तो 'दरिद्र' को नारायण के नाम से पुकारते हैं। और 'दरिद्र' को नारायण नाम दिया, इसका यह मतलब थोड़े ही है कि धनिक 'नारायण' नहीं हो सकता? यदि मैं कहूं कि 'ब्रह्म हूं' तो इसका यह अर्थ थोड़े ही है कि 'तुम ब्रह्म नहीं हो?' बस, अब तो संतोष हुआ? दरिद्र भी नारायण है और श्रीमान् भी। दरिद्रनारायण की पूजा उसकी दरिद्रता दूर करने से पूरी होती है और श्रीमन्नारायण की पूजा उसे सच्चे ऐश्वर्य का अर्थ समझाकर उसका त्याग करवाने से होती है और जब किसी मूर्ख-नारायण से पाला पड़े, तो उसकी पूजा इस प्रकार विश्लेषण करके समझाने से होती है! क्यों ठीक है न?"

लेकिन, इस यथार्थ विनोद को जाने दीजिये। अगर समाजवादी दोस्त-को वैराग्य नहीं सुहाता तो वैभव ही सही। वैभव किसे कहना चाहिए और वह कैसे प्राप्त किया जाता है, इन बातों को भी रहने दीजिये। लेकिन समाजवादी कम-से-कम साम्यवादी तो है न? इन दो-चार आदमियों को नरम-नरम गादी मिले और बाकी सबको टाट के चीथड़े या धूल नसीब हो, वह तो उसे नहीं भाता न? जब मैंने खादी और गादी की लड़ाई की बात छेड़ी तो मेरे मन में यह अर्थ भी तो था ही। सब लोगों के लिए गादी लगाई गई होती तो दूसरा ही सवाल खड़ा होता। लेकिन यह मुमकिन नहीं था। और मुमकिन नहीं था, इसलिए मुनासिब भी नहीं था, यह ध्यान में आना जरूरी था।

आजकल हमारे कुछ दोस्तों में एक ओर साम्यवाद और दूसरी ओर विषम व्यवहार का बड़ा जोर है। साम्यवाद और विषम व्यवहार बड़े आनंद से साथ-साथ चल रहे हैं। फैजपुर के बाद हरिपुरा की कांग्रेस ने विषमता की दिशा में एक कदम और आगे बढ़ाया। अध्यक्ष, विशिष्ट पुरुष, बड़े नेता,

छोटे नेता, प्रतिनिधि, माननीय दर्शकगण और देहाती जनता—इन सबके लिए वहां दर्जेवार प्रवंध किया गया था। गांधीजी के लिए यह दारुण दुःख का विषय था, यह वात जाहिर हो चुकी है। यह विषम व्यवहार खास मौकोंपर ही होता हो, सो वात भी नहीं। हमारे जीवन और मन में उसने घर कर लिया है। "मजदूरों को पूरा-पूरा वेतन दिया जाना चाहिए या नहीं," इस विषय पर वहस हो सकती है; पर, "व्यवस्थापकों को पूरा वेतन दिया जाय या नहीं", इसकी वहस कोई नहीं छेड़ता। जिन्हें हम देहात की सेवा के लिए भेजते हैं उन्हें अपना रहन-सहन ग्राम-जीवन के अनुकूल वनाने की हिदायत देते हैं। उन्हें देहात में भेजने और हिदायतें देने को तो हम तैयार रहते हैं, लेकिन हमें इस वात की क्या तनिक भी अनुभूति नहीं होती कि स्वयं हमको भी अपनी हिदायतों के अनुसार चलने की कोशिश करनी चाहिए। साम्य की भेद से दुश्मनी है, लेकिन विवेक से तो नहीं है ? इसीलिए वूढ़ों के लिए गादी हमने मंजूर कर ली है। इसी तरह देहात की सेवा के लिए जानेवाले युवक कार्यकर्ता और उन्हें वहां भेजनेवाले बुजुर्ग नेताओं के जीवन में थोड़ा-वहुत फर्क होना न्याय-संगत है और विवेक उसे मंजूर करेगा। इसीलिए साम्य-सिद्धातों की भी उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं रहेगी। लेकिन आज जो फर्क पाया जाता है वह थोड़ा-वहुत नहीं है। अक्सर वह वहुत मोटा, नजर में सहज ही आनेवाला ही नहीं, वल्कि चुभनेवाला होता है। इस विषम वैभव का नाम गादी है और इस गादी से खादी की दुश्मनी और लड़ाई है।

हाल ही में आश्रम में एक वात की चर्चा हो रही थी। आश्रम की आवादी वढ़ रही है, इसीलिए अव नई जगह मोल लेकर ग्राम-शास्त्र के अनुसार व्यवस्थित नकशा वनाना चाहिए। वुनकर, कातनेवाले, वढ़ई आदि मजदूर और व्यवस्थापक-वर्ग, परिवार, दफ्तर के कार्यकर्त्ता, आश्रमवासी, मेहमान आदि के लिए किस प्रकार के मकान वनवाने चाहिए, यह मुझसे पूछा गया। पूछनेवाला खुद साम्यपूजक तो था ही, और मैं साम्यवादी नहीं हूं, यह भी जानता था। मैंने कुछ मन-ही-मन और कुछ प्रकट रूप में कहा, "मैं दाल हजम नहीं कर सकता, इसलिए दही खाता हूं। मजदूर को दही का शौक तो है, लेकिन वह दाल हजम कर सकता है। इसलिए दाल से काम चला लेता है। इतनी विषमता तो हम विवेक की दुहाई देकर हज़म कर गये। लेकिन क्या

हमारे लिए मकान भी भिन्न-भिन्न प्रकार का होना जरूरी है ? जिस तरह मकान में मजदूर अपनी जिंदगी बसर करता है, उसी तरह का मकान मेरे लिए भी काफी क्यों नहीं हो सकता ? या फिर, उसका भी मकान मेरे मकान के समान क्यों न हो ?

आप चाहे वैराग्य का नाम लें चाहे वैभव का, विषमता को बर्दाश्त हरगिज न कीजिये। इसी का नाम है 'आत्मौपम्य'। सच्चा साम्यवाद यही है। उस पर तुरंत अमल किया जाना चाहिए। साम्यवाद क कोई महत्व नहीं है। महत्व है 'तत्काल साम्यवाद' का। साम्यवाद को तुरंत कार्यान्वित करने की सिफ्त का नाम अहिंसा है। अहिंसा हरेक से कहती है कि "तू अपने-आप से प्रारंभ कर दे तो तेरे लिए तो आज ही साम्यवाद है।" अहिंसा का चिह्न है खादी। खुद खादी ही अगर भेदभाव सहे, तब तो यही कहना होगा कि उसने अपने हाथों अपना गला घोंट लिया।

इस सारे अर्थ का संग्राहक सूत्र-वाक्य है—खादी और गादी में लड़ाई है।

: ३२ :

खादी का समग्र-दर्शन

जेल में तटस्थ चिंतन के लिए थोड़ा-बहुत अवकाश मिल जाता है। इसलिए हमारे आंदोलन के विषय में और हिंदुस्तान तथा संसार की सारी परिस्थिति के विषय में बहुत-कुछ विचार हुआ, चर्चा भी हुई। कुल मिलाकर परिस्थिति बहुत बिगड़ी हुई मालूम होती थी। ऐसे समय कौन-से उपाय करने चाहिए, इसका चिंतन हम वहां करते थे। लेकिन हमारे जेल से छूटने के थोड़े ही दिन बाद जापान और अमरीका के लड़ाई में शामिल हो जाने से परिस्थिति और भी बिगड़ गई। इसलिए जेल में किये कुछ विचार अधूरे मालूम हुए और कुछ दृढ़ हुए। इस युद्ध के विरोध में हम प्रायः तीन कारण दिया करते थे : पहला कारण था, युद्ध की हिंसकता; दूसरा दोनों पक्षों की—

चाहे वह न्यूनाधिक भले ही हो—साम्राज्यवादी तृष्णा, और तीसरा यह कि हिंदुस्तान की सम्मति नहीं ली गई। लेकिन जापान और अमरीका के मैदान में कूद पड़ने के बाद अब करीब-करीब सारा संसार ही युद्ध में शामिल हो गया है। अब यह युद्ध मनुष्य के हाथ में नहीं रहा, वरन् मनुष्य ही युद्ध के अधीन हो गया है। इसलिए यह युद्ध स्वैर या मूढ़ है। हमारे युद्ध-विरोध का यह और एक नया कारण है। वासुदेव कॉलेज (वर्धा) में भाषण देते हुए मैंने इसी पर जोर दिया था।

लेकिन इस प्रकार संसार के सभी बड़े राष्ट्रों के युद्ध में शरीक हो जाने से, हिंदुस्तान की, जो कि पहले से ही एक दरिद्र और विषम परिस्थिति में ग्रस्त देश है, हालत और विषम हो गई है। अंग्रेजी राज से पहले हिंदुस्तान स्वावलंबी था। इतना ही नहीं, वह अपनी जरूरतें पूरी करके विदेशों को भी थोड़ा-बहुत माल भेजा करता था। लेकिन आज तो पक्के माल के लिए हिंदुस्तान करीब-करीब पूरी तरह परावलंबी हो गया है। राष्ट्रीय रक्षा के साधन, युद्धविषयक सरंजाम, वगैरा में जो परावलंबन है, उसकी बात मैं नहीं कहता। हालांकि अगर अहिंसा का रास्ता खुला न हो तो राष्ट्रीय दृष्टि से इस बात का विचार भी करना ही पड़ता है। लेकिन मैं तो सिर्फ जीवनोपयोगी नित्य आवश्यकताओं की ही बात कह रहा हूं। ये चीजें आज हिंदुस्तान में नहीं बनतीं और फिलहाल वे बाहर से कम आ सकेंगी। लड़नेवाले राष्ट्र युद्धोपयोगी सामग्री बनाने की ही फिक्र में होंगे, उनके पास बाहर भेजने के लिए बहुत कम माल रहेगा। और इसके बाद भी जो माल तैयार होगा, उसे दूसरे राष्ट्रों तक न पहुंचने देने की व्यवस्था शत्रु राष्ट्र अवश्य करेंगे। अमरीका से माल आने लगे तो जापान उसे डुबो देगा और जापान से तो माल आ ही नहीं सकेगा। इस तरह अगर बाहर से माल आना कम हो गया या बंद हो गया, तो हिंदुस्तान का हाल बहुत ही बुरा होगा। पक्का माल यहां बनाने के विषय में सरकार, अगर हेतुपूर्वक नहीं तो परिस्थिति के कारण, उदासीन रहेगी। उसका सारा ध्यान लड़ाई पर केंद्रित है, इसलिए उसे दूसरी गंभीर योजनाएं नहीं सूझेंगी। गंभीरता से जो कुछ विचार होगा, वह केवल युद्ध के विषय में ही होगा। अगर सरकार की यही वृत्ति रही कि हिंदुस्तान का जैसे-तैसे रक्षण—यानी उसे अंगरेजों के कब्जे में बनाये रखना

—भर हमारा कर्त्तव्य है, तो कोई ताज्जुब नहीं। ऐसी अवस्था में हम कार्य-कर्ताओं पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ती है।

यों लोगों पर यह इलजाम लगाया जाता था कि खादी की बिक्री काफी नहीं होती, उसके लिए लोगों की मिन्नतें करनी पड़ती हैं। अब हम पर यह इलजाम आनेवाला है कि इस लड़ाई की परिस्थिति में लोगों की मांग हम पूरी नहीं कर सकते। ऐसे संकट के समय अगर हम खादी के काम को तरक्की न दे सकें तो खादी के भविष्य के लिए बहुत कम आशा की गुंजाइश रहेगी।

जाजूजी ने 'खादी जगत' द्वारा हाल ही में एक योजना पेश की है। उसमें उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि सरकार बेकारों को जितने उद्योग दे सकती हैं, उतने अवश्य दे; लेकिन सरकारी शक्ति खतम होने पर भी अगर भूख बाकी रह जाय तो उतने अंश में खादी को प्रोत्साहन देना सरकार का कर्त्तव्य है। किसी भी सरकार को खादी का यह कार्यक्षेत्र प्रायः मंजूर करना पड़ेगा।

लेकिन इस योजना का स्वरूप तो ऐसा है कि मानो यहां हम प्रवेश नहीं पा सकते, वहां धीरे-से अपनी पोटली रख देते हैं। हमारे घरपर कब्जा करनें-वाले से हम कहते हैं, "भैया, मकान तेरा ही सही। लेकिन तेरा यह खयाल गलत है कि मकान बिल्कुल भर गया है। वह देखो, उस कोने में थोड़ी-सी जगह खाली है। मेरी यह पोटली वहां पड़ी रहने दो।" हमारा यह आक्रमण मनुष्य से अपेक्षित न्यूनतम सद्गुणों पर होता है, इसलिए उसका परिणाम अवश्य होता ही है।

परंतु इस प्रकार की अकाल-पीड़ित खादी खादी की बुनियाद नहीं हो सकती। आज जिस तरह खादी का उत्पादन और बिक्री हो रही है, वह भी उसकी बुनियाद नहीं है, खादी की इमारत का वह एक भाग जरूर है। खादी की अंतिम योजना में भी उत्पत्ति-बिक्री का स्थान रहेगा और आज से कहीं अधिक रहेगा। लेकिन वह खादी की संपूर्ण योजना का एक अंगमात्र है।

उसी तरह आज जगह-जगह जो वस्त्र-स्वावलंबन जारी है, उससे यानी इस गांव में चार वस्त्र-स्वावलंबी आदमी हैं, उस तहसील में सौ-दो-सौ हैं, इसी प्रकार दूसरे गांवों में भी वस्त्र-स्वावलंबन शुरू करते रहने से भी हमारा

मुख्य काम नहीं होता। यह तो चौराहों पर जगह-जगह म्युनिसिपैलिटी की वत्तियां लगने के समान है। इन वत्तियों का भी उपयोग तो है ही। उनके कारण चारों तरफ का वातावरण प्रकाशित रहेगा। लेकिन चौक की वत्तियां घर के चिरागों का काम नहीं देतीं। इसलिए यह इस तरह बिखरा हुआ वस्त्र-स्वावलंबन भी खादी का मुख्य कार्य नहीं है।

खादी की नींव तो यह है कि किसान जैसे अपने खेत में अनाज उपजाता है, उसी तरह वह अपना कपड़ा अपने घर में बनावे। शायद शुरू से ही हम इस तरह काम न कर सकते। इसलिए हमने खादी का काम दूसरे ढंग से शुरू किया। लेकिन यह भी अच्छा ही हुआ। इससे खादी को गति मिली और लोगों को थोड़ी-बहुत खादी हम दे सके।

लेकिन अब तो लोगों की खादी की मांग बढ़ेगी। आज के तरीके से हम उसे पूरा नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थिति में अगर हम लाचार होकर चुपचाप बैठे रहेंगे तो हम दोषी समझे जायंगे और यह दोषारोपण न्यायानुकूल ही होगा, क्योंकि खादी को बीस साल का समय मिल चुका है। हिटलर ने बीस वर्षों में एक गिरे हुए राष्ट्र को खड़ा कर दिया। उन्नीस सौ अठारह में जर्मनी की पूरी तरह हार हो गई थी और उन्नीस सौ अड़तीस में वह एक आला दर्जे का राष्ट्र बन गया। रूस ने भी जो कुछ ताकत कमाई, वह इन बीस वर्षों में ही कमाई। इतने समय में उसने दुनिया को मुग्ध कर देनेवाली विचार और आचार की एक प्रणाली का निर्माण किया। ये दोनों प्रयोग हिंसामय या हिंसाश्रित हैं, इसलिए उनकी स्थिरता खतरे में है, यह बात अलग है। कहा तो यही जायगा कि खादी को भी इसी प्रकार बीस वर्ष तक मौका दिया गया। इतने समय में खादी अधिक प्रगति नहीं कर सकी, इसकी कई वजहें हैं। इसलिए जर्मनी या रूस से तुलना करके हमें अपने तईं अपना धिक्कार करने की जरूरत नहीं है। फिर भी ऐसे संकट के मौके पर अगर हम लाचार बन गए तो, जैसाकि मैं कह चुका हूं, खादी के लिए एक कोना दिखाकर उतने से संतुष्ट रहना पड़ेगा। लेकिन यह खादी की मुख्य दृष्टि—जिसे अहिंसा की योजना में करीब-करीब केंद्रस्थान है—छोड़ देने के समान है। कम-से-कम हिंदुस्तान में तो खादी और अहिंसा का गठबंधन अटूट समझना चाहिए।

जब लोगों की मांग बढ़ेगी तो हम उनसे कहेंगे, 'सूत कातो।' तब लोग कहेंगे, 'हमें पूनियां दो।' हमारे आंदोलन में पूनियों की समस्या बड़ी टेढ़ी है। पूनियों के बादकी क्रिया अपेक्षाकृत सरल है। लेकिन पूनियों का सवाल हम शास्त्रीय या लौकिक पद्धति से अबतक हल नहीं कर सके हैं। तब लोगों से कहना होगा, 'तुम अपने लिए धुनो।' इसमें तांत का सवाल आयेगा। पक्की तांत की व्यापक मांग एकदम पूरी नहीं की जा सकती। इसलिए काम रुक जायगा। इसका ज्यों-ज्यों मैं विचार करता हूं, त्यों-त्यों मेरी निगाह उस 'दशयंत्र पींजन' पर ठहरती है। पांच और पांच दस अंगुलियों से जो काम होता है, उसे 'दशयंत्र' कहते हैं। सोमरस दस अंगुलियों से निचोड़ा जाता है। इसलिए वेदों में 'दशयंत्राः सोमाः' का उल्लेख है। उसी तरह यह तुनाई का दशयंत्र पींजन है। वह बहुत लाभदायी और सारी दिक्कतों से बचानेवाला साबित होगा। रबर लगाने के नये तरीके की खोज ने इस दशयंत्र-पींजन में क्रांति कर दी है। उसके कारण यह काम आसान हो गया है। यह बात सच है कि रबर सर्व-सुलभ नहीं है। लेकिन उसका भी विचार हो सकता है। और वह भी इस काम के लिए अनिवार्य नहीं है। उस दिन मैं खरांगना गया था। वहां मैंने दशयंत्र-पींजन का प्रदर्शन किया। दर्शकों में से एक ने कहा, 'जरा मैं भी देखूं।' और देखते-देखते उसने पन्द्रह-बीस मिनटों में, अगर अच्छी नहीं तो, साधारण पूनी बना ली। इसे सीखना इतना आसान है। उसकी गति भी व्यवहार-सुलभ है।

दूसरी महत्व की बात यह है कि बुनकर खुद कातकर उसी सूत की खादी बुनें। मैं कई तरह के आंकड़ों परसे इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि आज दूसरों का काता हुआ भला-बुरा सूत बुनने के लिए बुनकर जो मजदूरी पाता है, उससे कम मजदूरी उसे अपना सूत बुनने में नहीं मिलेगी। अपना सूत बुनना उसके लिए अधिक आसान तो होने ही वाला है। इस विषय में भी व्यापक प्रयोगों की आवश्यकता है।

इसीके साथ-साथ वस्त्र-स्वावलम्बी लोगों का सूत जहां का वहीं बुनवाने का प्रबन्ध करना होगा। इसके लिए स्वावलम्बी व्यक्तियों के सूत में उन्नति होना जरूरी है। सूत में उन्नति की बात आते ही फिर दशयंत्र-पींजन पर

ही ध्यान जाता है। साधारण यंत्र-पींजन वैसे उपयोगी भले ही मान लिया जाय तो भी लड़ाई के जमाने की व्यापक योजना में वह निरुपयोगी है। मेरा यह दावा है कि उस यंत्र से उतनी शास्त्रीय पूनी नहीं बनतीं, जितनी इस दशयंत्र से बनती है।

परन्तु इसमें यह मानी हुई बात है कि यह दशयंत्र-पींजन या तुनाई कपास से होनी चाहिए। आज सब जगह प्रायः सारी क्रियाओं में रुई ही काम में लाई जाती है। अब रुई की जगह कपास का उपयोग करना चाहिए। किसान को अपने खेत में से अच्छी बड़ी-बड़ी डोडीवाली कपास का संचय करना चाहिए। फिर उसे सलाई-पटरी जैसे साधन से ओट लेना चाहिए। इसमें प्रायः एक भी बिनौला नहीं बिगड़ेगा। किसान छांट-छांटकर अच्छी-अच्छी डोडियां बीनेगा। इसलिए उसे अच्छा बीज मिलेगा और उसका खेत समृद्ध होगा। इस प्रकार कपास से शुरू करने में अनेक लाभ हैं। रुई से शुरू करने में हम उन्हें गंवा देते हैं।

खादी का अर्थशास्त्र सचमूच इतनी पुख्ता नींवपर खड़ा है कि उससे सस्ता और कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता। लेकिन उसकी जगह बीच की ही किसी अलग प्रक्रिया को खादी की प्रक्रिया मान लेना खादी को नाहक बदनाम करना है।

कार्यकर्त्ताओ को समग्र दर्शन के इस विचार पर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए। कहा जाता है कि मिलें सस्ती पड़ती हैं। हम हिसाब करके दिखा देते हैं कि वे महंगी हैं। मिलों में व्यवस्थापक वर्ग का जबरदस्त खर्च, यंत्र, यंत्रों का घिसना, माल का लाना-ले जाना, मालिकों का अजस्र मुनाफा आदि कई आपत्तियां स्पष्ट ही हैं। लेकिन फिर भी अगर सस्ती मालूम होती है, तो, या तो उसमें कोई जादू होना चाहिए या फिर हमारे एतराज गलत होने चाहिए। एतराज तो गलत नहीं कहे जा सकते। तो फिर अवश्य तिलस्म है। वह जादू यह है कि मिल एक विराट् यांत्रिक रचना की जंजीर की एक कड़ी है। बड़े कारखानों में मुख्य उद्योग के साथ-साथ उससे सम्बन्ध रखने-वाले दूसरे भी फुटकर उद्योग कराये जाते हैं। कारखाना उन उद्योगों के लिए नहीं चलता। इसलिए उन्हें गौण पैदावार कहते हैं। इन गौण उद्योगों से जो आमदनी होती है, उससे प्रधान उद्योग को लाभ होता है और यह सब

मिलाकर वह कारखाना आर्थिक दृष्टि से पुसाता है। मिल की यही स्थिति है। वह एक समग्र विचार-शृंखला की कड़ी है।

मिलों के साथ-साथ रेल आई। शांति के समय माल लाना-लेजाना उनका प्रधान कार्य है। यात्रियों को भी उनसे लाभ होता है। लोगों को लंबे सफ़र करने की आदत हो जाती है। उनके विवाह-संबंध भी दूर-दूर के स्थानों में होने लगते हैं और इस तरह रेल उनके जीवन की एक आवश्यकता हो जाती है। फिर उससे फायदा उठाकर मिलों के विषय में सस्तेपन का एक भ्रम पैदा किया जा सकता है।

मैंने रेल का उदाहरण दिया। ऐसी कई चीजें मिल की मदद के लिए उपस्थित हैं। इसलिए मिल सस्ती प्रतीत होती है। अगर सिर्फ मिल का ही विचार किया जाय तो वह बहुत महंगी होती है। यही नियम खादी के लिए भी लागू करना चाहिए। अगर अकेली खादी का ही विचार किया जाय तो वह महंगी मालूम होगी। लेकिन ऐसा असंबद्ध विचार नहीं किया जा सकता। किसी सुंदर आदमी के अवयव अलग-अलग काटकर अगर हम देखने लगें तो क्या होगा। कटी हुई नाक खूबसूरत थोड़े ही लगेगी ? उनमें तो आरपार छेद दिखाई देंगे। लेकिन ऐसे पृथक् किये हुए अवयव अपने में सुंदर न होते हुए भी, सब मिलकर शरीर को सुंदर बनाते हैं। जब हम समग्र जीवन को दृष्टि में रख कर खादी को उसका एक अंग मानेंगे, तब खादी-जीवन मिल-जीवन की अपेक्षा कहीं सस्ता साबित होगा।

खादी में लाने-लेजाने का सवाल ही नहीं है। वह तो जहां को वहीं होती है। घर की घर ही में व्यवस्थित रूप से रहती है। याने व्यवस्थापकों का काम नहीं रह जाता। कपड़े की जरूरत से ज्यादा कपास फिजूल बोई ही नहीं जायगी, इसलिए कपास का भाव हमारे हाथों में रहेगा। चुनी हुई डोडियां घर घर ही ओटी जायंगी, जिससे बोने के लिए बढ़िया बिनौले मिलेंगे और खेती विशेष संपन्न और प्रफुल्लित होगी। बचे हुए बिनौले बेचने नहीं पड़ेंगे। वे सीधे गाय को मिलेंगे और फलस्वरूप अच्छा दूध, घी और बैल मिलेंगे। वस्त्र-स्वावलंबन के लिए आवश्यक डोडियां सलाई-पटरी या उसी की विशेषताएं रखनेवाली ओटनी पर ओट ली जायगीं। वह ताती साफ रुई आसानी से धुनी जा सकेगी। वह दशयंत्र से भलीभांति धुनी

जायगी और सूत समान तथा मजबूत कत सकेगा। सूत अच्छा होने के कारण बुनने में सुगमता होगी। अच्छी बुनावट के कारण वह शरीर पर ज्यादा दिन टिकेगा और कपड़ा ज्यादा दिन चलने के कारण उतने अंश में कपास की खेतीवाली जमीन की बचत होगी। अब इस सब में तेल की घानी आदि ग्रामोद्योग और जोड़ दीजिये और देखिये कि वह सस्ती पड़ती है कि महंगी। आप पायंगे कि वह बिल्कुल महंगी नहीं पड़ती। जब खादी का यह 'समग्र दर्शन' आपकी आंखों में समा जायगा तो खादी कार्य का आरंभ कपास की बजाय रुई से करने में कितनी भारी भूल होती है, यह भी समझ में आ जायगा। और इसके अतिरिक्त सारा खादी कार्य सांगोपांग करने की दृष्टि भी प्राप्त होगी।

और एक बात, जिससे समग्र दर्शन और स्पष्ट होगा। यह एक स्वतंत्र विषय भी है। पांच-छः साल पहले मैं रेल में अपना चरखा खोल कर कातने लगा। वैसे भी मेरी आंखें कमजोर हैं, उसमें फिर गाड़ी के धक्के लगते थे, इसलिए धीरे-धीरे सम्भलकर कातने पर भी थोड़ा-बहुत टूटता ही था। टूटते ही मैं अपने सिद्धांत के अनुसार उसे फिर जोड़ लेता था। मेरी बगल में एक बैठे थे। बी० एस-सी० पास थे। बड़े ध्यान से ये सारी बातें निहार रहे थे। थोड़ी देर के बाद बोले, "कुछ पूछना चाहता हूं।" "पूछिये", मैंने कहा। वह बोले, "आप टूटे हुए तारों को जोड़ने में इतना वक्त खोते हैं, इससे उनको वैसे ही फेंक देना क्या आर्थिक दृष्टि से लाभकारी नहीं होगा ?" मैंने उनसे कहा, "अर्थशास्त्र दो तरह का है। एक आंशिक अथवा एकांगी और दूसरा परिपूर्ण। इनमें से एकांगी अर्थशास्त्र को छोड़ कर परिपूर्ण अर्थशास्त्र की कसौटी पर परखना ही उचित है।" वह बोले, "दुरुस्त है।" तब मैंने उनसे पूछा, "आप कहते हैं कि थोड़ा-सा टूटा हुआ सूत अगर अकारथ जाय तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन उसकी क्या मर्यादा हो ? कितने फीसदी आप माफ फरमायेंगे ?" उन्होंने कहा, "पांच प्रतिशत तक माफ कर देने में हर्ज नहीं है।" तब मैंने कहा, "पांच प्रतिशत, जोकि जुड़ सकता है, फेंक देने का क्या नतीजा होता है, यह देखने लायक है। इसका यह मतलब है कि कातने-वाला इस तरह सौ एकड़ कपास खेती में से बैठे-बैठे पांच एकड़ की उपज यों ही फूंक देता है। तांत के सौ कारखानों में से पांच कारखानों को बेकार कर

देता है। कातनेवालों के लिए बनाई गई सौ इमारतों में से पांच गिरा देता है। हिसाब की सौ बहियों में से पांच फाड़ देता है।" इत्यादि-इत्यादि।

इसके अलावा, जिसने पांच-प्रतिशत का न्याय स्वीकार कर लिया, उसके सभी व्यवहारों को वह ग्रास कर रहेगा। उससे होनेवाली हानि कितनी भयानक होगी, यह समझना मुश्किल नहीं है। भोजन के वक्त अगर कोई थाली में बहुत-सी जूठन छोड़कर उठ जाता है, तो हम उसे मस्ताया हुआ कहते हैं; क्योंकि जूठन छोड़ने का यह मतलब है कि वह किसान के बैल से लेकर रसोई बनानेवाली मां तक, सब की मेहनत पर पानी फेर देता है। इसलिए जूठन छोड़ने से मां का नाराज होना काफी नहीं है। हल चलानेवाले बैल को चाहिए कि वह उसे एक लात मारे और किसान से लेकर दूसरे सब एक-एक धौल जमायें।

इसीलिए हर चीज सामग्रच की दृष्टि से देखनी चाहिए। इसीलिए भगवद्गीता में ईश्वर के ज्ञान के पीछे 'असंशयं समग्रम्' ये विशेषण लगाये गए हैं। हमारे खादी के आंदोलन में समग्र-दर्शन की बहुत जरूरत है। हम जब खादी को समग्र-दर्शन पूर्वक आगे बढ़ायंगे तभी, और केवल तभी, वह व्यापक हो सकेगी। यह हमारी कसौटी का समय है।

: ३३ :

उद्योग में ज्ञान-दृष्टि

मेरी दृष्टि से हमारे शिक्षण में सबसे बड़ी जरूरत अगर किसी चीज की है तो विज्ञान की। हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो तो भी उसका उद्धार सिर्फ खेती के भरोसे नहीं होगा। यूरोपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते हैं। हिंदुस्तान में खेती ही प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहां फी आदमी सवा एकड़ जमीन है। इसके विपरीत फ्रांस में, जो एक उद्योग-प्रधान देश कहलाता है, प्रति मनुष्य साढ़े तीन एकड़ जमीन है। इस पर से

मालूम होगा कि हिंदुस्तान की हालत इतनी बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिंदुस्तान में अकेली खेती ही होती है, और कुछ नहीं होता। अमरीका (संयुक्तराज्य) संसार का सबसे सघन देश है। उसमें खेती और उद्योग दोनों बहुत बड़े परिमाण में चलते हैं। वह युद्ध के लिए रोज पचपन करोड़ रुपये खर्च कर रहा है। हमारे देश की जनसंख्या चालीस करोड़ है। इतने लोगों को हर रोज भोजन देने के लिए, यहां के हिसाब से प्रतिदिन पांच करोड़ रुपया खर्च लगेगा। अमरीका इतना धनवान देश है कि वह रोज इतना खर्च करता है कि उसमें हिंदुस्तान को ग्यारह दिन भोजन दिया जा सकता है। हिंदुस्तान की फी आदमी सालाना आमदनी खेती से पचास-साठ रुपये और उद्योग से बारह रुपये है। इसलिए हिंदुस्तान को कृषि-प्रधान कहना पड़ता है। अब जरा इंग्लैंड की तरफ नजर डालिये। वहां भी खेती की आमदनी, यहां की ही तरह फी आदमी पचास-साठ रुपये सालाना होती है और उद्योग की होती है पांचसौ बारह रुपये। इस पर से आपको पता चलेगा कि हमारा देश कहां है। यह हालत बदल देने के लिए हमारे यहां के विद्यार्थी, शिक्षक और जनता, सभी को उद्योग में निपुण बन जाना चाहिए। उसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए।

(अ) हमारा रसोई घर हमारी प्रयोगशाला होनी चाहिए। वहां जो आदमी काम करता है, उसे किस खाद्य-पदार्थ में कितना उष्णांक, कितना ओज, कितना स्नेह है, आदि सारी बातों की जानकारी होनी चाहिए। उसमें यह हिसाब करने की सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस उम्र के मनुष्य को किस काम के लिए कैसे आहार की जरूरत होगी।

(आ) शौच को तो सभी जानते हैं। लेकिन स्कूलवालों का काम इतने से नहीं चलेगा। 'मैले का क्या उपयोग होता है ? सूर्य की किरणों का उसपर क्या असर होता है। मैला अगर खुला पड़ा रहे तो उससे क्या नुकसान है ? कौन सी बीमारियां पैदा होती हैं ? जमीन को अगर उसका खाद दिया जाय तो उसकी उर्वरता कितनी बढ़ती है ?'—आदि सारी बातों का शास्त्रीय ज्ञान हमें हासिल करना चाहिए।

(इ) कोई लड़का बीमार हो जाता है। वह क्यों बीमार हुआ ? बीमारी मुफ्त में थोड़े ही आई है ! तुमने उसे गिरह से कुछ खर्च करके बुलाया

है। अतिथि की तरह उसका खयाल रखना चाहिए। वह क्यों आई, कैसे आई, आदि पूछना चाहिए। उसकी उपयुक्त पूजा और उपचार कैसे किया जाय, यह सीखना चाहिए। जब वह आ ही गई है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें शिक्षण की बात है। 'वह ज्ञानदाता रोग आया और गया, हम कोरे-के-कोरे रह गये !' यह दूसरे के साथ भले ही होता हो, हमारे साथ हरगिज नहीं होना चाहिए।

(ई) तुम यहां सूत कातते हो, खादी भी बना लेते हो। तुम्हें बधाई है। लेकिन खादी-क्रिया के बारे में शास्त्रीय प्रश्नों के जवाब यदि तुम न दे सके तो पाठशाला और उत्पत्ति-केन्द्र यानी कारखाने में फर्क ही क्या रहा ? लेकिन मैं तो अपने कारखाने से भी इस ज्ञान की आशा रखूंगा।

मुझसे कहा गया है कि यहां के लड़के अंग्रेजी वगैरा की परीक्षा में पास होते हैं, दूसरे विद्यालयों के लड़कों से किसी तरह कम नहीं हैं, आदि-आदि। लेकिन लड़के पास होते हैं, इसमें कौनसी बड़ी बात है। हमारे लड़के नालायक थोड़े ही हैं ? ज़रा विलायत के लड़कों को इतिहास और भूगोल मराठी में सिखाकर देखिये तो ? देखें, कितने पास होते हैं ! कई साल पहले बड़ौदा में एक साहब आया था। उसने गीता का पूरे बीस वर्ष तक अध्ययन किया था। यों उसने अच्छा भाषण दिया; परंतु वह संस्कृत के वचनों के उच्चारण ठीक नहीं कर सका। उसने कहा—

'कुरु कर्मैव टस्माट् ट्म्'
(कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्)

बीस-बीस साल अध्ययन करने पर भी उनका यह हाल है ! हमारे यहां सैकड़ों आदमी उनकी भाषा में खूब बोल लेते हैं। लेकिन यह हमारी इस भूमि का ही गुण है, हजारों वर्षों से यहां विद्या की उपासना होती आई है। यह कोई यहां के पाठकों का गुण नहीं है। इसलिए अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से संतोष नहीं मानना चाहिए। हमें आरोग्यशास्त्र, रसायनशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, यंत्रशास्त्र आदि शास्त्र सीखने चाहिए। शास्त्रों और विज्ञानों की इस तालिका को देखकर आप घबराइये नहीं। आप उन्हें उद्योग के साथ बड़ी आसानी से सीख सकेंगे।

दो विद्याएं सीखना आवश्यक है : एक हमारे आस-पास की चीजों की

परखने की शक्ति, अर्थात् विज्ञान। और दूसरी, आत्मज्ञानपूर्वक संयम करने की शक्ति, अर्थात् अध्यात्म। इसके लिए बीच में निमित्त मात्र भाषा की जरूरत होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है। भाषा चिट्ठीरसा का काम करती है। अगर मैं चिट्ठी में कुछ भी न लिखूं तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसा पहुंचा देगा। भाषा विद्या का वाहन है। यह भी कोई कम कीमती वात नहीं है। विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उसी का मैं विचार करूंगा। मेरा चरखा अगर टूट गया तो क्या मैं रोता बैठूंगा? मैं बढ़ई के पास जाकर उसे सुधरवा लूंगा। उसी तरह, अगर मुझे बिच्छू ने काट खाया, तो मुझे रोते नहीं बैठना चाहिए। उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए। इसी प्रकार आत्मा को अलिप्तता का ज्ञान होना चाहिए। उसकी मुझे आदत हो जानी चाहिए। यही मेरी शाला की परीक्षा होगी। मैं भाषा का पर्चा निकालने की झंझट में नहीं पड़ूंगा। लड़कों की बोलचाल से ही मैं उनका भाषा-ज्ञान भांप जाऊंगा।

विद्यार्थी भोजन करते हैं और दूसरे लोग भी भोजन करते हैं; लेकिन दोनों के भोजन करने में फर्क है, विद्यार्थियों का भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा तो वह देखेगा कि उसमें से कितना चोकर निकलता है। मान लीजिये कि सेर में आठ तोले चोकर निकला। यानी दस प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पड़ोसी के यहां जाकर वहां का चोकर तौलेगा। वह देखता है कि उसके आटे में से ढाई तोले ही चोकर निकला है। दस प्रतिशत चोकर निकलने में क्या हर्ज है? उतना चोकर अगर पेट में जाय तो नुकसान क्यों होगा?—आदि प्रश्न इसके मन में उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिए। जब ऐसा होगा तो, जैसा कि गीता में कहा है, उसका हरेक काम ज्ञान-साधन होगा। अगर बुखार आया, तो वह ज्ञान दे जायगा। वह भी प्रयोग ही होगा। फिर उस तरह का बुखार नहीं आयगा। जहां हरेक काम इस तरह ज्ञान-दृष्टि से किया जाता है, वह पाठशाला है और जहां वही ज्ञान कर्म-दृष्टि से होता है वह कारखाना है।

इस प्रकार प्रयोगबुद्धि से, ज्ञान-दृष्टि से प्रत्येक काम करने में थोड़ा खर्च तो होगा। लेकिन उससे उतनी कमाई भी होगी। स्कूल में जो चरखा

होगा वह बढ़िया होगा। चाहे जैसे चरखे से काम नहीं चलेगा। स्कूल में काम चाहे थोड़ा कम भले ही हो, लेकिन जो कुछ काम होगा, वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमें से जितने बिनौले निकलेंगे, वे भी तौल लिए जायंगे। रोजिया में से जब इतने बिनौले निकले, तब ब्हेरम-में से इतने क्यों, इस तरह का सवाल पूछा जायगा। और उसका जवाब भी दिया जायगा। बिनौला मटर के आकार का होकर भी दोनों के वजन में इतना फर्क क्यों ? बिनौले में तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है। फिर यह देखा जायगा कि इसी तरह के दूसरे धान्य कौन-से हैं। इसके लिए तराजू की जरूरत होगी। वह बाजार से नहीं खरीदा जायगा, स्कूल में ही बनाया जायगा। जब हम यह सब करने का विचार करेंगे, तभी से विज्ञान शुरू हो जायगा। हरेक काम अगर इस ढंग से किया जाय तो वह कितना मनोरंजक होगा ? फिर उसे कौन भूलेगा। अकबर किस सन् में मरा, यह रटने की क्या जरूरत है ? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छातीपर क्यों सवार हुआ ? मैं इतिहास रटने को नहीं पैदा हुआ हूं। मैं तो इतिहास बनाने के लिए पैदा हुआ हूं।

शिक्षक की दृष्टि से हरेक चीज ज्ञान देनेवाली है। उदाहरण के लिए मैले की ही बात ले लीजिये। वह बहुत बड़ा शिक्षण देता है। मैंने तो उसके बारे में एक श्लोक ही बना डाला है : 'प्रभाते मलदर्शनम्' (सवेरे मैले का दर्शन करो)। सवेरे मैले के दर्शन से मनुष्य को अपने स्वास्थ्य की स्थिति का पता चलता है। मैले में अगर मूंगफली के टुकड़े हों, तो वे पेट पर पिछले दिन किये हुए अत्याचार तथा अपचन का ज्ञान और भान करायेंगे। उसके अनु-सार हम अपने आहार-विहार में फर्क कर लेंगे। आप चाहे कितनी ही सावधानी और सफाई से रहिये, आखिर मैला तो गंदा ही रहेगा। सबेरे उसके अवलोकन से देहासक्ति कम होगी और वैराग्य पैदा होगा। मां जाड़ों में जिस तरह बच्चों को कपड़े से ढंकती है, उसका कोई भी अंग खुला नहीं रहने देती, उसी तरह हम भी बड़ी सावधानी से सूखी मिट्टी से अगर मैले को ढंक दें और यथा समय उसे खेत में फैला दें, तो वही मैला हमारी लक्ष्मी को बढ़ायगा।

इसी तरह पाठशाला में प्रत्येक काम ज्ञानदायी और व्यवस्थित होगा।

लड़का बैठेगा, तो सीधा बैठेगा। अगर मकान का मुख्य खंभा ही झुक जाय तो क्या वह मकान खड़ा रह सकेगा ? नहीं। उसी तरह हमें भी अपने मेरु-दंड को हमेशा सीधा रखना चाहिए। पाठशाला में यदि इस प्रकार से काम होगा तो देखते-देखते राष्ट्र की कायापलट हो जायगी। उसका दुःख-दैन्य गायव हो जायगा, सर्वत्र ज्ञान की प्रभा फैलेगी।

स्कूल में होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञान का साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलों को सजाना होगा। अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होंगे। श्रीरामदास स्वामी ने कहा है, 'देवता का वैभव वढ़ाओ।' लोगों को अपने घर सजाने के बदले शालाएं सजाने का शौक होना चाहिए। उन्हें शाला की आवश्यक चीजें उपलब्ध करा देनी चाहिए। लेकिन इतना ही बस नहीं है। एकाध दानवीर मिल जाता है और कहता है, 'मैंने इस शाला को इतनी सहायता दी।' लेकिन अपने लड़कों को किस स्कूल में भेजता है ?— सरकारी स्कूल में। सो क्यों ? अगर आप राष्ट्रीय पाठशालाओं को दान के योग्य मानते हैं, तो उन्हें सब तरह से संपन्न और सुशोभित करके अपने लड़कों को वहीं क्यों नहीं भेजते ?

लड़के राष्ट्र के धन हैं। लेकिन उनके भोजन में न दूध है, न घी ! फी लड़के का मासिक भोजन-खर्च ढाई रुपये है ! इसे क्या कहा जाय ? हम सारे राष्ट्र की अवस्था को भूल नहीं सकते, यह तो माना। लेकिन फिर भी इतना कम-से-कम जरूरी है, उतना तो मिलना ही चाहिए। पिछले दिनों में यह शिकायत थी कि जेल में कैदियों को उचित खुराक नहीं मिलती, दूध नहीं मिलता। गांधीजी की सूचना से बाहर के डाक्टरों ने यह तय किया कि निरामिषभोजी व्यक्ति के लिए कम-से-कम कितने दूध की जरूरत है। उनके निर्णय के अनुसार हरेक व्यक्ति को कम-से-कम तीस तोले दूध मिलना चाहिए और सरकार अगर कैदियों को रखती है तो उसे उनकी कम-से-कम आवश्यकता पूरी करनी ही चाहिए। लेकिन अगर हम अपने विद्यालयों में ही इस नियम पर अमल नहीं करते तो सरकार से आशा करना कहां तक शोभा देगा ? लड़कों को दूध मिलना ही चाहिए। उन्हें अच्छा अन्न मिलना ही चाहिए, वरना उनमें तेज नहीं पैदा होगा।

: ३४ :

गो-सेवा का रहस्य

गो-सेवा का प्रथम पाठ हमें वैदिक ऋषि-मुनियों ने सिखाया और समझाया है। कुछ लोगों का कहना है कि गो-सेवा का पाठ पढ़ाकर ऋषियों ने हम में अनुचित पूजा के भाव पैदा किये हैं। ऐसी पशु-पूजा वैज्ञानिक नहीं है। वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। जिस तरह हम उपयोग की दृष्टि से विचार करते हैं, उसी तरह सीधे उपयोग की दृष्टि से ऋषि-मुनियों ने भी विचार किया। उसी दृष्टि से उन्होंने बतलाया है कि हिंदुस्तान के लिए गो-सेवा मुफीद है। इसलिए वही धर्म हो सकता है। तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम गाय का जितना हो सकता हो उतना उपयोग करें। वेद का वचन है—

सहस्रधारा पयसा मही गौः।

ऐसी गाय जिससे कि हजार धाराएं रोज पैदा होती हों। आप समझ सकते है कि दूध की एक धारा कितनी होती है। हिसाब करने पर मालूम होगा कि वैदिक गाय का दूध चालीस-पचास रतल होता था। इस पर से आप समझ लेंगे कि उनकी मंशा क्या थी और गायों से वे क्या अपेक्षा रखते थे। आजकल गाय का दूध नहीं मिलता, ऐसी शिकायतें आती हैं। वैदिक ऋषियों ने गो-सेवा की दिशा भी बतलाई है।

अक्सर सुना जाता है कि दूध तो गायों से ज्यों-त्यों मिल सकता है, परंतु घी के लिए तो भैंस की शरण लेनी पड़ेगी। लेकिन हमारे प्राचीन वैदिक ऋषि यह नहीं मानते। वे कहते हैं—

यूयं गवो मेदयथाः कृशं चित्।

"हे गायो, जिसका शरीर (स्नेह के अभाव से) सूख गया हो, उसे तुम अपने मेद से भर देती हो।" यहां 'मेदयथा' यानी 'मेदती हो' का इस्तेमाल किया गया है। मेद कहते हैं चरबी को, स्नेह को, जिसे हम 'फैट' कहते हैं। इसका मतलब यह है कि दुबले-पतले को मोटा-ताजा बनाने लायक चरबी गाय के दूध में पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए और अगर आज गाय के दूध में

घी की मात्रा कम मालूम होती है तो उसे बढ़ाना हमारा काम है। वह कसर गाय में नहीं, बल्कि हमारी कोशिश में है।

उसकी पुष्टि में उन्होंने गाय का वर्णन यों किया है—

अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।

जो शरीर अ-श्रीर है, उसे गाय श्रीर बनाती है। 'श्रीर' का अर्थ शोभन है और 'अश्रीर' का अर्थ 'शोभाहीन'। 'अश्रीर' से ही 'अश्लील' शब्द बना है। इस पर से आप समझ लें कि हम को गो-सेवा का पहला पाठ वैदिक ऋषियों ने पढ़ाया है, उसके विकास की दिशा भी बतला दी है और वह दिशा अनुचित पूजा भाव की नहीं, बल्कि शुद्ध वैज्ञानिकता की है। यानी परम उपयोगिता की है।

सेवा से मतलब उपयोगहीन सेवा नहीं है। उपयोग के साथ-साथ उपयोगी जानवर की यथासंभव अधिक-से-अधिक सेवा करना ही उसका अर्थ है। उसका यह भाव है कि उपयोगी जानवर को हमें अधिकाधिक उपयोगी बनाना है और इसी तरह हम उसकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकते हैं, जैसा कि हम अपने बाल-बच्चों के विषय में करते हैं। इस तरह हमारे लिए सेवा का उपयोग के साथ नित्य संबंध है। अब मैं जरा और आगे बढ़ूंगा। जैसे हम उपयोगहीन सेवा नहीं कर सकते, वैसे ही सेवा-हीन उपयोग भी हमें नहीं करना चाहिए। गो-सेवा-संघ के नाम में 'सेवा' शब्द का यही अर्थ है। यानी हम बगैर सेवा के लाभ नहीं उठायंगे। यह आज भी होता है। हम ढोरों की सेवा कुछ-न-कुछ तो करते ही हैं; लेकिन शास्त्रीय दृष्टि से जितनी करनी चाहिए उतनी नहीं करते; क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि हमारे पास नहीं है, विशेषज्ञों से इस काम में हम सहायता जरूर लेंगे। लेकिन हमें सब काम उन पर नहीं छोड़ना चाहिए। हमें गाय की प्रत्यक्ष सेवा करनी चाहिए। जब ऐसा होगा, तब उस में से गो-सेवा का थोड़ा-बहुत शास्त्र हमारे साथ आ जायगा।

पवनार में हमारे आश्रम के एक भाई, नामदेव ने दो-चार गायें पाली हैं। बाजार के लिए उसे एक दिन सेलू जाना पड़ा। शाम को नामदेव वापस लौटा और गाय दुहने के लिए बैठा तो गाय ने दूध नहीं दिया। उसने काफी कोशिश की। तब उसने पूछा, "आज गाय को क्या हो गया है?" जवाब मिला, "कुछ तो नहीं। पता नहीं, दूध क्यों नहीं देती ? बछड़ा भी तो बंधा हुआ

था। इसलिए वह भी दूध नहीं पी सका होगा।" निदान नामदेव ने पूछा, "किसी ने उसे मारा-पीटा तो नहीं ?" एक भाई ने कहा, "हां, मारा तो था।" नामदेव ने कहा, "बस, तो वह इसीलिए दूध नहीं देती।" फिर नामदेव गाय के पास पहुंचा, उसने उसके शरीर पर हाथ फेरा, उसे पुचकारा! तब गाय कुछ देर के बाद दूध देने के लिए तैयार हो गई। यह किस्सा इसलिए कहा कि हमें समझना चाहिए कि जब हम नामदेव की तरह सेवा करेंगे तो उसी में से गो-सेवा का रहस्य धीरे-धीरे स्पष्ट हो जायगा और गो-सेवा का शास्त्र बनेगा।

कालिदास ने, जो कि हिंदू संस्कृति का अप्रतिम प्रतिनिधि है, हमारे सामने उस सेवा का कितना सुन्दर आदर्श पेश किया है! महाराज दिलीप ऋषि के आश्रम में रहने को आता है। ऋषि उसे गाय की सेवा का काम देते हैं, क्योंकि आश्रम में कोई बिना सेवा के रह ही नहीं सकता। आश्रम तो सेवा की ही भूमि है। हां, तो वह गो-सेवा का काम कितनी लगन से करता है? उसकी कैसी सेवा-टहल करता है? उसके पीछे-पीछे कैसे रहता है?—इसका चित्र रघुवंश में एक श्लोक में यों खींचा है—

स्थितिः स्थितामुच्चलितः प्रयातां,
निषेदुषीमासनबंधधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां,
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥

शरीर की छाया की नाईं राजा गाय का अनुचर बन गया था। जब वह गाय खड़ी होती थी, तब वह भी खड़ा हो जाता था। जब वह चलती तो वह भी चलता; वह बैठ जाती, तब वह बैठता; वह पानी पीती, तभी वह भी पानी पीता; गाय को खिलाये-पिलाये बिना खुद नहीं खाता-पीता था।

गाय एक उदार प्राणी है। वह हमारी सेवा और प्रेम को पहचानती है और अधिक-से-अधिक लाभ देने के लिए तैयार रहती है। 'सेवा' शब्द का दोहन करके मैंने यह दूध आपके सामने रख दिया है। एक तो हम बिना उपयोग के किसी की सेवा नहीं कर सकते, और दूसरे सेवा किये बिना यदि हम उपयोग करेंगे तो वह भी गुनाह होगा। हमें यह हरगिज नहीं करना है।

अब एक बात और। गाय और भैंस के विषय में बहुत-कुछ कहा गया है।

दोनों मनुष्यों को दूध देनेवाले जानवर हैं। दोनों में कोई मौलिक विरोध तो नहीं होना चाहिए। फिर भी, हम गाय का ही दूध वरतने की प्रतिज्ञा लेते हैं, तो उसका तत्व हम लोगों को जान लेना चाहिए। हिंदुस्तान का कृषि-देवता बैल है। और यह तो सब जानते ही हैं कि हिंदुस्तान कृषि-प्रधान देश है। बैल तो हमें गाय के द्वारा ही मिलता है। यही गाय की विशेषता है। उसके साथ-साथ गाय की अन्य उपयोगिता हम जितनी बढ़ा सकते हैं, जरूर बढ़ायेंगे। लेकिन उसका मुख्य उपयोग तो बैल की जननी के नाते हैं। बिना बैल के हमारी खेती नहीं होगी। इसलिए हमें गाय की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए और उसकी सार-संभाल करनी चाहिए। ऐसा अगर हम नहीं करते तो हिंदुस्तान की खेती का भारी नुकसान करते हैं। जब हम इस दृष्टि से सोचते हैं तो भैंस का मामला सुलझ जाता है और यह सहज ही समझ में आ जाता है कि गाय को ही प्रोत्साहन देना हमारा प्रथम कर्तव्य हो जाता है।

मुझे याद आता है, एक दफा मेरे एक मित्र ने उनके प्रांत में अकाल के समय जानवर किस क्रम से मरे, उसका हाल सुनाया था। उन्होंने कहा, सबसे पहले भैंसा मरता है, क्योंकि हम भैंस की उपेक्षा करके उसे मार डालते या मरने देते हैं। वर्धा के बाजार में भैंसें ऐसी अवस्था में लाई जाती हैं, जबकि वे एक-दो घंटों में ही ब्याने को होती हैं। हेतु यह होता है कि लोग उसे तुरंत खरीद लें। एक बार एक आदमी ऐसी एक भैंस बाजार को ला रहा था। उसी समय मनोहरजी ने, जोकि उन दिनों येलीकेली में महारोगी सेवा-मंडल द्वारा महारोगियों की सेवा करते थे, उसको देखा। रास्ते में ही वह भैंस ब्यायी—पुत्र-जन्म हो गया! लेकिन उस आदमी को उस पुत्र-जन्म से बड़ी झुंझलाहट हुई! उसने सोचा, यह पुत्र कैसा? यह तो एक बला आ गई! मनुष्य को तो पुत्र-जन्म से आनंद होता है; लेकिन भैंस के पुत्र को वह सहन नहीं करता। उसने उस पुत्र को वहीं छोड़ दिया और भैंस को ले जाकर वर्धा के बाजार में बेच दिया और जो कुछ पैसा मिला वह लेकर अपने घर चलता बना। बेचारा भैंस-पुत्र वहीं पड़ा रहा। मनोहरजी बेचारे दयालु ठहरे। फिक्र में पड़े कि अब इसका क्या किया जाय? जिस खेत में वह रहते थे, उस खेत के मालिक के पास गये और उससे कहा, "भैया, इसको संभालोगे?" मालिक ने कहा, "यह क्या बला आ गई? मैं उसको कैसे रखूं? आखिर उसका उपयोग ही

क्या है ? मैं उसकी परवरिश क्यों करूं ? उसको आखिर दशहरे के दिन कत्ल होने के लिए ही वेचना होगा। इसके सिवा और दूसरा कोई रास्ता नहीं है।"

मैंने यह एक नित्य की घटना आपके सामने रखी। तो, सबसे पहले वेचारा भैंसा मरता है। फिर उसके वाद गाय मरती है; उसके पश्चात् भैंस मरती है और सबसे आखिर में वैल। बैल सबसे उपयोगी है और इसी-लिए उसकी हिफाजत करने की विशेष कोशिश की जाती है। लोग किसी-न-किसी तरह उसको खिलाते रहते हैं और उसे जिलाने की कोशिश करते हैं। यह तो हुई उपयोगिता की बात। वैल इन सब जानवरों में सबसे ज्यादा उपयोगी तो सावित हुआ। लेकिन सवाल यह है कि गाय की सेवा के बिना अच्छे वैल कहां से आयंगे ? हिन्दुस्तान का आदमी वैल तो चाहता है; लेकिन गाय की सेवा करना नहीं चाहता। वह उसे धार्मिक दृष्टि से पूजने का स्वांग रचता है। दूध के लिए भैंस की कद्र करता है। भैंस और गाय दोनों का पालन हिन्दुस्तान के लिए आज वड़ी मुश्किल बात हो गई है।

लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि गो-सेवा में गाय की ही सेवा को महत्व देना पड़ता है। वापू ने कहा कि अगर हम गाय को बचा लेंगे तो भैंस का भी मामला तय हो जायगा। इसका पूर्ण दर्शन तो अभी मुझे भी नहीं हुआ है और शायद उसकी अभी जरूरत भी नहीं है।

गाय और भैंस को एक-दूसरे का विरोधी मानने की जरूरत नहीं है। लेकिन हमें तो गो-सेवा से आरंभ कर देना है और वही हो भी सकता है। हमें समझना चाहिए कि आज हम दरअसल भैंस की सेवा भी नहीं करते। आज हम जो भैंस की सेवा करते हैं वह दरअसल न तो गो-सेवा है और न भैंस की सेवा ही है। हम उसमें केवल अपना स्वार्थ देखते हैं। हम भैंस का केवल सेवाहीन उपयोग करते हैं। जिस प्रकार उपयोग-हीन सेवा हम नहीं कर सकते, उसी प्रकार सेवा-हीन उपयोग भी हमें नहीं करना है।

जैसा कि मैं वता चुका हूं, आज भैंसे की हर तरह से उपेक्षा की जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि हिंदुस्तान के कुछ भागों में भैंसे का उपयोग भले ही किया जाता हो, लेकिन साधारणतः हिंदुस्तान की गरम हवा में भैंसा ज्यादा उपयोगी नहीं हो सकता, भैंस का हम केवल लोभ से पालन कर रहे

हैं। नागपुर-वरार में गर्मियों में गर्मी का मान एकसौ पंद्रह अंश तक चला जाता है। खास कर उन दिनों में भैंस को पानी जरूर चाहिए। मगर यहां तो पानी की कमी है। पानी के वगैर उसको वेहद तकलीफ होती है, क्योंकि भैंस पूरी तरह जमीन का जानवर नहीं है। वह आधा जमीन का और आधा पानी का प्राणी है। गाय तो पूरी तरह थलचर है, और अक्सर देखा जाता है कि जो पानीवाला जानवर हो, उसके शरीर में भगवान् ने चरवी की अधिकता रखी है, क्योंकि ठंड और पानी से वचने के लिए उसकी उसे जरूरत होती है। मछली के शरीर में स्नेह भरा हुआ रहता है। पानी के वाहर निकालते ही वह सूर्य के ताप से जल जाती है। वैसी ही कुछ-कुछ हालत भैंस की भी है। उसे धूप वरदाश्त नहीं होती। इसीलिए लोग गर्मी के दिनों में उसी के मल-मूत्र का उसकी पीठ पर लेप करते हैं. ताकि कुछ ठंडक रहे। वे जानते हैं कि उस जानवर को उस समय कितनी तकलीफ होती है। देहातों में जाकर आप लोगों से पूछेंगे कि आपके गांव में कितनी भैंस और कितने पाड़े हैं, तो वे कहेंगे कि भैंसें हैं करीब सौ-डेढ़सौ और पाड़े हैं कुल दस, या वहुत तो वीस। अगर हम उनसे पूछेंगे कि इन स्त्री-पुरुषों या नर-मादाओं की संख्या में इतनी विषमता क्यों है, तो हमारे देहातों के लोग जवाव देंगे, "क्या करें? भगवान् की करतूत ही ऐसी है कि भैंसा ज्यादा दिन जीता ही नहीं।" आखिर यहां भी भगवान् की करतूत आ ही गई! यह हमारे वुद्धिनाश का लक्षण है। हम उसकी तकलीफ का ध्यान न करते हुए भैंस का उपयोग करते हैं कि भैंसे जिंदा ही नहीं रहते और नहीं रहेंगे। मतलव, हम भैंस की सेवा करते हैं, ऐसी वात नहीं है। उसमें हम सिर्फ भैंस का उपयोग ही करते हैं। वाकी उसकी सेवा कुछ भी नहीं करते। इसलिए आपकी समझ में आ गया होगा कि सेवा-संघ की स्थापना हम किस लिए करते हैं।

चन्द लोग पूछते हैं, "हिंदुस्तान एक कृषि-प्रधान देश है, इसलिए खेती के वास्ते वैल चाहिए और वैल चाहिए तो गाय भी चाहिए, इत्यादि विचार-श्रेणी तो ठीक है, मगर क्या हिंदुस्तान का यही एक अर्थशास्त्र हो सकता है? क्या दूसरा कोई अर्थशास्त्र ही नहीं हो सकता? समय आने पर हम खेती का काम ट्रैक्टर से क्यों न करें?"

उसके जवाव में मैं यह पूछता हूं कि ट्रैक्टर चलायंगे तो वैल का क्या

होगा ? जवाब मिलता है, "बैल को हिंदुस्तान के लोग खा जायं। हिंदुस्तान के लोग दूसरे कई जानवरों का मांस बराबर खाते हैं। उसी तरह बैल का मांस भी खा सकते हैं। यह रास्ता क्यों न अपना लिया जाय ?" इस तरह जब बैलों के खा जाने की व्यवस्था होगी, तभी ट्रैक्टर द्वारा जमीन जोतने की योजना हो सकती है। कहा जाता है कि बैलों को अगर हिंदू नहीं खायेंगे तो गैर-हिंदू खायं। आज भी हिंदू गाय को बेचते ही हैं। खुद तो कसाई से पैसा लेते हैं और गो-हत्या का पाप उसे दे देते हैं। ऐसी सुंदर आर्थिक व्यवस्था उन्होंने अपने लिए बना ली है ! वह कहता है कि अगर मैं कसाई को गाय मुफ्त में देता तो गो-हत्या के पाप का भागी होता। लेकिन मैं तो उसे बेच देता हूं—इसलिए पाप का हिस्सेदार नहीं बनता, उस व्यवस्था को आगे बढ़ायंगे तो सब ठीक हो जायगा। हम भैंस से दूध लेंगे, बैलों को खा जायंगे और यंत्रों के द्वारा खेती करेंगे—इस तरह तीनों का सवाल हल हो जायगा।

इसके जवाब में मैं आप लोगों को यह समझाना चाहता हूं कि बैलों को क्यों नहीं खाना चाहिए ? पूर्व पक्ष की दलील यह है कि कुछ पूर्वाग्रह-दूषित (प्रेज्युडिस्ड) लोग बैल को भले ही न खायं; लेकिन बाकी के तो खायंगे और हम यंत्र के द्वारा मजे में खेती करेंगे। इस विषय में हमारे विचार साफ होने चाहिए। मैं मानता हूं कि हिंदुस्तान की आज की जो हालत है और आगे उसकी हालत होनेवाली है, उस हालत में अगर हम मांस का प्रचार करेंगे और यंत्र से खेती करेंगे तो हिंदुस्तान और हम जिंदा नहीं रह सकेंगे। यह समझने की जरूरत है। हिंदुस्तान के लोग भी अगर गाय-बैल खाने लगेंगे तो कितने प्राणियों की जरूरत होगी ? उतने बैलों की पैदाइश हम यहां नहीं कर सकेंगे। सिर्फ मांस, या गोश्त खाने का ढोंग तो नहीं करना है। मांस अगर खाना है तो वह हमारे भोजन का नियमित हिस्सा होना चाहिए। तभी तो उससे अपेक्षित लाभ होगा। लेकिन हम जानते हैं कि लोग खा सकें, इतने बैल पैदा नहीं हो सकेंगे। अगर हम इस तरह करने लगे और खेती ट्रैक्टर के द्वारा होने लगी तो ट्रैक्टर का खर्च बढ़ेगा और गोश्त भी पूरा नहीं पड़ेगा और आखिर में गाय और बैल का वंश ही नष्ट हो जायगा और उसके साथ मनुष्य भी।

यूरोप और अमरीका की क्या स्थिति है ? दक्षिण अमरीका के अर्जेण्टा-

इन के बंदरगाह ब्यूनास-आयरिस में रोज करीव-करीब दस हजार बैल कटते हैं और वहां से गोश्त के पीपे दूर-दूर के देशों में भेजे जाते हैं। अब तो यह व्यवस्था यूरोप के काम की नहीं रही। लेकिन वैसे भी अगर यह सिलसिला जारी रहा, तो आगे चलकर लोगों को गोश्त मिलना कठिन हो जायगा। इसलिए यूरोप के डाक्टरों ने अब यह शोध की है, और वहुत सोच-विचार कर निर्णय किया है—संभव है उसमें मतभेद होगा, क्योंकि डाक्टरों में मत-भेद तो हुआ ही करता है—कि गोश्त के मुकावले में दूध में गुण अधिक हैं। यह शोध हमारे आयुर्वेदिक वैद्यों और हकीमों ने वहुत पहले की है। मैं मानता हूं कि आज यूरोप के लोग जिस तरह मांसाहार करते हैं, उसी तरह हिंदुस्तान के लोग भी पुराने जमाने में मांसाहार करते थे। आखिर वे इस नतीजे पर पहुंचे कि अगर हम मांस के वजाय दूध का व्यवहार करेंगे तो हम भी जिंदा रहेंगे और जानवर भी जिंदा रहेंगे। इसलिए ट्रैक्टर का उप-योग हमारा सवाल हल नहीं कर सकता और हमें यह समझना चाहिए कि गोश्त के वजाय दूध पर भरोसा रखना सब तरह से लाजिमी होगा।

मेरी यह भविष्यवाणी है कि जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे दुनिया भर में गोश्त की महिमा कम होगी और दूध की बढ़ेगी। पूछा जाता है कि 'आखिर दूध भी तो प्राणिजन्य वस्तु है ?' हां, है तो सही। 'फिर दूध को पवित्र क्यों माना गया ?' उसका जवाव अभी मैंने जो कुछ कहा उसी में मिल सकता है। जैसा कि अभी मैंने कहा, एक समय था जव कि हिंदुस्तान में मांसाहार ही चलता था। उस वक्त उसमें से बचने के लिए क्या किया जाय, यह सवाल उत्पन्न हुआ। योगियों और वैद्यों ने जब लोगों के सामने गाय के दूध की महिमा रखी, तब से दूध ऐसी चीज हो गई जिसने लोगों को मांसाहार से छुड़ाया। इसलिए दूध पवित्र माना गया। इसके सबूत आपको वेदों में मिल सकते हैं। ऋग्वेद में यह वचन पाया जाता है :

गोभिष्टरेम अर्मातं दुरेवां,
यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।

इस मंत्र का अर्थ मैंने इस तरह किया है—'भूख को तो हम अन्न के द्वारा मिटा सकते हैं। लेकिन 'दुरेवा अमति' का यानी दुर्भाग्य में ले जानेवाली बुद्धि का, अर्थात् गोश्त की तरफ ले जानेवाली अबुद्धि का, गाय के दूध के द्वारा

ही हम निवारण कर सकते हैं।' सब तरह की अवुद्धि मिटाने के लिए और उसमें से जहर निकालने के लिए गाय का दूध हमारे काम आता है। इसीलिए गाय का दूध पवित्र माना गया है। मतलब यह है कि कुल मिला-कर यंत्रवादी जो ट्रैक्टर पर आधार रखने की वात कहते हैं, वह गलत है।

: ३५ :
भिक्षा

मनुष्य की जीविका के तीन प्रकार होते हैं : (१) भिक्षा, (२) पेशा और (३) चोरी।

भिक्षा, अर्थात् समाज की अधिक-से-अधिक सेवा करके समाज से सिर्फ शरीर-धारण भर को कम-से-कम लेना, और यह भी विवश होकर और उपकृत भाव से।

पेशा, अर्थात् समाज की विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला मांग लेना।

चोरी, अर्थात् समाज की कम-से-कम सेवा करके या सेवा करने का नाटक करके या बिल्कुल सेवा किये बिना और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष नुकसान करके भी समाज से ज़्यादा-से-ज्यादा भोग लेना।

प्रत्यक्ष चोर-लुटेरे, खूनी और इन्हीं-सरीखे वे 'इंतजामकार' पुलिस, सैनिक, हाकिम, वगैरा सरकारी साथी-सहायक; इंतजाम के बाहर के वकील, वैद्य, शिक्षक, धर्मोपदेशक वगैरा उच्च-उद्योगी और अव्यापारेषु व्यापार करनेवाले—ये सब तीसरे वर्ग में आते हैं।

मातृभूमि पर मेहनत करनेवाले किसान और जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी करनेवाले मजदूर, ये दूसरे वर्ग में जाने के अभिलाषी हैं, जानेवाले नहीं। कारण, उनकी उचित पारिश्रमिक पाने की इच्छा होते हुए

भी तीसरे वर्ग की करतूत के कारण आज उनमें से बहुतों को उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता और वे निस्संदेह तीसरे वर्ग में दाखिल हो जाते हैं।

पहले वर्ग में दाखिल हो सकनेवाले बहुत ही थोड़े, सच्ची लगन के साधु-पुरुष हैं। बहुत ही थोड़े हैं, पर हैं, और उन्हीं के बल पर दुनिया टिकी है। वे थोड़े हैं, पर उनका बल अद्भुत है।

"भिक्षावृत्ति का लोप हो रहा है, उसका पुनरुद्धार होना चाहिए।" जब समर्थ यह कहते हैं, तो उनका उद्देश्य इसी पहले वर्ग को बढ़ाना है।

इसी को गीता में 'यज्ञ-शिष्ट' अमृत खाना कहा है, और गीता का आश्वासन है कि यह अमृत खानेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है।

आज हिंदुस्तान में बावन लाख 'भीख मांगनेवाले' हैं। समर्थ के समय में भी बहुत 'भिक्षुक' थे, फिर भी भिक्षा-वृत्ति का जीर्णोद्धार करने की जरूरत समर्थ को क्यों जान पड़ी ?

इसका जवाब भिक्षा की कल्पना में है। बावन लाख की भिक्षा का जो अर्थ है, वह तो चोरी का ही एक प्रकार है।

भिक्षा का मतलब है अधिक-से-अधिक परिश्रम और कम-से-कम लेना। इतना भी न लिया होता, पर शरीर-निर्वाह नहीं होगा, इसलिए उतने भर के लिए लेना पड़ता है पर हक मानकर नहीं। समाज का मुझपर यह उपकार है, इस भावना से। भिक्षा में परावलंबन नहीं है ईश्वरावलंबन है, समाज की सद्भावना पर श्रद्धा है, यथालाभ संतोष है, कर्तव्यपरायणता है, फलनिरपेक्ष वृत्ति का प्रयत्न है।

लोक-सेवा के शरीर-रक्षण को एक सामाजिक कार्य समझना चाहिए। विशिष्ट सामाजिक काम के लिए यदि किसी को कोई निश्चित रकम दी जाय तो उस रकम का विनियोग उचित रीति से, हिसाब रखकर, इसी कार्य के लिए वह करता है। मैं लोक-सेवक हूं, इसलिए मेरा शरीर धारण कार्य भी सामाजिक कार्य है, ऐसा समझकर उसके लिए मुझे, आवश्यकतानुसार समाज देता है। उस रकम का उपयोग मुझे उसी काम में करना चाहिए, उचित रूप से करना चाहिए, उसका हिसाब रखना चाहिए, और वह हिसाब लोगों की जांच के लिए खुला रखना चाहिए। अर्थात् सब तरह से एक पंच

जैसी संचालन-व्यवस्था करेगा, वैसे 'निर्मम' भावना से मुझे अपने शरीर की संचालन-व्यवस्था करनी चाहिए। यह भिक्षावृत्ति है।

कुछ सेवकों को कहते सुना जाता है—अपने पैसे को हम चाहे जैसे खर्च करें, सामाजिक पैसे का हिसाव ठीक रखेंगे; लोगों को दिखायेंगे, उनसे आलोचना चाहेंगे, उन्हें होगा तो उत्तर देंगे, नहीं तो क्षमा मांगेंगे, पर हमारे पैसे का हिसाव ठीक रखने को हम वंधे नहीं हैं, और दिखाने की तो वात ही नहीं। यदि सचाई से समाज सेवा करनेवाला कोई आदमी यह कहे तो उसकी सेवा 'पेशा' वन गई। पेशा ईमानदार सही, पर है 'पेशा'; भिक्षावृत्ति नहीं।

भिक्षा कहती है—'तेरा' पैसा कैसा ? जैसे खादी के काम के लिए खादी-का ज्ञाता मानकर तुझे पैसा सौंपा गया, उसी तरह तेरे शरीर के काम के लिए तुझे उसका ज्ञाता समझकर पैसा दिया गया। खादी के लिए दिया हुआ पैसा जव तेरा नहीं है, तव तेरे शरीर के लिए दिया हुआ पैसा तेरा कैसे हुआ ? दोनों काम सामाजिक ही हैं।

एक खादी प्रचारक से पूछा गया, "तुम्हें कितने की जरूरत है ?"

"तीस रुपये महीने की।"

"तुम तो अकेले हो, फिर इतने की जरूरत क्यों है ?"

"दो-तीन गरीव विद्यार्थियों को मदद देता हूं।"

हम यह मान लेते हैं कि गरीब विद्यार्थियों को इस तरह मदद देना अनुचित नहीं। पर मान लो कि खादी के काम के लिए तुम्हें पैसे दिये गये, तो उसमें से राष्ट्रीय शिक्षण के काम में लाओगे क्या ?"

"ऐसा तो नहीं किया जा सकता।"

"तव तुम्हारे शरीर का पोषण, जो एक सामाजिक काम है, उसके लिए तुम्हें दी गई रकम से गरीव विद्यार्थियों को मदद देने में, जो दूसरा सामाजिक काम है, खर्च करने का क्या मतलव ?"

यह भी भिक्षा-वृत्ति का महत्वपूर्ण मुद्दा है। शिक्षा-वृत्ति वाले मनुष्य को दान का अधिकार नहीं है। दान हो या भोग, दोनों का कर्त्ता 'मैं' ही हूं और भिक्षा में 'मैं' को जगह ही नहीं है। इसी से दोनों का नहीं। न भोग में फंसो, न त्याग में पड़ो—यह भिक्षावृत्ति का सूत्र है। भिक्षावृत्ति के मानी हैं, 'घर

बड़ा करना', वड़ी जिम्मेदारी सिर पर लेना। भिक्षा गैर जिम्मेदारी नहीं है।

भिक्षा मांगने के मानी हैं, 'मांगना छोड़ देना।' वाइविल में कहा है, 'मांगो तो मिल जायगा।' उसका मतलव है भगवान् से मांगो तो मिलेगा। पर समाज से 'मांगो मत, तो मिलेगा।'

'भिक्षा मांगना' ये शब्द विसंवादी है। कारण, भिक्षा के मानी ही हैं न मांगना। 'भिक्षा मांगना' शव्द पुनरुक्त है, क्योंकि भिक्षा ही स्वतः सिद्ध मांगना है। भिक्षा मांगनी नहीं पड़ती। कर्तव्य की झोली में अधिकार पड़े ही हैं।

: ३६ :
युवकों से

तुम्हारे खेल देखकर आनन्द हुआ। देश का भविष्य तुम बाल-गोपालों के हाथ में है। तुमने जो खेल दिखाये हैं, वह किसलिए हैं ? शक्ति प्राप्त करने के लिए हैं। शक्ति किसलिए ? गरीव लोगों की रक्षा के लिए। इसलिए कि गरीबों के लिए हम उपयोगी हो सकें। शरीर घिसाने के लिए तगड़ा बनाना है। चाकू में धार किसलिए लगाई जाती है ? इसलिए नहीं कि वह पड़ा-पड़ा जंग खा जाय; बल्कि इसलिए कि वह काम आ सके। शरीर में धार लगानी है, उसे फुर्तीला, चपल और मजवूत बनाना है। उद्देश्य यह है कि आगे चलकर उसे हम चन्दन के समान घिस सकें। वल सेवा के लिए है।

गीता में श्री भगवान् ने कहा है, 'वलं वलवतामस्मि कामराग विवर्जितम्।' (वलवानों में मैं वैराग्य-युक्त निष्काम बल हूं।) शब्दों पर खूब ध्यान दो। सिर्फ 'बल' नहीं कहा। 'वैराग्य-युक्त निष्काम बल।' इस वैराग्य-युक्त निष्काम वल की ही मूर्ति हम व्यायामशालाओं में रखा करते हैं। वह कौन-सी मूर्ति है—हनुमानजी की पवित्र और सामर्थ्यवान् मूर्ति।

हनुमानजी वैराग्य-युक्त निष्काम बल के पुतले थे। इसलिए वाल्मीकि ने उनके स्तुति-स्तोत गाये। रावण भी महा बलवान था। लेकिन रावण में वैराग्य नहीं था। रावण का बल भोगने के लिए था, दूसरों को सताने के लिए था। रावण पहाड़ उठाता था, वज्र तोड़ डालता था, दस आदमियों का बल मानो उस अकेले में था। इसलिए उसके दस मुंह और बीस हाथ दिखाये गये। इतना बलवान होते हुए भी उसका सारा बल धूल में मिल गया। हनुमान का बल अजरामर हो गया। वाल्मीकि ने बल की ये दो मूर्तियां, ये दो चित्र, उपस्थित किये हैं। रावण के बल में भोग-वासना थी। रावण बल के द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था। हनुमान बल के द्वारा सेवा करना चाहता था। सेवा को अर्पण किया हुआ बल टिकेगा, अमर होगा। भोग को अर्पण किया हुआ बल अपने और संसार के नाश का कारण होगा।

समुद्र के तीर पर सारे वानर बैठे थे। लंका में कौन जायगा, इसकी चर्चा हो रही थी। हनुमान एक तरफ राम-राम जपते बैठे थे। जामवंत हनुमान के पास जाकर बोला, "हनुमान, तुम जाओगे?" हनुमान बोला, "आपका आशीर्वाद हो तो जाऊंगा।"

वह अकेला वानर किस शक्ति के बूते उन बलवान राक्षसों में निर्भय होकर चला गया? हनुमान से जब यह सवाल पूछा तब उसने क्या यह जवाब दिया कि मैं अपने बाहुबल के जोर पर आया हूं? हनुमान बोला, "मैं राम के भरोसे यहां आया हूं। मेरे बाजुओं में जोर है या नहीं, यह मुझे नहीं मालूम; परंतु राम का बल अवश्य मेरे पास है।"

और जरा गहराई से सोचो तो बाहुबल का भी क्या अर्थ है? बाहु-बल के मानी हैं शारीरिक श्रम करने की शक्ति। इसीके लिए ये हाथ हैं। सेवा के लिए ही हम हस्तवान् हैं। पशु के हाथ नहीं हैं। भुजाओं के बल के प्रयोग से हम अन्न का निर्माण करें, सेवा करें। हमारी कलाइयों में यह जो सेवा करने की शक्ति है, वह किसकी शक्ति है? हनुमान जानता था कि वह आत्मा की शक्ति है, राम की शक्ति है।

जिस बल की आत्मा में श्रद्धा न हो, राम में श्रद्धा न हो, वह बल निकम्मा होता है। जिसने राम का बल पहचान लिया, वह कलिकाल से भी नहीं

डरा करता। शरीरबल राम के लिए है। वह सेवा के लिए है, भोग के लिए नहीं है।

दूसरी बात यह है—भुजाओं में जो बल है, वह तुच्छ वस्तु है। वह केवल बल निराधार है। वह बल आत्मश्रद्धा पर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बलों में भी आत्मश्रद्धा से बल पैदा हो जाता है। उपनिषद् कह रहे हैं कि जिसमें श्रद्धा का बल है, वह दूसरे सौ आदमियों को कंपा देगा। इसलिए आध्यात्मिक बल की उपासना चाहिए।

हनुमान में पशुबल नहीं था। हनुमान का जो स्तुतिश्लोक है, उसमें दूसरे सारे बलों का वर्णन है; परंतु शरीर-बलका उल्लेख कहीं नहीं है। यथा—

मनोजवं मारुत तुल्य वेगम्,
जितेन्द्रियं बुद्धिमतांवरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथ मुख्यं,
श्रीराम दूतं शरणं प्रपद्ये॥

—मन के समान वेगवान, वायु के समान वेगवान, जितेन्द्रिय, बुद्धिमानों में वरिष्ठ, पवनसुत, वानरों के सेनापति, रामदूत की मैं शरण जाता हूं।

हनुमान मन और पवन के समान वेगवान थे। वह जितेन्द्रिय थे, वह अत्यंत बुद्धिमान थे, वह नायक थे, वह रामदूत थे—इन सारी बातों का वर्णन है। हनुमान बल का देवता है। लेकिन इस स्तुति में बल का जिक्र तक नहीं। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है? परंतु ये गुण ही वास्तविक बल हैं। ये गुण ही यथार्थ कार्य-शक्ति हैं।

मनुष्य में वेग चाहिए, स्फूर्ति चाहिए, मन के समान वेग चाहिए, सामने काम देखते ही उसे चट से आनन्द से छलांग मारनी चाहिए। सिंहगढ़ फतह करने का संदेशा आते ही तानाजी चल पड़ा। नहीं तो मनमें सेवा की मुराद है, लेकिन शरीर टस-से-मस नहीं होता, वह आलस में लोट-पोट हो रहा है, ऐसा शरीर किस काम का? ज्ञानेश्वर ने बड़ा सुंदर वर्णन किया है। सेवक कैसा चाहिए। ज्ञानेश्वर कहते हैं, 'आंग मनापुढ़ें घे दौड़ा' —शरीर मनके आगे-आगे दौड़ता है। कोई बात मन में आने से पहले ही शरीर दौड़ने लग जाता है।

शरीर में इस तरह का वेग होने के लिए ब्रह्मचर्य चाहिए। जितेंद्रियत्व चाहिए, इंद्रियों पर काबू चाहिए। संयम के बिना यह बल नहीं मिल सकता। वेग और संयम के साथ-साथ बुद्धि भी चाहिए, कर्म-कुशलता भी चाहिए, कल्पना-शक्ति चाहिए और चाहिए प्रतिभा। सिर्फ फरमाबरदारी ही काफी नहीं है। इसके अलावा राम की सेवा की भावना चाहिए। जहां राम कहें, वहां जाने के लिए दिन-रात तैयार रहना चाहिए।

हिंदुस्तान के करोड़ों देवता तुम्हारी सेवा के इच्छुक हैं। उन्हें तुम्हारी सेवा की जरूरत है। उस सेवा के लिए तैयार रहो। वेगवान, बुद्धिमान, संयमी, सेवा के शौकीन तरुण बनो। शारीरिक बल कमाओ, प्रेम कमाओ। अभी मैंने इस व्यायामशाला के अखाड़े में कुश्तियां देखीं। एक कुश्ती एक हरिजन और ब्राह्मण में हुई। मैंने उसमें समभाव पाया। अगर हम इसी समभाव से आइंदा व्यवहार करेंगे तो समाज बलवान होगा। अगर तुम इस समभाव का पोषण करोगे तो, तुम जो खेल खेले, जो कुश्तियां लड़े, उनमें से कल्याण ही होगा।

खेल में हम समभाव सीखते हैं? शिस्त (अनुशासन), व्यवस्था का महत्व सीखते हैं। इन खेलों के अलावा दूसरे भी अच्छे खेल खेले जा सकते हैं। खेत की जमीन खोदना भी एक खेल ही है। एक साथ कुदालियां ऊपर उठती हैं, एक साथ जमीन में घस रही हैं,—कैसा सुंदर दृश्य दिखेगा। इस खेल में आदर्श व्यायाम होगा। उसमें बुद्धि के प्रयोग की भी गुंजाइश है। व्यायाम में बुद्धि को भी गति मिलनी चाहिए। इसलिए मेरे मत से व्यायाम भी कुछ-न-कुछ उत्पादन करनेवाला होना चाहिए।

यहां के खेलों से तुम्हारे अंदर शक्ति और प्रेम दोनों पैदा हों। सब तरह के, सब जातियों के लड़के एकत्र होते हैं, एक साथ खेलते हैं। इससे प्रेम होता है। ये संस्मरण अगले जीवन में उपयोगी होते हैं। हम साथ-साथ खेले, कुश्ती लड़े, साथ-साथ शक्ति कमाई, ज्ञान कमाया, हाथ मिलाया आदि संस्मरणों से आगे चलकर तुम एकत्र होगे। संघशक्ति और सहकार्य बढ़ेगा।

तुम गणवेष (वर्दियां) पहने हो। इनका उद्देश्य भी आत्मीयता बढ़ाना ही है। परंतु तुम्हारी पोशाक खादी की ही हो। जो कमर-पट्टे तुम बरतोगे

वे भी मुर्दार चमड़े के हों, हमको सर्वत्र सचेत रहना चाहिए। बूंद-बूंद से ही घड़ा भरता है। राष्ट्र में सब तरफ सूराख-ही-सूराख हो गये हैं। संपत्ति लगातार बाहर जा रही है। इसकी तरफ ध्यान दो।

तुमने कसरत की। लेकिन दूध और रोटी न मिली तो कैसे काम चलेगा? अगर तुम्हें दूध चाहिए, तो गोरक्षण भी होना चाहिए। गोरक्षण के लिए गाय के—मरी हुई गाय के, मारी हुई गाय के नहीं—चमड़े से बनी हुई चीज ही बरतनी चाहिए। रोटी के लिए किसान को जिलाना चाहिए। खादी खरीदकर हम उनकी थोड़ी-सी मदद करेंगे, तो वे जियेंगे और हमें रोटी मिलेगी। तुम्हें अगर घर पर रोटी नहीं मिलती तो यहां आकर कितनी उछल-कूद करते? तुम जानते हो कि घर पर रोटी तैयार है, इसलिए यहां कूदे-फांदे। अन्न कूदने-फांदने की शक्ति देता है। इसलिए उपनिषद् कहता है—अन्नं वाव बलाद् भय: (अन्न बल से श्रेष्ठ है) राष्ट्र में अगर अन्न न होगा, तो बल कहां से आयेगा? पहले अन्न का इंतजाम करोगे, तब कहीं अखाड़े चलेंगे। पहले अन्न का प्रबंध होगा तब ज्ञानदान का प्रबंध हो सकेगा।

एक बार भगवान् बुद्ध का एक प्रचारक घूम रहा था। उसे एक भिखारी मिला। वह प्रचारक उसे धर्म का उपदेश देने लगा। उस भिखारी ने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया। उसमें उसका मन ही नहीं लगता था। प्रचारक नाराज हुआ। बुद्ध के पास जाकर बोला, "वहां एक भिखारी बैठा है। मैं उसे इतने अच्छे-अच्छे सिखावन दे रहा था तो भी वह सुनता ही नहीं।" बुद्ध ने कहा, "उसे मेरे पास लाओ।" वह प्रचारक उसे बुद्ध के पास ले गया। भगवान् बुद्ध ने उसकी दशा देखी। उन्होंने ताड़ लिया कि वह भिखारी तीन-चार दिनों से भूखा है। उन्होंने उसे भरपेट खिलाया और कहा, "अब जाओ।" प्रचारक ने कहा, "आपने उसे खिला तो दिया, लेकिन उपदेश कुछ भी नहीं दिया।" भगवान् बुद्ध ने कहा, "आज उसके लिए अन्न ही उपदेश था। आज उसे अन्न की ही सबसे ज्यादा जरूरत थी। वह उसे पहले देना चाहिए। अगर वह जीयेगा तो कल सुनेगा।"

हमारे राष्ट्र की आज यही दशा है। आज राष्ट्र में अन्न ही नहीं है। रामदास के जमाने में अन्न भरपूर था। आज की तरह उस समय हिंदुस्तान की

संपत्ति का सोता सूखा नहीं था। इसलिए उन्होंने प्राण का, बल का, उपासना-का उपदेश दिया। आज देहातों में सिर्फ अखाड़े खोल देने से काम नहीं चलेगा।

जब राष्ट्र में अन्न की उपज और गोसेवा होगी, तभी राष्ट्र का संवर्धन होगा। बलवान तरुणों को राष्ट्र में अन्न और दूध की अभिवृद्धि करनी चाहिए। हिंदुस्तान को फिर से 'गोकुल' बनाना है। यह जब बनाओगे तब बनाओगे। परंतु आज तो खादी की पतलून पहन कर और मरे हुए—मारे हुए नहीं—जानवर के चमड़े का पट्टा पहन कर अन्नदान और गोपालन में हाथ बंटाओ।

खाकी पोशाक करो। लेकिन वह पोशाक करके गरीबों के पेट मत मारो। तुम गरीबों के संरक्षण के लिए कवायद करोगे। लेकिन गरीब जब जीयेंगे तभी तो उनकी रक्षा करोगे न? तुम खाकी परिधान करके देश के बाहर पैसे भेजोगे और इधर गरीब मरेंगे। फिर संरक्षण किसका करोगे? तुम पैसे तो विदेश भेजोगे और दूध-रोटी मांगोगे देहातियों से? वे तुम्हें कहां से देंगे, भैया? इसलिए खाकी ही पहननी हो, तो खाकी खादी पहनो।

तुम्हारे गणवेष (वर्दियां) खादी के हैं, तुम्हारी संस्था में हरिजन भी आते हैं, ये बातें बड़ी अच्छी हैं। लेकिन मुसलमानों को मुमानियत क्यों? हिंदू-मुसलमानों को एकत्र होने दो। कम-से-कम मुमानियत तो न करो। उन्हें यहां लाने की कोशिश करो। तुम हिंदू-मुसलमान एक ही देश के हो। एक ही देश के हवा-पानी, अन्न-प्रकाश पर पल रहे हो। अगर हिंदू यहां के हैं तो मुसलमान बाहर के कैसे? और अगर मुसलमान बाहर के हैं, तो हिन्दू भी बाहर के हैं। लोकमान्य कहते हैं कि हिंदू लोग उत्तर ध्रुव की तरफ से आये। हिंदू अगर पांच-दस हजार साल पहले आये, तो मुसलमान हजार साल पहले आये। परंतु आज की भाषा में तो यहीं के कहे जायंगे। दोनों भारत-माता के ही लाल हैं।

सब धर्मों के विषय में उदार भावना रखो। जो सच्चा मातृ-भक्त है, वह सभी माताओं को पूज्य मानेगा। वह अपनी माता की सेवा करेगा, लेकिन दूसरे की माता का अपमान नहीं करेगा। हरेक अपनी मां के दूध पर पलता है।

धर्म-माता के समान हैं। मुझे मेरी धर्म-माता प्रिय है। मैं मातृपूजक हूं। इसलिए मैं दूसरे की माता की निंदा तो हरगिज नहीं करूंगा। उलटे, उस माता का भी वंदन करूंगा।

दिल में यह भाव पैदा होने के लिए यथार्थ हरिभक्ति की जरूरत है। चित्त में यथार्थ भक्ति जाग्रत होने पर यह सब होगा। बाहर उपासना और अंदर उपासना—दोनों चाहिए। बाहर खेल चाहिए, भीतर प्रेम चाहिए। खेलों के द्वारा शरीर फुर्तीला और सुभग बनाकर आत्मा को सौंपना है। शरीर आत्मा का हथियार है। हथियार भली-भांति उपयोगी होने के लिए स्वच्छ चाहिए। शरीर ब्रह्मचर्य के द्वारा स्वच्छ करके आत्मा के हवाले करो।

शरीर स्वच्छ रखो, उसी प्रकार मन को भी प्रसन्न, प्रेमल, निर्मल और सम रखो। खेलने की बाह्य क्रिया से शरीर स्वच्छ रहेगा। उपासना से भीतरी शरीर याने मन, निर्मल रहेगा। अंतर-बाह्य शुचि बनो, जैसा वह हनुमान है—बलवान् और भक्तिवान, सेवा के लिए निरंतर तत्पर। तुम उम्र से तरुण होते हुए भी अगर चपल न होगे, सेवा के लिए शरीर चट से उठता न होगा, तो तुम बूढ़े ही हो। जिसके शरीर में वेग है, वह तरुण है, चाहे उसकी अवस्था कुछ भी हो। हनुमान कभी बूढ़े नहीं हो सकते। वह चिर-तरुण हैं। चिरंजीव हैं।

ऐसे चिर-तरुण तुम बनो। तुम दीर्घायु होकर उम्र में वृद्ध होगे, उस वक्त भी तरुण रहो। वेग बनाये रखो। बुद्धि साबुत रखो। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि हमारे तरुण इस प्रकार तन्मय बुद्धि से जनता की और उसके द्वारा परमेश्वर की सेवा करने में जुट जायं।

: ३७ :

गृत्समद

यह एक मन्त्रद्रष्टा वैदिक ऋषि था। वर्तमान यवतमाल् जिले के कलंब गांव का रहनेवाला था। गणपति का महान् भक्त था। 'गणानांत्वा गणपति हवामहे' (हम आप का जो कि समूहों के अधिपति हैं, आवाहन करते हैं) यह सुप्रसिद्ध मन्त्र इसीका देखा हुआ है। ऋग्वेद के दस मण्डलों में द्वितीय मण्डल समूचा इसीका है। इस मण्डल में तैंतालीस सूक्त हैं और मन्त्रसंख्या चार सौ के ऊपर है। ऋग्वेद जगत् का अति प्राचीन और पहला ग्रन्थ माना जाता है। ऋग्वेद के भी कुछ अंश प्राचीनतर हैं। इस प्राचीनतर अंश में द्वितीय मण्डल की गणना होती है। इस पर से इतिहासज्ञ इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि गृत्समद करीब बीस हजार वर्ष पहले हुआ। गृत्समद का यह मण्डल सूक्त संख्या और मन्त्र-संख्या के लिहाज से ऋग्वेद के करीब पच्चीसवें हिस्से के बराबर होगा।

गृत्समद हरहुनरी आदमी था। ज्ञानी, भक्त और कवि तो वह था ही; लेकिन इसके अलावा गणितज्ञ, विज्ञान-वेत्ता, कृषि-संशोधक और मंजा हुआ बुनकर भी था। जीवन के छोटे-बड़े किसी भी अंग की उपेक्षा वह सहन नहीं कर सकता था। वह हमेशा कहा करता था, "प्राये प्राये जीगीवांस : स्याम"—"हमें हरेक व्यवहार में विजयी होना चाहिए।" और उसके ज्वलन्त उदाहरण के कारण आस-पास रहनेवाले लोगों में उत्साह का जाग्रत वातावरण बना रहता था।

गृत्समद के जमाने में नर्मदा से गोदावरी तक का सारा भूप्रदेश जंगलों से भरा हुआ था। पांच-पच्चीस मीलों के अन्तर पर एकाध छोटी-सी बस्ती हुआ करती थी। शेष सारा प्रदेश निर्जन। आस पास के निर्जन वन में बसी हुई गृत्समद की एकमात्र बड़ी बस्ती थी। इस बस्ती ने संसार का, कपास की खेती का, सबसे पहला सफल प्रयोग देखा। आज तो बरार में कपास का भण्डार बन गया है। गृत्समद के काल में बरार में आज की अपेक्षा बारिश का परिमाण ज्यादा था। उतना पानी सोख लेने वाला कपास का पौधा गृत्समद ने तैयार

किया और उसे एक छोटे-से प्रयोग क्षेत्र में लगाकर उससे दस सेर कपास प्राप्त किया। गृत्समद की इस नई पैदावार को लोगों ने 'गार्त्समदम्' नाम दिया। क्या इसीका ही लैटिन रूप 'गौतिपियम्' हो सकता है ?

उनकी वस्ती के लोग ऊन कातना-बुनना अच्छी तरह जानते थे। यह कार्य मुख्यतः स्त्रियों के सिपुर्द था। आज बुनने का काम पुरुष करते हैं और स्त्रियां कुकड़ी भरने, मांडी लगाने आदि में उनकी मदद करती हैं। किन्तु वैदिक काल में बुनकरों का एक स्वतन्त्र वर्ग नहीं वना था। खेती की तरह बुनना भी सभी का काम था। उस युग की ऐसी अवस्था थी कि सारे पुरुष खेती करते थे और सारी स्त्रियां घर का काम-काज संभाल कर बुनती थीं। 'सांझ को सूर्य जव अपनी किरणें समेट लेता है, तव बुननेवाली भी अपना अधूरा बुना हुआ तागा समेट लेती हैं'—'पुनः समव्यत् विततं वयंती'—इन शब्दों में गृत्समद ने बुननेवाली के जीवन-काव्य का वर्णन किया है।

गृत्समद के प्रयोग के फलस्वरूप कपास तो मिल गया, लेकिन, 'कपड़ा कैसे वनाया जाय' यह महान् प्रश्न खड़ा हुआ। ऊन कातने की जो लकड़ी की तकली होती थी, उसी पर सवने मिलकर कपास का सूत कात लिया। यद्यपि बुनाई स्त्रियों के ही सिपुर्द थी, तो भी कातने का काम तो स्त्री, पुरुष, वालक, वृद्ध सभी किया करते थे। सूत तो निकाला, लेकिन विल्कुल रद्दी। अव उसे कोई बुने भी कैसे ?

गृत्समद हिम्मत हारनेवाला व्यक्ति नहीं था। उसने खुद बुनना शुरू किया। बुनने की कला की सारी प्रक्रियाओं का सांगोपाग अभ्यास किया। सारा सूत दोप-सम्पन्न पाया। लेकिन उस में से जो थोड़ा पक्का था, उससे उसने 'तंतु' वनाया। 'तंतु' के माने वैदिक भाषा में धागा है। वाकी वचे हुए कच्चे सूत को 'ओतु' कहकर रख लिया। लेकिन मांडी लगाने में कटाकट-कटाकट तार टूटने लगे। गृत्समद गणितज्ञ होने के कारण टूटे हुए कितने तारों को जोड़ना पड़ा, इसका हिसाव भी करता था। पहली बार के मांडी लगाने में टूटे हुए तारों की संख्या चार अंकों की (हजार) की थी। बाद में तागा करघे पर चढ़ाया गया। हत्थे की पहली चोट के साथ चार-पांच तार टूटे। उन्हें जोड़कर फिर से ठोंका, फिर से टूटा। इसी तरह कितने ही

हफ्तों के बाद पहला थान बुना गया। उसके बाद सूत धीरे-धीरे सुधरता चला। लेकिन फिर भी शुरू के बारह वर्षों में बुनाई का काम बड़ा ही कष्ट-कर हो गया था। गृत्समद की आयु के ये बारह वर्ष यथार्थ तपश्चर्या के वर्ष थ। वह इतना उत्साही और तंतु-ब्रह्म, ओतु-ब्रह्म, ठोंक-ब्रह्म और टूट-ब्रह्म की ब्रह्ममय वृत्ति से बुनाई का काम करनेवाला होता हुआ भी, जब सूत लगा-तार टूटने लगता था तो वह भी कभी-कभी पस्त-हिम्मत हो जाता था। ऐसे ही एक अवसर पर उसने ईश्वर की प्रार्थना की थी, 'देवाः मातंतुश्छेदि वयतः'—बुनते वक्त तंतु टूटने न दे। लेकिन ऐसी गलत प्रार्थना करने के लिए वह तुरंत ही पछताता था। इसलिए उस प्रार्थना में "धियं मे' याने 'मेरा ध्यान' मैंने दो शब्द मिलाकर उसे संवार लिया। "जब मैं अपना ध्यान बुनता होऊं तो उसका तंतु टूटने न दे"—ऐसा उस संशोधित और परिवर्द्धित प्रार्थना में से सुशोभित अर्थ निकला। उसका यथार्थ इस प्रकार है—"मैं जो खादी बुना करता हूं, यह मेरी दृष्टि से केवल एक बाह्य क्रिया नहीं है। यह तो मेरी उपासना है। वह ध्यान योग है। बीच-बीच में धागों के टूटते रहने से मेरा ध्यान-योग भंग होने लगता है, इसका मुझे दुःख है। इसलिए यह इच्छा होती है कि धागे न टूटने चाहिए। लेकिन यह इच्छा उचित होते हुए भी, प्रार्थना का विषय नहीं हो सकती। उसके लिए सूत में उन्नति करनी चाहिए। और वह कर लूंगा। लेकिन जबतक सूत कच्चा रहेगा, तबतक वह टूटता तो रहेगा ही। इसलिए अब यही प्रार्थना है कि सूत के साथ-साथ मेरी अंतर्वृत्ति का, मेरे ध्यान का, धागा न टूटे।

गृत्समद अखंड अंतर्मुख वृत्ति रखने का प्रयत्न करता हुआ भी प्रतिदिन कोई-न-कोई शरीर-परिश्रमात्मक और उत्पादक कार्य करता ही रहता था। 'माहं अन्यकृतेव भोजम्'—'मैं दूसरों के परिश्रमों से भोग कदापि प्राप्त न करूं।'—यही उसका जीवन-सूत्र था। वह लोक-सेवा-परायण था। इस-लिए उसके योग-क्षेम की चिंता लोग किया करते थे। लेकिन वह अपने मन में सदा यही चिंतन किया करता था कि "लोगों से मैं जितना पाता हूं, क्या उसे शतगुणित करके उन्हें लौटाता हूं? और उसमें भी क्या नवीन उत्पा-दन का कोई अंश होता है?"

इसी चिंतन के फलस्वरूप ही मानो एक दिन उसे अचानक गुणाकार की कल्पना स्फुरित हुई। गणितशास्त्र को लोक-व्यवहार-सुलभ बनाने की दृष्टि से वह फुरसत के समय उसमें आविष्कार करता रहता था। उसके समय में षड्विधियों में से लोग सिर्फ जोड़ना और घटाना ही जानते थे। जिस दिन गृत्समद ने गुणन-विधि का आविष्कार किया, उस दिन उसके आनंद का पारावार ही नहीं रहा। उसने दो से लेकर नौ तक के पहाड़े बनाये और फिर तो वह बांसों उछलने लगा। पहाड़े रटनेवाले लड़कों को कहीं इस बात का पता लग जाय तो वे गृत्समद को बिना पत्थर मारे नहीं रहेंगे। लेकिन गृत्समद ने आनन्द के आवेश में आकर इंद्रदेव का आवाहन पहाड़ों से ही करना शुरू किया—"हे इंद्र ! तू दो घोड़ों के, आठ घोड़ों के और दस घोड़ों के रथ में बैठकर आ। जल्दी-से-जल्दी आ। इसके लिए तेरी मर्जी हो तो दो के पहाड़े के बदले दस के पहाड़े से काम ले। दस घोड़ों के, बीस घोड़ों के, तीस घोड़ों के और चालीस घोड़ों के,...और सौ घोड़ों के रथ में बैठकर आ।"

गृत्समद चौमुखा आविष्कारक था। पौराणिकों ने उसके इन महान् आविष्कार का लेखा किया है कि चंद्रमा का गर्भ की वृद्धि पर विशेष परिणाम होता है। वैदिक मंत्रों में भी इसकी ध्वनि पाई जाती है। चंद्रमा में मातृ-वृत्ति रम गई है और कलावान् तो वह है ही। इसलिए सूर्य की ज्ञानमय प्रखर किरणों को पचाकर और उन्हें भावनामय सौम्य रूप देकर रूप माता के हृदय में रहनेवाले कोमल गर्भ तक उस जीवनामृत को पहुंचाने का प्रेमपूर्ण और कुशल कार्य चंद्र कर सकता है और वह उसे निरंतर करता रहता है—यह गृत्समद का आविष्कार है।

: ३८ :

लोकमान्य के चरणों में

१९२० में तिलक शरीर-रूप से हमारे बीच नहीं रहे। उस समय मैं बंबई गया था। चार-पांच दिन पहले ही पहुंचा था; परंतु डाक्टर ने कहा, "अभी कोई डर नहीं है।" इसलिए मैं एक काम से साबरमती जाने को रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊंगा कि मुझे लोकमान्य की मृत्यु का समाचार मिला। मेरे अत्यंत निकट के आत्मीय, सहयोगी और मित्र की मृत्यु का जो प्रभाव हो सकता है, वही लोकमान्य के निधन का हुआ। मुझ पर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिन से जीवन में कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो कोई बहुत ही प्रेम करने-वाला कुटुंबी चल बसा हो। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। आज इतने बरस हो गये। आज फिर उनका स्मरण करना है। लोकमान्य के चरणों में अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि मैं अपनी गहरी श्रद्धा के कारण चढ़ा रहा हूं।

तिलक के विषय में जब कुछ कहने लगता हूं तो मुंह से शब्द निकालना कठिन हो जाता है। गद्‌गद् हो उठता हूं। साधु-संतों का नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है, वही इस नाम से भी होती है। मैं अपने चित्त का भाव ही प्रकट नहीं कर सकता। उत्कट भावना को शब्दों में व्यक्त करना कठिन होता है। गीता का भी नाम लेते ही मेरी ऐसी स्थिति हो जाती है, मानो स्फूर्ति का संचार हो जाता है। भावनाओं की प्रचंड बाढ़ आ जाती है। वृत्ति उमड़ने लगती है, परन्तु यह बड़प्पन मेरा नहीं है। बड़प्पन गीता का है। यही हाल तिलक के नाम का है। मैं तुलना नहीं करता; क्योंकि तुलना में सदा दोष आ जाते हैं; परंतु जिनके नाम के स्मरण में ऐसी स्फूर्ति देने की शक्ति है, उन्हींमें से तिलक भी हैं, मानो उनके स्मरण में ही शक्ति संचित है। राम नाम को ही देखिये। कितने जड़ जीवों का इस नाम के स्मरण से उद्धार हो गया, इसकी गिनती कौन करेगा? अनेक आंदोलन, अनेक ग्रंथ, इतिहास, पुराण—इनमें से किसी भी चीज का उतना प्रभाव न हुआ होगा जितना कि

राम नाम का हुआ है और हो रहा है। राष्ट्रों का उदय हुआ और अस्त हुआ। राज्यों का विकास हुआ और लय हुआ। किंतु राम नाम की सत्ता अबाधित रूप से विद्यमान है। तुलसीदासजी ने कहा है, "कहउं नाम वड़ राम तें।—हे राम, मुझे तुझ से तेरा नाम ही अधिक प्रिय है। तेरा रूप तो उस समय के अयोध्यावासियों ने और उस जमाने के नर-वानरों ने देखा। हमारे सामने तेरा रूप नहीं, लेकिन तेरा नाम है। जो महिमा तेरे नाम में है, वह तेरे रूप में नहीं। हे राम, तूने शवरी, जटायु आदि का उद्धार किया, लेकिन वे तो सुसेवक थे। इसमें तेरा बड़प्पन कुछ नहीं; परन्तु तेरे नाम ने अनेक खलजनों का उद्धार किया, यह वेद कहते हैं।"

"शबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल वेदबिदित गुनगाथ।"

तुलसीदासजी कहते हैं, राम की महिमा गानेवाले मूढ़ हैं। राम ने तो वड़े-वड़े सेवकों का उद्धार किया। परन्तु नाम ने ? नाम ने असंख्य जड़-मूढ़ों का उद्धार किया। शबरी तो असामान्य स्त्री थी। उसका वैराग्य और उसकी भक्ति कितनी महान् थी। वैसा ही वह जटायु था। इन श्रेष्ठ जीवों का, इन भक्त जनों का राम ने उद्धार किया। कौन वड़ी वात हुई ? परंतु राम नाम तो दुर्जनों को भी उवारता है। और दरअसल मुझे इसका अनुभव हो रहा है, मुझसे बड़ा खल दूसरा कौन हो सकता है। मेरे समान दुष्ट मैं ही हूं। मुझे इस विषय में दूसरों का मत जानने की जरूरत नहीं। नाम से उद्धार होता है। जिन्होंने पवित्र कर्म किये, अपना शरीर परमार्थ में खपाया, उनके नाम में ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

इसीमें मनुष्य की विशेषता है। आहार-विहारादि दूसरी वातों में मनुष्य और पशु समान ही हैं। परंतु जिस प्रकार मनुष्य पशु या पशु से भी नीच वन सकता है, उसी प्रकार पराक्रम से, पौरुष से, वह परमात्मा के निकट भी जा सकता है। मनुष्य में ये दोनों शक्तियां हैं। खूब मांस और अंडे वगैरा खाकर, दूसरे प्राणियों का भक्षण कर वह शेर के समान हृष्ट-पुष्ट भी वन सकता है, या दूसरों के लिए अपना शरीर भी फेंक सकता है। मनुष्य अपने लिए अनेकों का घात करके पशु वन सकता है, या अनेकों के लिए अपना बलिदान कर पवित्रनामा भी वन सकता है। पशु की शक्ति

मर्यादित है। उसकी बुराई की भी मर्यादा है। लेकिन मनुष्य के पतन की या ऊपर उठने की कोई सीमा नहीं है। वह पशु से भी नीचे गिर सकता है और इतना ऊपर चढ़ सकता है कि देवता ही बन जाता है। जो गिरता है, वही चढ़ भी सकता है। पशु अधिक गिर भी नहीं सकता, इसलिए चढ़ भी नहीं सकता। मनुष्य दोनों बातों में पराकाष्ठा कर सकता है। जिन लोगों ने अपना जीवन सारे संसार के लिए अर्पण कर दिया, उनके नाम में बहुत बड़ी पवित्रता आ जाती है। उनका नाम ही तारे के समान हमारे सम्मुख रहता है। हम नित्य तर्पण करते हुए कहते हैं, 'वसिष्ठं तर्पयामि', 'भारद्वाजं तर्पयामि', 'अत्रिं तर्पयामि', इन ऋषियों के बारे में हम क्या जानते हैं? क्या सात या आठसौ पन्नों में उनकी जीवनी लिख सकते हैं? शायद एकाध सफा भी नहीं लिख सकेंगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वसिष्ठ—यह नाम ही काफी है। यह नाम ही तारक है। और कुछ शेप रहे या न रहे, केवल नाम ही तारे के समान मार्गदर्शक होगा, प्रकाश देगा। मेरा विश्वास है कि सैकड़ों वर्षों के बाद तिलक का नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायगा। उनका जीवन-चरित्र आदि बहुत-सा नहीं रहेगा, किन्तु इतिहास के आकाश में उनका नाम तारे के समान चमकता रहेगा।

हमें महापुरुषों के चारित्र्य का अनुसरण करना चाहिए, न कि उनके चरित्र का। दरअसल महत्व चारित्र्य का है। शिवाजी महाराज ने सौ-दो-सौ किले बनवाकर स्वराज्य प्राप्त किया। इसलिए आज यह नहीं समझना चाहिए कि उसी तरह किले बनाने से स्वराज्य प्राप्त होगा। किंतु जिस वृत्ति से उन्होंने अपना जीवन बिताया और लड़ाई की, वह वृत्ति, वे गुण हमें चाहिए। जिस वृत्ति से शिवाजी ने काम किया, उस वृत्ति से हम आज भी स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए मैंने कहा है कि उस समय का रूप हमारे काम का नहीं है, उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नहीं, चारित्र्य उपयोगी है। कर्तव्य करते हुए उनकी जो वृत्ति थी, वह हमारे लिए आवश्यक है। उनके गुणों का स्मरण आवश्यक है। इसीलिए तो हिंदुओं ने चरित्र का बोझ छोड़कर नाम-स्मरण पर जोर दिया। इतने महान् व्यक्तियों का सारा चरित्र दिमाग में रखने की कोशिश करें तो उसी के मारे दम घुटने लगे। इसीलिए केवल गुणों का स्मरण करना है, चरित्र का अनुकरण नहीं।

एक कहानी मशहूर है। कुछ लड़कों ने 'साहसी यात्री' नाम की एक पुस्तक पढ़ी। फौरन यह तय किया गया कि जैसा उस पुस्तक में लिखा है, वैसा ही हम भी करें। उस पुस्तक में बीस-पच्चीस युवक थे। ये भी जहां तहां से बीस-पच्चीस इकट्ठे हुए। पुस्तक में लिखा था कि वे एक जंगल में गये। फिर क्या था, ये भी एक जंगल में पहुंचे। पुस्तक में लिखा था उन लड़कों को जंगल में एक शेर मिला। अब ये बेचारे शेर कहां से लायें ? आखिर, उनमें जो एक बुद्धिमान् लड़का था वह कहने लगा, "अरे भाई, हमने तो शुरू से आखिर तक गलती ही की। हम उन लड़कों की नकल उतारना चाहते हैं। लेकिन यहां तो सब कुछ उलटा ही हो रहा है। वे लड़के कोई पुस्तक पढ़कर थोड़े ही निकले थे मुसाफिरी करने ! हम से तो शुरू में ही गलती हुई।"

तात्पर्य यह कि हम चरित्र की सारी घटनाओं का अनुकरण नहीं कर सकते, चरित्र का तो विस्मरण होना चाहिए। केवल गुणों का स्मरण पर्याप्त है। इतिहास तो भूलने के लिए ही है और लोग उसे भूल भी जाते हैं। लड़कों के ध्यान में वह सब-का-सब रहता भी नहीं है। इसके लिए उन पर फिजूल मार भी पड़ती है। इतिहास से हमें सिर्फ गुण ही लेने चाहिए। जो गुण हैं, उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए, श्रद्धापूर्वक याद रखना चाहिए। पूर्वजों के गुणों का श्रद्धापूर्वक स्मरण ही श्राद्ध है। यह श्राद्ध पावन होता है। आज का श्राद्ध मुझे पावन प्रतीत होता है। उसी प्रकार आपको भी अवश्य होता होगा।

तिलक का पहला गुण कौन-सा था ? तिलक जातितः ब्राह्मण थे। लेकिन जो ब्राह्मण नहीं हैं, वे भी उनका गुण-स्मरण कर रहे हैं। तिलक महाराष्ट्र के मराठे थे। लेकिन पंजाब के पंजाबी और बंगाल के बंगाली भी उन्हें पूज्य मानते हैं। हिंदुस्तान तिलक का ब्राह्मणत्व और उनका मराठापन, सब कुछ भूल गया है। यह चमत्कार है। इसमें रहस्य है—दोहरा रहस्य है। इस चमत्कार में तिलक का गुण तो है ही, हमारे पूर्वजों की कमाई का भी गुण है। जनता का एक गुण और तिलक का एक गुण—दोनों के प्रभाव से यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारत में सभी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं। दोनों के गुण की ओर हमें ध्यान

देना चाहिए। इस अवसर पर मुझे अहल्या की कथा याद आ रही है। रामायण में मुझे अहल्या की कथा बहुत सुहाती है। राम का सारा चरित्र ही श्रेष्ठ है और उसमें यह कथा बहुत ही प्यारी है। आज भी यह बात नहीं कि हमारे अंदर राम (सत्व) न रहा हो। आज भी राम है। राम-जन्म हो चुका है, चाहे उसका किसी को पता हो या न हो। परंतु आज राष्ट्र में राम है, क्योंकि अन्यथा यह जो थोड़ा-बहुत तेज का संचार दीख पड़ता है, वह न दिखाई देता। गहराई से देखें तो आज राम का अवतार हो चुका है। वह जो राम-लीला हो रही है, इसमें कौनसा हिस्सा लूं, किस पात्र का अभिनय करूं, यह मैं सोचने लगता हूं। राम की इस लीला में मैं क्या बनूं? लक्ष्मण बनूं? नहीं, नहीं। उनकी वह जागृति, वह भक्ति कहां से लाऊं? तो क्या भरत बनूं? नहीं, भरत की कर्तव्य-दक्षता, उत्तरदायित्व का बोध, उनकी दयालुता और त्याग कहां से लाऊं? हनुमान का तो नाम भी मानो राम का हृदय ही है। तो फिर गांग में पुण्य नहीं है, इसलिए क्या रावण बनूं? ऊऽऽहूं। रावण भी नहीं बन सकता। रावण की उत्कटता, महत्वाकांक्षा मेरे पास कहां है? फिर मैं कौनसा स्वांग लूं? किस पात्र का अभिनय करूं? क्या कोई ऐसा पात्र नहीं है, जो मैं बन सकूं? जटायु, शबरी?—ये तो सुसेवक थे। अंत में मुझे अहल्या नजर आई। अहल्या तो पत्थर बनकर बैठी थी।

सोचा, मैं अहल्या का अभिनय करूं। जड़ पत्थर बनकर बैठूं। इतने में वह अहल्या बोल उठी, "सारी रामायण में सबसे तुच्छ जड़-मूढ़ पात्र क्या मैं ही ठहरी? अरे बुद्धिमान, क्या अहल्या का पात्र सबसे निकृष्ट है? मुझ में क्या कोई योग्यता ही नहीं? अरे, राम की यात्रा में तो अयोध्या से लेकर रामेश्वर तक हजारों पत्थर थे, उनका उद्धार क्यों नहीं हुआ? मैं कोई नालायक पत्थर नहीं हूं। मैं भी गुणी पत्थर हूं।" अहल्या की बात मुझे जंच गई। परंतु अहल्या के पत्थर में गुण थे, तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थर की नहीं। उसी प्रकार सारी महिमा राम के चरणों की भी नहीं। अहल्या के समान पत्थर और राम के चरणों-जैसे चरण, दोनों का संयोग चाहिए। न तो राम के चरणों से दूसरे पत्थर का ही उद्धार हुआ और न किसी दूसरे के चरणों से अहल्या का ही।

इसे मैं अहल्या-राम-न्याय कहता हूं। दोनों के मिलाप से काम होता है।

यही न्याय तिलक के दृष्टांत पर घटित होता है। तिलक का ब्राह्मणत्व, महाराष्ट्रीयत्व आदि सब भूलकर सारा हिंदुस्तान उनकी पुण्य-स्मृति मानता है। इस चमत्कार में तिलक के गुण और जनता के गुण, दोनों का स्थान है। इस चमत्कार के दोनों कारण हैं। कुछ गुण तिलक का है और कुछ उन्हें माननेवाली साधारण जनता का। हम उन गुणों का जरा पृथक्करण करें।

तिलक का गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया, उसमें सारे भारतवर्ष का विचार किया। तिलक के फूल बंबई में गिरे, इसलिए वहां उनके स्मारक मंदिर होंगे। उन्होंने मराठी में लिखा, इसलिए मराठी भाषा में उनके स्मारक होंगे। लेकिन तिलक ने जहां कहीं जो कुछ किया—चाहे जिस भाषा में क्यों न किया हो, वह सब भारतवर्ष के लिए किया। उन्हें यह अभिमान नहीं था कि मैं ब्राह्मण हूं। मैं महाराष्ट्र का हूं। उनमें पृथक्ता की, भेद की, भावना नहीं थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्ष का विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियों ने सारे भारतवर्ष का विचार किया, तिलक उनमें से एक थे। और दूसरे जो मेरी दृष्टि के सामने आते हैं, वह थे महर्षि न्यायमूर्त्ति रानाडे। तिलक ने महाराष्ट्र को अपनी जेब में रखा और सारे हिंदुस्तान के लिए लड़ते रहे। "हिंदुस्तान के हित में मेरे महाराष्ट्र का भी हित है, इसीलिए पूने का हित है, पूने में रहने वाले मेरे परिवार का हित है और परिवार में रहनेवाले मेरा भी हित है। हिंदुस्तान के हित का विचार करने से उसीमें महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मैं, सबके हित का विचार आ जाता है।" यह तत्त्व उन्होंने जान लिया था, और उसीके अनुसार उन्होंने का काम किया। ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है, उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थान में करनी पड़ेगी। लेकिन उस मर्यादित स्थान में रहकर की जानेवाली सेवा के पीछे जो वृत्ति रहेगी, वह विशाल, व्यापक और अमर्यादित्त होनी चाहिए।

शालग्राम मर्यादित हैं। लेकिन उसमें मैं जिस भगवान् के दर्शन करता हूं, वह सर्वब्रह्मांडव्यापी, चर-अचर, जड़-चेतन सबमें निवास करनेवाला ही है। तभी तो वह वास्तविक पूजा हो सकती है। 'जलेस्थले तथा काष्ठे विष्णुः पर्वतमूर्धनि।' उस त्रिभुवन व्यापक विष्णु को यदि वह पुजारी

शालग्राम में न देखेगा तो उसकी पूजा निरा पागलपन होगी। सेवा करने में भी खूबी है, रहस्य है। अपने गांव में रहकर भी मैं विश्वेश्वर की सेवा कर सकता हूं। दूसरे को न लूटते हुए जो सेवा की जाती है, वह अनमोल हो सकती है, होती भी है।

तुकाराम ने अपना देहू नामक गांव नहीं छोड़ा। रामदास दस गांवों में विचरे और सेवा करते रहे। फिर भी दोनों की सेवा का फल एक है, अनंत है। यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्म से भी अपार मूल्य मिलता है। सुदामा मुट्ठीभर ही तंदुल लेकर गये थे, लेकिन उन तंदुलों में प्रचंड शक्ति थी। सुदामा की बुद्धि व्यापक थी। बहुत बड़ा कर्म करने पर भी कुछ अभागों को बहुत थोड़ा फल मिलता है। लेकिन सुदामा छोटे-से कर्म से बहुत बड़ा फल प्राप्त कर सके। जिसकी बुद्धि शुद्ध, निष्पाप, पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्तिमय और प्रेममय है, वह छोटी-सी भी क्रिया करे तो भी उसका फल महान् होता है, मूल्य बहुत बड़ा होता है। यह एक महान् आध्यात्मिक सिद्धांत है। मां का पत्र दो ही शब्दों का क्यों न हो, विलक्षण प्रभाव डालता है। वह प्रेम की स्याही से पवित्रता के स्वच्छ कागज पर लिखा होता है। दूसरा कोई पोथा कितने ही सफेद कागज पर क्यों न लिखा हुआ हो, यदि उसके मूल में शुद्ध बुद्धि न हो, निर्मल बुद्धि न हो, जो कुछ लिख गया है, वह प्रेम में ढला हुआ न हो तो सारा पोथा बेकार है।

परमात्मा के यहां 'कितनी सेवा', यह पूछ नहीं है, 'कैसी सेवा', यह पूछ है। तिलक अत्यंत बुद्धिमान, विद्वान, नाना शास्त्रों के पंडित थे, इसलिए उनकी सेवा अनेकांगी और बहुत बड़ी है। परंतु तिलक ने कितनी कीमती सेवा की, उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती भी कर सकता है। तिलक की सेवा विपुल और बहुअंगी थी; तो भी उसका मूल्य और एक स्वच्छ सेवक की सेवा का मूल्य बराबर हो सकता है। एक गाड़ी भर ज्वार रास्ते से जा रही हो, लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी-सी जेब में रख सकता हूं। दस हजार का नोट अपनी जेब में रख सकता हूं। उस पर सरकारी मुहरभर लगी हो। आपकी सेवा पर व्यापकता की मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे, पर व्यापक दृष्टि और वृत्ति से न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टि से की हुई छोटी-सी सेवा की अपेक्षा कम ही मानी जायगी।

व्यापक वृत्ति से की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सब कोई सेवा कर सकें, इसीलिए परमात्मा की यह योजना है। चाहे जहां चाहे जो कुछ भी कीजिये, पर संकुचित दृष्टि से न कीजिये। उसमें व्यापकता भर दीजिये। यह व्यापकता आज के कार्यकर्त्ताओं में कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्त्ता आज संकुचित दृष्टि से काम करते हुए देख पड़ते हैं।

तिलक की दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्य में मिठास और आनंद है। हिंदुस्तान के ही नहीं, बल्कि संसार के किसी भी समाज के वास्तविक हित का विरोध न करते हुए चाहे जहां सेवा कीजिये। चाहे वह एक गांव की ही सेवा क्यों न हो, वह अनमोल है, परंतु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइये। फिर देखिये, आपके कर्मों में कैसी स्फूर्ति का संचार होता है। कैसी बिजली का संचार होता हैं। तिलक में यही व्यापकता थी। मैं भारतीय हूं, यह शुरू से ही उनकी वृत्ति रही। बंगाल में आंदोलन शुरू हुआ। उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की। बंगाल का साथ देने के लिए महाराष्ट्र को खड़ा किया। स्वदेशी डंका बजवाया। "जब बंगाल लड़ाई के मैदान में खड़ा है तो हमें भी जाना ही चाहिए। जो बंगाल का दुःख है, वह महाराष्ट्र का भी दुःख है।" ऐसी व्यापकता, सार्वराष्ट्रीयता तिलक में थी। इसीलिए पूने के निवासी हो कर भी वह हिंदुस्तान के प्राण बन गये। सारे देश के प्रिय बने। तिलक सारे भारतवर्ष के लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सार्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था। वह था जनता की विशेषता। जनता का यह गुण कार्यकर्त्ताओं में भी है, क्योंकि वे भी तो जनता के ही हैं। लेकिन उनको खुद इस बात का पता नहीं है। तिलक के गुण के साथ जनता के गुण का स्मरण भी करना चाहिए, क्योंकि तिलक अपने-आपको जनता के चरणों की धूल समझते थे। जनता के दोष, जनता की दुर्बलता, त्रुटियां, सबकुछ वे अपनी ही समझते थे। वे जनता से एक रूप हो गये थे, इसलिए जनता के गुणों का स्मरण तिलक के गुणों का स्मरण ही है।

यह जो जनता का गुण है, वह हमारा कमाया हुआ नहीं है। हमारे महान् पुण्यवान्, विशाल दृष्टिवाले पूर्वजों की यह देन है। यह गुण मानों

हमने अपनी मां के दूध के साथ ही पिया हैं। उन श्रेष्ठ पूर्वजों ने हमें यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रांत का, किस जाति का है, यह देखने के वदले इतना ही देखो कि वह भला है या नहीं, वह भारतीय है या नहीं। उन्होंने हमें यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते हैं कि अंग्रेजों ने यहां आकर हमें देशाभिमान सिखलाया, तव कहीं हम राष्ट्रीयता से परिचित हुए। पर यह गलत है। एक राष्ट्रीयता की भावना अगर हमें किसी ने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान पूर्वजों ने। उन्हींकी कृपासे यह अनूठी देन हमें प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रर्षि ने हमें यह सिखावन दी है कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। 'दुर्लभं वंगेषु जन्म', 'दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म', ऐसा उन्होंने नहीं कहा। ऋषि ने तो यही कहा कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। काशी में गंगातट पर रहने वालेको किस वात की तड़प होती है। वह इसके लिए तड़पता है कि काशी की गंगा की वहंगी या कांवर भरकर कव रामेश्वर को चढ़ाऊं? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकान का आंगन और पिछवाड़ा हो। वास्तव में तो काशी और रामेश्वर में पन्द्रहसौ मील का फासला है, परंतु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियों ने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आंगन पन्द्रहसौ मील का है। रामेश्वर में रहनेवाला इसलिए तड़फता है कि रामेश्वर के समुद्र का जल काशी-विश्वेश्वर के मस्तक पर चढ़ाऊं। वह रामेश्वर का समुद्र-जल काशी तक ले जायगा। कावेरी और गोदावरी के जल में नहानेवाला भी 'जय गंगे', 'हरगंगे' ही कहेगा। गंगा सिर्फ काशी में ही नहीं, यहां पर भी है। जिस वर्तन में हम नहाने के लिए पानी लेते हैं, उसे भी गंगाजल (गंगालय) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह। यह भारतीय भावना है।

यह भावना आध्यात्मिक नहीं, किंतु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभं भारते जन्म' नहीं कहेगा, वह और ही कहेगा। जैसा कि तुकाराम ने कहा, 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रया मध्ये वास।' (स्वदेशो भुवनत्रयम्) उन्होंने आत्मा की मर्यादा को व्यापक बना दिया। सारे दरवाजों, सारे किलों को तोड़कर आत्मा को प्राप्त किया। तुकाराम के समान महापुरुषों ने, जो आध्यात्मिक रंग में रंगे हुए थे, अपनी आत्मा को स्वतंत्र संचार करने

दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस भावना से प्रेरित होकर, सारे भेद-भावों को पार कर जो सर्वत्र चिन्मयता के दर्शन कर सकें, वे धन्य हैं। लोग भी समझ गये कि ये सारे विश्व के हैं, इनकी कोई सीमा नहीं है। परंतु 'दुर्लभं भारते जन्म' की जो कल्पना ऋषियों ने की, वह आध्यात्मिक नहीं, राष्ट्रीय है।

वाल्मीकि ने अपनी रामायण के प्रारंभिक श्लोकों में राम के गुणों का वर्णन किया है। राम का गुणगान करते हुए राम कैसे थे, इसका वह यों वर्णन करते हैं कि 'समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव'—"स्थिरता ऊपर वाले हिमालय-जैसी और गांभीर्य पैरों के निकट वाले समुद्र जैसा।" देखिये, कैसी विशाल उपमा है। एक सांस में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के दर्शन कराये। पांच मील ऊंचा पर्वत और पांच मील गहरा सागर एक दम दिखाये। तभी तो यह रामायण राष्ट्रीय हुई। वाल्मीकि के रोम-रोम में राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था, इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। उनकी रामायण संस्कृत में है तो भी सवको आदरणीय है। वह जितनी महाराष्ट्र में प्रिय है, उतनी मद्रास की तरफ केरल में भी है। श्लोक के एक ही चरण में उत्तर भारत और दक्षिण का समावेश कर दिया। विशाल और भव्य उपमा है।

हमसे कोई पूछे कि तुम कितने हो तो हम तुरंत बोल उठेंगे, हम चालीस करोड़ बहन-भाई हैं। अंग्रेज से पूछो, तो वह चार करोड़ बतलायेगा। फ्रांसीसी सात करोड़ बतलायेगा। जर्मन छः करोड़ बतलायेगा। बेलजियन साठ लाख बतलायेगा। यूनानी आध करोड़ बतलायेगा। और हम चा-ली-स करोड़! ऐसा फर्क क्यों हुआ? हमने इन चालीस करोड़ को एक माना। उन्होंने नहीं माना। सच पूछो तो जर्मनों की भाषा और फ्रांसीसियों की भाषा अधिक विसदृश नहीं है, जसी मराठी और गुजराती। यूरोप की भाषाएं लगभग एक-सी हैं। उनका धर्म भी समान है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार भी होता है। लेकिन फिर भी उन्होंने यूरोप के अलग-अलग टुकड़े कर डाले! हिंदुस्तान के प्रांतों ने अपने को अलग-अलग नहीं माना। यूरोप के लोगों ने ऐसा मान लिया। हिंदुस्तान भी तो रूस को छोड़ बाकी के सारे यूरोप के बराबर एक खंड (महाद्वीप) ही है। लेकिन

हमने भारत को एक खंड, यानी, देशों का समुदाय न मान कर भारतवर्ष के नाम से सारा एक ही देश माना, एक राष्ट्र माना।

उन अभागे यूरोपवासियों ने सारा यूरोप एक नहीं माना। उन्होंने यूरोप को एक खंड (महाद्वीप) माना। उसके छोटे-छोटे टुकड़े किये। एक-एक टुकड़े को अपना मान लिया और एक-दूसरे से घनघोर युद्ध किये। पिछले महासमर को ही ले लीजिये। लाखों लोग मरे। वे एक-दूसरे से लड़े, मगर आपस में नहीं लड़े। यह कसूर उन्होंने नहीं किया। लेकिन हमने भारत को एक राष्ट्र मान लिया और हम आपस में लड़े।

अंग्रेज या यूरोपीय इतिहासकार हम से कहा करते हैं कि "तुम आपस में लड़ते रहे, अंतस्थ कलह करते रहे। आपस में लड़ना बुरा है, यह तो मैं भी मानता हूं। लेकिन यह दोष स्वीकार करते हुए भी मुझे इस आरोप पर अभिमान है। हम लड़े, लेकिन आपस में। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक हैं, यह बात इन इतिहासकारों को भी मंजूर है। उनके आक्षेप में ही यह स्वीकृति आ गई है। कहा जाता है कि यूरोपीय राष्ट्र एक-दूसरे से लड़े, लेकिन अपने ही देश में आपस में नहीं। लेकिन इसमें कौन-सी बड़ाई है। एक छोटे-से मानव-समुदाय को अपना राष्ट्र कहकर यह शेखी बघारना कि हमारे अंदर एकता है, आपस में फूट नहीं है, कौन-सी बहादुरी है ? मान लीजिये कि मैंने अपने राष्ट्र की 'मेरा राष्ट्र यानी मेरा शरीर' इतनी संकुचित व्याख्या कर ली, तो आपस में कभी युद्ध ही न होगा। हां, मैं ही अपने मुंह पर चट से एक थप्पड़ जड़ दूं तो अलबत्ता लड़ाई होगी। परंतु 'मैं ही मेरा राष्ट्र हूं' ऐसी व्याख्या करके मैं अपने भाई से, मां से, किसी से भी लड़ूं, तो यह भी आपस की लड़ाई नहीं होगी, क्योंकि मैंने तो अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर को ही अपना राष्ट्र मान लिया है। सारांश, हम आपस में लड़े, यह अभियोग सही है, परंतु वह अभिमानास्पद भी है, क्योंकि इस अभियोग में ही अभियोग लगानेवाले ने यह मान लिया है कि हम एक हैं, हमारा एक ही राष्ट्र है। यूरोप के अभागों ने इस कल्पना का विनाश किया। हमें उस की शिक्षा दी गई है। इतना ही नहीं, वह हमारी रग-रग में पैठ गई है। हम पुराने जमाने में आपस में लड़े, तो भी यह एक राष्ट्रीयता की भावना आज भी विद्यमान है। महाराष्ट्र ने पंजाब पर, गुजरात और बंगाल पर चढ़ाइयां

कीं, फिर भी यह एक राष्ट्रीयता की, आत्मीयता की भावना नष्ट नहीं हुई।

जनता के इस गुण की बदौलत तिलक सब प्रांतों में प्रिय और पूज्य हुए। तिलक-गांधी तो अलौकिक पुरुष हैं। सब प्रांत उन्हें पूजेंगे ही। परंतु राजगोपालाचार्य, जमनालालजी आदि तो साधारण मनुष्य हैं। लेकिन उनकी भी सारे प्रांतों में प्रतिष्ठा है। पंजाब, महाराष्ट्र, कर्नाटक उनका आदर करते हैं। हमें उसका पता भले ही न हो, लेकिन एक राष्ट्रीयता का यह महान् गुण हमारे खून में ही घुल-मिल गया है। हमारे यहां एक प्रांत का नेता दूसरे प्रांत में जाता है, लोगों के सामने अपने विचार रखता है। क्या यूरोप में यह कभी हो सकता है ? ज़रा जाने दीजिये मुसोलिनी को रूस में फासिज्म पर व्याख्यान देने। लोग उसे पत्थर मार-मारकर कुचल डालेंगे या फांसी पर लटका देंगे। हिटलर और मुसोलिनी जब मिलते हैं तो कैसा जबरदस्त बन्दोबस्त किया जाता है, कैसी चुपचाप गुप्त रूप से मुलाकात होती है। मानों दो खूनी आदमी किसी साजिश के लिए एक-दूसरे से मिल रहे हैं ! किले, परकोटे, दीवारें सब तरफ खड़ी करके सारे यूरोप में द्वेष और मत्सर फैला दिया है इन लोगोंने। पर हिंदुस्तान में ऐसी बात नहीं है। तिलक-गांधी को छोड़ दीजिये। ये लोकोत्तर पुरुष हैं। किंतु दूसरे साधारण लोगों का भी सर्वत्र आदर होता है। लोग उनकी बातें ध्यान से सुनते हैं। ऐसी राष्ट्रीय भावना ऋषियों ने हमें सिखाई है। समाज और जनता में सर्वत्र इसका असर मौजूद है। अज्ञात रूप से वह हमारी नस-नस में विद्यमान है।

हमें इस गुण का पता नहीं था। आइये, अब ज्ञानपूर्वक हम उससे परिचय कर लें। आज तिलक का स्मरण सर्वत्र किया जायगा। उनके ब्राह्मण होते हुए भी, महाराष्ट्रीय होते हुए भी, सब जनता सर्वत्र उनकी पूजा करेगी, क्योंकि तिलक की दृष्टि व्यापक थी। वह सारे भारतवर्ष का विचार करते थे। वह सारे हिंदुस्तान से एक रूप हो गये थे। यही तिलक की विशेषता है। भारत की जनता भी प्रांताभिमान आदि का खयाल न करती हुई गुणों को पहचानती है। यह भारतीय जनता का गुण है। इन दोनों के गुणों का यह चमत्कार है कि तिलक का सर्वत्र सब लोग स्मरण कर रहे हैं। जैसे एक ही आम की गुठली से पेड़, शाखा और आम पैदा होते हैं, उसी प्रकार एक ही

भारतमाता के वाह्यतः जुदा-जुदा पुत्र दिखाई देते हैं—कोई क्रोधी, कोई स्नेही। फिर भी मीठे और मुलायम आम जिस गुठली से पैदा होते हैं, उसी से पेड़ का कठिन धड़ भी पैदा होता है। इसी तरह से हम ऊपर से कितने ही भिन्न क्यों न दिखाई दें तो भी हम एक ही भारतमाता की सन्तान हैं, यह कदापि न भूलना चाहिए। इसे ध्यान में रखकर प्रेम-भाव बढ़ाते हुए सेवकों को सेवा के लिए तैयार करना चाहिए। तिलक ने ऐसी ही सेवा की। आशा है, आप भी करेंगे।

: ३६ :

भूदान-यज्ञ और उसकी भूमिका

हमारा यह मानव-समाज हजारों वर्षों से इस पृथ्वी पर जीवन विता रहा है। पृथ्वी इतनी विशाल है कि पुराने जमाने में इधर के मानव की उधर के मानव से कोई पहचान नहीं रहती थी। हरेक को शायद इतना ही लगता था कि अपनी जितनी जमात है, उतनी ही मानव-जाति है। पृथ्वी के उधर क्या होता होगा, इसका भान भी शायद उन्हें नहीं था। लेकिन जैसे-जैसे विज्ञान का प्रकाश फैलता गया, मनुष्य का सम्पर्क सृष्टि के साथ बढ़ता गया और मानसिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सभी दृष्टियों से मानवों का आपसी सम्पर्क भी बढ़ता गया। जब कभी दो राष्ट्रों का या दो जातियों का सम्पर्क हुआ तो हर बार वह मीठा ही साबित हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। कभी वह मीठा होता था, कभी कड़ुआ; लेकिन कुछ मिलाकर उसका फल मीठा ही रहा। इस बात की मिसाल दुनिया भर में मिल सकती है। लेकिन सारी दुनिया की मिसाल हम छोड़ भी दें और केवल भारत का ही खयाल करें तो मालूम होगा कि बहुत प्राचीन जमाने में यहां जो आर्य लोग रहते थे, उनकी संस्कृति हिन्दुस्तान की पहाड़ी संस्कृति थी और दक्षिण में जो द्रविड़ लोग रहते थे, उनकी संस्कृति समुद्र की संस्कृति थी। इस तरह द्रविड़ और आर्यों की संस्कृति के मिश्रण से एक नई संस्कृति वनी। पहले ये दोनों संस्कृतियां,

उत्तर और दक्षिण की, अलग-अलग रहीं। हजारों वर्षों तक इन लोगों में आपस में कोई सम्बन्ध नहीं था, क्योंकि बीच में एक बड़ा भारी दंडकारण्य पड़ा था। लेकिन फिर दो जमातों का सम्बन्ध हुआ। उनमें से कुछ मीठे और कुछ कड़वे अनुभव आये और उसका नतीजा आज का भारतवर्ष है। द्रविड़ लोग वहां के बहुत प्राचीन लोग थे। द्रविड़ों और आर्यों, इन दोनों की संस्कृति के संगम का लाभ हिन्दुस्तान को मिला और उससे एक ऐसा मिश्र राष्ट्र बना, जिसमें उत्तर और दक्षिण के अच्छे अंश एक साथ अनजाने मिल गये, उत्तर और दक्षिण एक हो गये। उत्तर के लोग ज्ञान-प्रधान थे तो दक्षिण के लोग भक्ति-प्रधान थे। इस तरह ज्ञान और भक्ति का संगम हो गया; लेकिन इसके बाद यहां जो मिश्र समाज बना, उसकी व्यापकता भी एकांगी साबित हुई।

लेकिन बाहर से मुसलमान लोग यहां आये और अपने साथ एक नई संस्कृति ले आये। उनकी नई संस्कृति के साथ यहां की संस्कृति की टक्कर हुई। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के विकास के लिए दो मार्ग अपनाये, ऐसा दीखता है। एक हिंसा का और दूसरा प्रेम का। ये दो मार्ग दो धाराओं की तरह एक साथ चले। हिंसा के साथ हम गजनी, औरंगजेब आदि का नाम ले सकते हैं। तो दूसरी तरफ प्रेम-मार्ग के लिए अकबर और कबीर का नाम ले सकते हैं। हमारे यहां जो कमी थी, वह इस्लाम ने पूरी की। इस्लाम सबको समान मानता था। यद्यपि उपनिषद् आदि में यह विचार मिलता है; लेकिन हमारी सामाजिक व्यवस्था में इस समानता की अनुभूति नहीं मिलती थी। हमने उसपर अमल नहीं किया था। व्यावहारिक समानता का विचार इस्लाम के साथ आया। इस्लाम के आगमन के समय यहां अनेक जातियां थीं। एक जाति दूसरी जाति के साथ न शादी-ब्याह करती थी, न रोटी-पानी। इस तरह जहां देखो, वहां चौखटें बनी हुई थीं; लेकिन धीरे-धीरे दो संस्कृतियां नजदीक आईं। दोनों के गुणों का लाभ देश को मिला। इस सिलसिले में जो लड़ाई-झगड़े हुए और जो संघर्ष हुआ, उसका इतिहास हम जानते ही हैं। जो लोग यहां आये, उन्होंने तलवार से हिन्दुस्तान जीता या हिन्दुस्तान के लोग लड़ाई में हार गये, यह कोई नहीं कह सकता; बल्कि लड़ाइयां हुईं, उसके पहले ही फकीर लोग यहां आये। वे गांव-गांव घूमे

और उन्होंने इस्लाम का संदेश पहुंचाया। यहां के लिए वह चीज एकदम आकर्षक थी।

बीच के जमाने में हिंदुस्तान में बहुत-से भक्त हुए, जिन्होंने जाति-भेद के खिलाफ प्रचार किया और एक ही परमेश्वर की उपासना पर जोर दिया। इसमें इस्लाम का बहुत बड़ा हिस्सा था। हिंदुस्तान को इस्लाम की यह बड़ी देन है। इस तरह पहले ही जो संस्कृति द्रविड़ और आर्यों की अच्छाइयों के मिश्रण से बनी थी, उसमें वह नया रसायन दाखिल हुआ।

इसके बाद कुल तीन सौ साल पहले की बात है। यूरोप के लोगों को मालूम हुआ कि हिंदुस्तान बड़ा संपन्न देश है और वहां पहुंचने से लाभ हो सकता है। इसी समय यूरोप में विज्ञान की प्रगति हुई। वे लोग हिंदुस्तान आ पहुंचे। हिंदुस्तान में अभी तक जो प्रगति हुई थी, उसमें विज्ञान की कमी थी। यह नही कि विज्ञान यहां था ही नहीं। यहां वैद्यक-शास्त्र मौजूद था, पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र मौजूद था, लोगों को रसायन-शास्त्र का ज्ञान था। अच्छे मकान, अच्छे रास्ते, अच्छे मदरसे यहां बनते थे—यानी शिल्प-विज्ञान भी था। अर्थात् हिंदुस्तान एक ऐसा प्रगतिशील देश था, जहां उस जमाने में अधिक-से-अधिक विज्ञान मौजूद था। लेकिन बीच के जमाने में यहां विज्ञान की प्रगति कम हुई। उसी जमाने में यूरोप में विज्ञान का आविष्कार हुआ और पाश्चात्य लोग यहां आ पहुंचे। अब उनके और हमारे बीच संघर्ष शुरू हुआ। उनके साथ हमारा संबंध कड़वा और मीठा दोनों प्रकार का रहा तथा अब इस मिश्रण से एक और नई संस्कृति बनी। कुछ मिश्रण तो पहले ही हो चुका था। फिर जो-जो प्रयोग यूरोपवालों ने अपने देश में किये, उनके फलस्वरूप न सिर्फ भौतिक जीवन में, बल्कि समाजशास्त्र आदि में भी परिवर्तन हुए और जैसे-जैसे अंग्रेज, फ्रेंच, जर्मन, रशियन आदि विचारों से परिचय होने लगा, वैसे-वैसे वहां के नव-विचारों का संबंध भी बढ़ने लगा। आज हम जहां जाते हैं, वहां सोशलिज्म (समाजवाद), कम्युनिज्म (साम्यवाद) आदि पर विचार सुनते हैं। ये सारे विचार पश्चिम से आये हैं। अब इन सब विचारों में झगड़ा शुरू हुआ है। उससे कचरा-कचरा निकल जायगा। हमारी संस्कृति कुछ खोयेगी नहीं; बल्कि कुछ पायेगी ही। यही देखो न ! हिंदुस्तान में—बावजूद इसके कि पश्चिम के विचारों का प्रवाह

निरंतर यहां आता रहा—पहले के जमाने में जितने आध्यात्मिक विचार-वाले महापुरुष पैदा हुए, उनसे कम इस जमाने में नहीं हुए। यहां नाम गिनने में तो समय जायगा। अब इस समय भी संघर्ष हो रहा है, टक्कर हो रही है, मिश्रण हो रहा है। यह जो बीच की अवस्था है, उसमें कई प्रकार के परिणाम होते हैं।

यह तो मैंने प्रस्ताव के तौर पर अपने कुछ विचार रखे, ताकि हिंदुस्तान की हालत आप लोग अच्छी तरह समझ सकें।

गांधीजी के जाने के बाद जब मैं सोचता रहा कि अब मुझे क्या करना चाहिए तो मैं निर्वासितों के काम में लग गया। परंतु यहां के कम्युनिष्टों के प्रश्न के बारे में मैं बराबर सोचता रहा। यहां की खून आदि की घटनाओं के बारे में मुझे जानकारी मिलती रहती थी, फिर भी मेरे मन में कभी घबराहट नहीं हुई; क्योंकि मानव-जीवन के विकास का कुछ दर्शन मुझे हुआ है। इस-लिए मैं कह सकता हूं कि जब-जब मानव-जीवन में नई संस्कृति का निर्माण हुआ है, वहां कुछ संघर्ष भी हुआ है, रक्त की धारा भी बही है। इस-लिए हमें बिना घबराये शांति से सोचना चाहिए और शांतिमय उपाय ढूंढ़ना चाहिए।

मुझे सूझा कि इस मुल्क में घूमना चाहिए। लेकिन घूमना हो तो कैसे घूमा जाय ? मोटर आदि साधन विचार-शोधक नहीं हैं। वे समय-साधक हैं, फासला काट सकते हैं। जहां विचार ढूंढ़ना है, वहां शांति का साधन चाहिए। पुराने जमाने में तो ऊंट, घोड़े आदि थे। लोग उनका उपयोग भी करते थे और रातभर में दो सौ मील तक जाते थे। परंतु शंकराचार्य, महा-वीर, बुद्ध, कबीर, चैतन्य, नामदेव-जैसे लोग हिंदुस्तान में घूमे और पैदल ही घूमे। वे चाहते तो घोड़े पर भी घूम सकते थे; परंतु उन्होंने त्वरित साधन का सहारा नहीं लिया; क्योंकि वे विचार का शोधन करना चाहते थे और विचार-शोधन के लिए सबसे उत्तम साधन पैदल घूमना ही है। इस जमाने में वह साधन एकदम सूझता नहीं; परंतु शांतिपूर्वक विचार करें तो सूझेगा कि पैदल चले बिना चारा नहीं है।

इस तरह मैं वर्धा से शिवरामपल्ली आया और वहां से यहां तक अब, कोई छः हफ्ते होते हैं। इस बीच मैंने हर गांव का अधिक-से-अधिक परिचय

प्राप्त किया। कम्युनिस्टों के काम के पीछे जो विचार है, उसका सारभूत अंश हमें ग्रहण करना होगा, उस पर अमल करना होगा। यह अमल कैसे किया जाय, इस बारे में मैं सोचता था तो मुझे कुछ सूझ गया। ब्राह्मण मैं था ही, वामनावतार मैंने ले लिया और भूमिदान मांगना शुरू कर दिया।

पहले-पहल लगता था कि इसका परिणाम वातावरण पर क्या होगा? थोड़े-से अमृत विंदुओं से सारा समुद्र मीठा कैसे होगा? पर धीरे-धीरे विचार बढ़ता गया। परमेश्वर ने मेरे शब्दों में कुछ शक्ति भर दी। लोग समझ गये कि यह जो काम चल रहा है, क्रांति का है और सरकार की शक्ति के परे है; क्योंकि यह काम तो जीवन बदलने का काम है। अब लोग दान देने लगे। एक जगह हरिजनों ने अस्सी एकड़ मांगे और एक भाई ने सौ एकड़ दे दिये। इस तरह लोग मुझे देने लगे। यद्यपि लोगों ने मुझे काफी दिया, तो भी मेरा काम इतने से पूरा नहीं होता।

जब विचार फैलेगा तब काम होगा। मैं चाहता हूं कि दरिद्रनारायण को, जो भूखा है और अब जाग गया है, आप अपने कुटुंब का एक हिस्सा समझ लें और आपके परिवार में चार लड़के हैं तो उसे पांचवां मान लें। एक भाई के पास पांच एकड़ जमीन थी। उस भाई से मैंने जमीन मांगी तो उसने मुझसे कहा कि मेरे घर में आठ लड़के हैं। मैंने पूछा कि अगर नौवां आया तो उसे भी सहोगे या नहीं? उसने कहा, "हां।" मैंने कहा, "यही समझो कि मैं नौवां हूं और मुझे भी कुछ दे दो।" समझ लीजिये कि दस हजार एकड़ वाला सौ एकड़ देता है आंकड़ा दीखने को बहुत बड़ा दीखता है, पर दाता और दरिद्रनारायण दोनों के हिसाब से वह कम है। इस आंकड़े से मैं तो संतुष्ट हो जाऊंगा; परंतु देने वालों को नहीं होना चाहिए। अगर ऐसा होता कि यहां कोई भूख की या चंद लोगों के संकटनिवारण की समस्या होती और मैं दान मांगता तो थोड़ा-थोड़ा देने से भी काम चल जाता; परंतु यहां तो एक राजकीय समस्या हल करनी है, एक सामाजिक समस्या सुलझानी है, जो समस्या न सिर्फ इन दो जिलों की है, न सिर्फ हिंदुस्तान की है, बल्कि पूरी दुनिया की है। और जहां ऐसी राजनीतिक व सामाजिक क्रांति करने की बात है, वहां तो मनोवृत्ति ही बदल देने की जरूरत होती है। अगर कोई छोटा-सा संकल्प होता तो अल्प दान से काम चल जाता; परंतु यहां दस हजार

एकड़ जमीन रखने वाले यदि सौ एकड़ देने लगेंगे तो काम नहीं चलेगा। उन्हें तो दरिद्रनारायण को अपने परिवार का एक हिस्सा समझकर दान देना चाहिए। मैं तो गरीव और श्रीमान सवका मित्र हूं। मुझे तो मैत्री में ही आनंद आता है। जो शक्ति मैत्री में है वह द्वेष में नहीं है। अनेक राजाओं ने लड़ाइयां लड़कर जो क्रांति नहीं की, वह बुद्ध, ईसा, रामानुज आदि ने की। इनमें से एक-एक आदमी ने जो काम किया, वह अनेक राजाओं ने मिलकर नहीं किया, अर्थात् प्रेम और विचार की तुलना में दूसरी कोई शक्ति नहीं है। इस वास्ते वार-वार समझाने का काम पड़े तो भी मैं तैयार हूं। दो दफा समझाने से कोई न समझ सका तो तीन दफा समझाऊंगा। तीन दफा समझाने से यदि नहीं समझ सका तो चार दफा समझाऊंगा। और चार दफा समझाने से भी नहीं समझेगा तो पांच दफा समझाऊंगा। समझाना, यही मेरा काम है। जव तक मैं कामयाव नहीं होता, तव तक मैं हारूंगा नहीं, निरंतर समझाता ही रहूंगा।

जो मैं चाहता हूं वह तो सर्वस्व-दान की वात है। जैसा पोतना कवि ने (तेलगु) भागवत में वताया है—"तल्लिदंड्रल भंगि धर्मवत्सलतनु दीनुल गाव चिंतिचुंवाडु।" माता-पिता के समान चिंता करने की यह उपमा मैं आपको लागू करना चाहता हूं। जिस प्रेम से माता-पिता-वच्चों के लिए काम करते हैं, भूखे रहकर उन्हें खिलाते हैं, उनके लिए सर्वस्व का त्याग करते हैं, वह शक्ति और वह प्रेम मैं आप लोगों से प्रकट करना चाहता हूं।

आज मैं जेल में यह जानने के लिए कम्युनिस्ट भाइयों से मिलने गया था कि उनके क्या विचार चल रहे हैं। उनके साथ जो वातचीत हुई, वह पूरी यहां वताने का आवश्यकता नहीं है। पर उन्होंने एक सवाल मुझसे किया कि क्या आप इन श्रीमानों को वापस अपने घरों में ले जाकर वसाना चाहते हैं? क्या उनके दिल में परिवर्तन होने वाला है? आपको वे लोग ठग रहे हैं। कुछ इस तरह का उनका भाव था। मुझे वहां उनसे वहस नहीं करनी थी, न उनके हर प्रश्न का जवाव ही देना था। लेकिन अगर यह वात सही है तो हरेक के हृदय में परमेश्वर विराजमान है और हमारे श्वासोच्छ्वास का नियमन वही करता है और सारी प्रेरणा वही देता है तो मेरा विश्वास है कि परिवर्तन जरूर हो सकता है। अगर कालात्मा खड़ा

है और कालात्मा परिवर्तन करना चाहता है तो परिवर्तन होने ही वाला है। मनुष्य चाहे या न चाहे, जब मनुष्य प्रवाह में पड़ता है तब उसकी तैरने की शक्ति ही उसके काम नहीं आती, प्रवाह की शक्ति भी काम आती है। उसी तरह मनुष्य के हृदय में परिवर्तन के लिए काल-प्रवाह मददरूप होता है। आज तो सब की भूमि तपी हुई है। ऐसी तपी हुई भूमि पर प्रेम की दो बूंदें छिड़काने का काम अगर भगवान् मुझसे करवाना चाहता है, तो मैं वह खुशी से कर रहा हूं। मैं तो गरीबों से भी जमीनें ले रहा हूं। एक एकड़ वाले से भी मैं एक गुंठा ले आया हूं। अगर वह आधा गुंठा देता तो भी मैं ले लेता। लोग पूछते हैं कि एक गुंठा जमीन का मैं क्या करूंगा? मैं कहता हूं, "कोई हर्ज नहीं। जिसने मुझे वह एक गुंठा दिया है, उसीको ट्रस्टी बनाकर मैं वह जमीन उसे सौंप दूंगा और कहूंगा कि "जो पैदावार उसमें होगी, वह गरीबों को दे देना।" एक एकड़वाले को एक गुंठा देने की वृत्ति होना, उसे ही मैं विचार-क्रांति कहता हूं। जहां विचार-क्रांति होती है, वही जीवन प्रगति की ओर बढ़ता है। 'अपि प्राज्यं राज्यं तृणमिव परित्यज्य सहसा'—एक घास के तिनके की तरह राज्य का परित्याग करने वाले त्यागी इस भूमि में हो गये हैं।

विचार-शक्ति की कोई हद नहीं होती। एक विचार एक मनुष्य को ऐसा सूझता है कि उससे मनुष्य के जीवन में क्रांति हो जाती है। आपने देखा, कुछ महापुरुष भी ऐसे होते हैं, जिनके विचार में ऐसी शक्ति होती है कि दूसरे के जीवन को पलट देते हैं। इसलिए विचार को जगाने के लिए मैंने उस गरीब से भी एक गुंठा जमीन ले ली और जहां मैं उन श्रीमानों से जमीन ले रहा हूं, वहां उनके सिर पर मेरा वरदहस्त है—"भाइयो, तुम्हें अब शहर में भागकर जाने की आवश्यकता नहीं है। कबतक भागते रहोगे?" यानी जहां मैंने श्रीमानों से सौ एकड़ दान लिया, वहां मैंने उनके मन में एक अच्छा विचार भी जगा दिया। हरेक मनुष्य के दिल में अच्छे-बुरे विचार होते हैं। अब उसके हृदय में एक लड़ाई शुरू होती है, एक महाभारत-युद्ध शुरू होता है।

"सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय
सच्चाऽसच्च वचसी पस्पृधाते
तयोर्यत् सत्यं यतरत् ऋजीयः
तदित् सोमोऽवति हंति आ असत्"

जाननेवाले जानते हैं कि हर मनुष्य के हृदय में सत् और असत् की लड़ाई नित चलती रहती है। जो सत् होता है, उसकी रक्षा होती है और जो असत् है, उसका खात्मा होता है। इसीलिए दाता ढोंगी है, ऐसा मानने का कारण नहीं है। परंतु उसके द्वारा अन्याय के भी कई काम हुए होते हैं। विना अन्याय के हजारों एकड़ जमीन कभी जमा हो सकती है ? अर्थात् जिन्होंने दान दिया है, उन श्रीमानों के जीवन में कई तरह का अन्याय और अनीति का होना संभव है। परंतु उनके हृदय में भी एक झगड़ा शुरू होगा कि क्या हम ने जो अन्याय किया है, वह ठीक है ? परमेश्वर उन्हें बुद्धि देगा, वे अन्याय छोड़ देंगे। परिवर्तन इसी तरह हुआ करता है।

मेरी प्रार्थना है कि अब देने का जमाना आया है, आप सब लोग दिल खोलकर दीजिये। देने से एक दैवी संपत्ति निर्माण होती है। उसके सामने आसुरी संपत्ति टिक नहीं सकती, आसुरी संपत्ति लुट जाना चाहती है। वह ममत्वभाव पर आधार रखती है। समत्व नहीं जानती। दैवी तो समत्व-पर आधार रखती है। दैवी और आसुरी संपत्ति की यह पहचान है।

जहां मैं दान लेता हूं वहां हृदय-मंथन की, हृदय-परिवर्तन की, मातृ-वात्सल्य की, भ्रातृ-भावना की, मैत्री की और गरीवों के लिए प्रेम की आशा करता हूं। जहां दूसरों की फिक्र की भावना जागती रहती है, वहां समत्व-बुद्धि प्रकट होती है, वहां वैरभाव टिक नहीं सकता। वैरभाव का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं होता। पुण्य में ताकत होती है, पाप में कोई ताकत नहीं होती। प्रकाश में शक्ति होती है, अंधकार में कोई शक्ति नहीं होती। प्रकाश को अंधकार का अभाव नहीं कह सकते। प्रकाश वस्तु है, अंधकार अवस्तु है। लाखों वर्षों के अंधकार में प्रकाश ले जाइये, एक क्षण में अंधकार का निवारण हो जायगा। वैसे ही आज पुण्योदय हुआ है। उसके सामने वैरभाव टिक नहीं सकता। यह भू-दान-यज्ञ अहिंसा का एक प्रयोग है, जीवन-परिवर्तन का प्रयोग है। मैं तो निमित्तमात्र हूं। आप भी निमित्तमात्र हैं। परमेश्वर आप लोगों से और मुझसे काम कराना चाहता है। वह काल-पुरुष की, परमेश्वर की प्रेरणा है। इसलिए मैं मांग रहा हूं, तब आप लोग दीजिये और दिल खोलकर दीजिये। जहां लोग एक फुट जमीन के लिए झगड़ते हैं, वहां मेरे कहने से लोग सैकड़ों-हजारों एकड़ जमीन देने के लिए

तैयार हो जाते हैं। तो आप समझिये कि यह परमेश्वर की प्रेरणा है। इसके साथ हो जाइये। इसके विरोध में मत खड़े रहिये। इसमें से भला-ही-भला होगा।

आज मैं फिर से कहता हूं कि हम विज्ञान से पूरा लाभ उठाना चाहते हैं। अगर हम विज्ञान से पूरा लाभ उठायें तो इस भूमि को हम स्वर्ग बना सकते हैं। लेकिन फिर हम विज्ञान के साथ हिंसा को नहीं, अहिंसा को जोड़ना होगा। अहिंसा और विज्ञान के मेल से ही यह भूमि स्वर्ग बन सकती है। हिंसा और विज्ञान के मेल से वह स्वर्ग नहीं बन सकती, बल्कि खत्म हो सकती है।

पहले लड़ाइयां छोटी-छोटी होती थीं। जरासंध-भीम लड़े, कुश्ती हुई, पाण्डवों को राज्य मिल गया, सारी प्रजा खून-खराबी से बच गई। अगर इस जमाने में वैसी लड़ाइयां लड़ी जायं तो इसमें हिंसा होने पर भी नुकसान कम है। इसलिए यह द्वंद्व-युद्ध मैं कबूल कर लूंगा। अगर हिटलर और स्टालिन कुश्ती के लिए खड़े हो जाते हैं और तय करते हैं कि जो हारेगा वह हारेगा और जो जीतेगा वह जीतेगा तो मैं उसे कबूल कर लूंगा। और अगर दुनिया वह द्वंद्व देखने को आई है तो मैं उसका निषेध नहीं करूंगा; क्योंकि दुनिया का उसमें विशेष नुकसान नहीं होगा। परन्तु द्वंद्व-युद्ध का जमाना अब बीत गया है। पहले द्वंद्व-युद्ध होते थे, फिर हजारों लोग आपस में लड़ने लगे। हजारों की लड़ाई खत्म हुई तो लाखों लड़ने लगे। उससे भी नतीजा नहीं निकला। फिर क्या, इधर बीस लाख तो उधर पच्चीस लाख, और इधर पच्चीस तो उधर पचास लाख। इस तरह यह जमाना आया कि हजारों-लाखों नहीं, करोड़ों लोग आपस में लड़ने लगे। मनुष्य के सामने सवाल यह है कि या तो 'टोटल वार' की तैयारी करो या हिंसा छोड़ो और अहिंसा को अपनाओ। मैं कम्युनिस्टों को यही समझाता हूं कि भाइयो, तुम लोग कहीं दो-चार खून करते हो, कहीं दो-चार मकान जलाते हो, कहीं कुछ लूट-खसोट कर लेते हो, रात में आते हो, दिन में पहाड़ी में छिपते हो; लेकिन अब छिपने का जमाना खत्म हो चुका है। अब ऐसी हरकतों से कोई लाभ नहीं है। अगर लड़ाई लड़नी है तो विश्वयुद्ध (वर्ल्ड वार) की तैयारी करो और उसी की राह देखो। लेकिन जब तक करोड़ों के पैमाने पर हिंसा करने की तैयारी नहीं करते तब तक छोटी-छोटी लड़ाइयों का यह तरीका

छोड़ दो और तुम्हें वोट देने का अधिकार मिला है, उससे लाभ उठाओ। प्रजा को अपने विचार के लिए तैयार करो। जागतिक युद्ध या परिशुद्ध प्रेम, ऐसी समस्या विज्ञान ने हमारे सामने खड़ी कर दी है।

इसलिए अगर प्रेम का, अहिंसा का तरीका आजमाना चाहते हो तो इन जमीनों का ममत्व छोड़ हो, नहीं तो हिंसा का ऐसा जमाना आने वाला है कि उसमें सारी जमीनें और उस जमीन पर रहने वाले प्राणी खतम हो जायंगे। यह समझकर कि भगवान ने यह समस्या हमारे सामने खड़ी कर दी है, भाइयो ! निरंतर दान दिया करो।

: ४० :

ग्रामदान की विचार और आचार-योजना

अंग्रेज हिंदुस्तान में किस तरह आये और कैसे स्थिर हुए, उसका इतिहास सब जानते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि पहले उनके राज्य के लिए हम लोगों में कुछ श्रद्धा भी थी, परंतु चंद दिनों में उस श्रद्धा का पर्यवसान शंका में हुआ। फिर बहुत दिनों के बाद यह निश्चय हुआ कि स्वराज्य-प्राप्ति के बिना हिंदुस्तान के दुःख नहीं मिटेंगे। दादाभाई नौरोजी ने १९०६ में कलकत्ता-कांग्रेस में हिंदुस्तान को स्वराज्य का मंत्र दिया। उसके बाद लोकमान्य तिलक ने और फिर महात्मा गांधी ने उस कार्यक्रम को उठा लिया। हजारों लोग उनके साथ जुट गये। बहुत तीव्र प्रयत्न के बाद स्वराज्य की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार जब एक मंत्र की सिद्धि हो जाती है, तब साधकों की हिम्मत बढ़ती है। जो साधक नहीं होते, उनकी शक्ति मंत्र-सिद्धि के बाद क्षीण हो जाती है। एक मंत्र सिद्ध हो गया तो फिर उनकी भोग-वासना जागृत हो जाती है, फिर वे नई तपस्या नहीं कर पाते। परंतु जो साधक होते हैं, उनका एक मंत्र की सिद्धि के बाद उत्साह बढ़ता है हिंदुस्तान में भी साधक काफी संख्या में थे, जिन्हें गांधी जी की तालीम मिली थी। उन लोगों ने स्वराज्य-प्राप्ति के बाद अपने सामने सर्वोदय का मंत्र रखा। एक मंत्र की सिद्धि के बाद जब फौरन

दूसरा मंत्र आता है तो मनुष्य के जीवन की सिद्धि के लिए वह बहुत ही सौभाग्य की बात समझनी चाहिए। जैसे कालिदास ने लिखा है, "क्लेष फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते," अर्थात् जब एक क्लेष फलित होता है तो साधकों को फिर से नये क्लेष की हिम्मत होती है। वैसे ही हिंदुस्तान को स्वराज्य के बाद नये मंत्र की प्राप्ति हुई। उन्हें यह मंत्र ढूंढ़ना नहीं पड़ा। वह गांधीजी की स्फूर्ति थी कि एक मंत्र की सिद्धि के पहले ही उन्होंने दूसरा मंत्र तैयार रखा था। जो क्रांतिदर्शी होते हैं, उनका यह लक्षण है कि वे दूर का देखते हैं। गांधीजी ने भी बहुत दूर का देख लिया था। १९१७ में, याने स्वराज्य-प्राप्ति के तीस साल पहले ही, उन्होंने दक्षिण भारत में हिंदी का काम शुरू किया था। वे कहते थे कि हम लोग हिंदी में अच्छी तरह तैयार हो जायंगे तो स्वराज्य के बाद प्रगति कर सकेंगे। १९३७ में, याने स्वराज्य के दस साल पहले ही उन्होंने नई तालीम की खोज की थी, ताकि स्वराज्य के बाद नई तालीम शुरू हो जाय और देश की प्रगति न रुके। इस तरह से स्वराज्य-प्राप्ति के बाद क्या करना पड़ेगा, इसका भी दर्शन उन्हें पच्चीस-तीस साल पहले ही हुआ था। स्वराज्य के बाद सर्वोदय करना होगा, यह मंत्र उन्होंने दे रखा था।

भारत का यह बहुत बड़ा भाग्य है कि एक मंत्र की सिद्धि के बाद दूसरा-मंत्र उपस्थित हुआ। मंत्र की सिद्धि के लिए तपस्या करनी पड़ती है। एक तपस्या पूरी होने के बाद फौरन दूसरी तपस्या शुरू करने का आनंद भगवान ने हमें दिया। जिस जीवन में तपस्या नहीं, मंत्र नहीं, वह जीवन सुखमय हो तो भी निस्सार हो जाता है। मनुष्य को उस सुख में रस नहीं मालूम होता है। फिर मनुष्य यह करता है कि घर में खाने की चीजें खूब पड़ी रहने पर भी एकादशी का उपवास करता है। सुख में मनुष्य को समाधान नहीं होता है, इसलिए वह तपस्या ढूढ़ता है। सुख में पशु को समाधान होता है, लेकिन मनुष्य को कोई मंत्र चाहिए, तपस्या करने का मौका चाहिए। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद हमें फौरन एक मंत्र प्राप्त हुआ और साधक उस काम में लग गये। सत्ता हाथ में आई तो उसके साथ कई प्रकार की बाधाएं भी आईं। कुछ लोगों को सत्ता हाथ में लेनी पड़ी। वह आवश्यक भी था। परंतु उस समय बहुत पीड़ा सहन करनी पड़ी। देश में खूब हिंसा चली। पचास लाख लोग पाकिस्तान से हिंदुस्तान आये और करीब उतने ही

हिंदुस्तान से पाकिस्तान गये, जिससे वहुत बड़ी समस्या खड़ी हुई। परस्पर द्वेप चला। किसी का किसी पर विश्वास नहीं था। स्वराज्य प्राप्त तो हुआ, परंतु उसके टिकने का क्षणभर भी भरोसा नहीं रहा। उस हालत में सर्वोदय तो कहीं छिप गया और सर्वनाश का लक्षण दीखने लगा।

किसी तरह से परिस्थिति संभल गई और उसके वाद देश में योजना चली। उस योजना में सर्वोदय का तो कहीं पता नहीं चला। यह सोचा गया कि देश की रक्षा अच्छी होनी चाहिए, तो लश्कर उत्तम होनी चाहिए। जहां मनुष्य युद्ध की कल्पना कर लेता है, वहां वड़े-वड़े उद्योगों का विकास करना होता है, क्योंकि आधुनिक युद्ध-कला में उसकी जरूरत होती है। हिंदुस्तान के दो टुकड़े हो गये थे। एक-दूसरे का एक-दूसरे को भय था। इस हालत में कोई भी देश अपनी योजना स्वयं नहीं करता है। हम नाम मात्र का राष्ट्रीय प्लानिंग करते हैं, लेकिन वास्तव में अपना 'प्लानिंग' हम नहीं करते हैं, वल्कि दूसरे देश हमारा प्लानिंग करते हैं। पाकिस्तान ने सेना वढ़ाई तो हमारे प्लानिंग में भी सेना वढ़ाने की वात आती है। फिर हमें प्लान का वहुत-सा पैसा उसी में लगाना होता है। इसका मतलव यह होता है कि आपके देश का प्लानिंग पाकिस्तान ने किया। प्लान करने के लिए दिल्ली में हम बैठे, प्लान हमारे हाथ से हुआ, परंतु हमारे दिमाग से नहीं हुआ। हमारा दिमाग कहता था कि अधिक-से-अधिक पैसा गरीबों की सेवा में लगाना चाहिए और सेना पर कम-से-कम खर्चा करना चाहिए, गांधीजी के बताये हुए अहिंसा के मार्ग पर चलना चाहिए, फिर भी हमारे हाथों ने लिखा कि सेना का वल वढ़ाना चाहिए, क्योंकि हमारा प्लानिंग पाकिस्तान ने किया और पाकिस्तान का प्लानिंग किसने किया? वहां तो अभी चुनाव ही नहीं हुए हैं और दस साल में पांच मंत्रिमंडल वदल गये तो वे क्या प्लानिंग करेंगे। पाकिस्तान भक्त बन गया है, अमरीका की शरण में गया है। पाकिस्तान का प्लानिंग अमरीका करता है और आपका प्लानिंग पाकिस्तान करता है। अव सर्वोदय कहां रहेगा? इस हालत में सर्वोदय अगर चलेगा तो जन-शक्ति से चलेगा।

सर्वोदय के साधक चंद थे। वे वेचारे निराश हो गये। वे खुद चरखा कातते थे, परंतु समझते थे कि अपनी मृत्यु के साथ यह चरखा भी दहन के काम में आयेगा। वे कहते थे कि हम तो कातना नहीं छोड़ेंगे, क्योंकि हमने

यह व्रत लिया है। हम तो यह पातिव्रत बरावर निभाएंगे, परन्तु इसमें से कुछ निकलेगा नहीं। दुनिया में अब चरखा चलेगा नहीं, मिल ही चलेगी। जो साधक नहीं थे, उन्होंने कातना छोड़ दिया था; परन्तु जो साधक थे, उन्होंने नहीं छोड़ा। वे कहते थे कि हम इस उपासना को नहीं छोड़ेंगे, परन्तु उनके मनमें आशा नहीं थी। इस तरह सर्वोदय निराशा में पहुंच गया था। 'सर्वोदय' शब्द तो लोगों ने उठाया, परन्तु 'सर्वोदय होटल' भी खुल गया, याने वह शब्द राम-नाम के-जैसा पवित्र बन गया। जैसे किसी कारखाने को भी रामजी का नाम दिया जा सकता है, वैसे ही सर्वोदय की हालत हो गई। 'सर्वोदय' शब्द बहुत अच्छा है, वह विचार सबको कबूल है; परन्तु व्यवहार में नहीं आयेगा, अव्यवहार्य है, ऐसा देश का निर्णय हुआ। इस पर भी सर्वोदय के साधक काम कर रहे थे।

हम भी ढढ़ रहे थे कि सर्वोदय की शक्ति कहां से प्रकट होगी। होते-होते भगवान की कृपा से तैलंगाना में भूदान-यज्ञ का जन्म हुआ और सर्वोदय की अहिंसा पद्धति से कुछ-न-कुछ काम बन सकता है, इसका थोड़ा दर्शन वहां पर हुआ। तैलंगाना के दो महीने के भूदान-कार्य से वहां थोड़ी शान्ति हुई। उसके बाद कम्युनिस्टों ने चुनाव में हिस्सा लिया और एक प्रदेश में उनकी सरकार भी बनी। उन्होंने संविधान के अन्दर रहकर काम करने का निश्चय किया। इस तरह से परिवर्तन होता गया तो सर्वोदय का विचार कुछ पराक्रम कर सकता है, व्यवहार में आ सकता है, ऐसा कुछ थोड़ा भास देश को हुआ। सर्वोदय अच्छा विचार है, इसमें किसी को संदेह नहीं था। परन्तु वह व्यावहारिक है या नहीं, इस बारे में संदेह था, लेकिन वह शायद कुछ व्यावहारिक है, ऐसा भास हुआ तो सर्वोदय के साधकों की कमर मजबूत हुई। आखिर भूदान के आगे बढ़ते-बढ़ते उसमें से ग्रामदान निकला तो एक मानसिक चमत्कार हुआ; यानी सर्वोदय में काफी शक्ति पड़ी है, इसका भास हुआ।

इसके बाद और एक बात हुई जो उससे भी बड़ी थी, लेकिन उसकी तरफ लोगों का जितना ध्यान जाना चाहिए था, उतना नहीं गया। भारत-भर में भूदान का काम चला और आखिर ग्रामदान हुआ। उसका आधार यह था कि जिले-जिले में भूदान-समिति थी। जैसे हर जिले में कांग्रेस-कमेटी होती है, वैसे हिन्दुस्तान के तीन सौ जिलों में से करीब ढाईसौ जिलों में भूदान-समिति

थी। उसके लिए गांधी-निधि से कुछ मदद भी मिलती थी। वह अच्छा ही था। गांधी-निधि का उसमें बहुत सुन्दर उपयोग होता था, क्योंकि गांधीजी के स्मरण के लिए वह निधि थी, और गांधीजी के विचार का प्रचार जितनी अच्छी तरह इससे हो सकता है, उतना और किसी से नहीं हो सकता, इस बात को सब नेता महसूस करते थे और गांधी-निधि वाले बड़ी खुशी से भूदान के लिए पैसा देते थे।

ग्रामदान होने के बाद हमारे चित्त में एक छटपटाहट पैदा हुई। हमें लगा कि अब और एक क्रांतिकारक कदम उठाना चाहिए। भूदान से ग्रामदान तक प्रगति होने से विचार काफी विकसित हो गया है। अब यह सारा तंत्र तोड़ना चाहिए। इसलिए भूदान के लिए जो गांधी-निधि का आधार लिया जाता था, वह हमने बन्द किया और सारा तंत्र, भूदान-समितियां आदि, तोड़ डालीं। कोई भी पार्टी, जो व्यापक बनी है, अपना संगठन और मजबूत करना चाहती है। लेकिन वहां हमने बिल्कुल उससे उलटी प्रक्रिया चलाई। पलनी में एक ही प्रस्ताव से सारे भारत की कुल भूदान-समितियां खत्म कर दीं। कल्पना के विकास का इतिहास लिखनेवाला भविष्य का इतिहासकार इस कल्पना को बहुत महत्व देगा। वही वास्तव में इतिहास है, जिसमें मानव की कल्पना का किस तरह विकास हुआ, यह बताया गया है।

हमने यह सारा तंत्र क्यों तोड़ा? क्रांतियां मांत्रिक होती है, तांत्रिक नहीं होती हैं। मंत्र के बल से क्रांति होती है, तंत्र के संगठन के बल से नहीं। संस्था से कोई साधारण सेवा का काम हो सकता है, उससे सत्ता बन सकती है, परन्तु जन-समाज में क्रांति लाने का काम उससे नहीं हो सकता। क्रांति के लिए मंत्र चाहिए और लोग सारे मुक्त हों। हर कोई अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सकता हो। इस तरह सारी जनता पर आंदोलन सौंप दे, तब क्रांति हो सकती है।

इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ प्रांतों में, जहां पहले ४०-५० कार्यकर्ता थ, उनके बदले सैकड़ों कार्यकर्ता हुए और कुछ प्रांतों में जहां पहले कार्यकर्ता १०-५ थे, वे भी गिर गये। इस तरह दोनों परिणाम निकले। हमने दोनों परिणामों की कल्पना कर रखी थी और मन में दोनों की तैयारी भी, बल्कि समितियां टूटने के बाद कुल हिन्दुस्तान का काम गिर जाता तो भी हमें लगता

कि हमने जो कदम उठाया, वह सही है, क्योंकि यह एक शास्त्र है, सिद्धांत है कि क्रांतियां कभी संस्थाओं के जरिये नहीं होतीं। संस्था का एक ढांचा होता है, एक अनुशासन की पद्धति होती है, उसके अंदर रहकर सबसे काम लिया जाता है। उसमें बुद्धि-स्वातंत्र्य नहीं रहता है।

आज के लोकतंत्र में यह दोष देख सकते हैं। मान लीजिये कि चुनाव में ३०% लोगों ने एक पार्टी को वोट दिया, बाकी के ३०% ने २-४ पार्टियों को मिलकर वोट दिया और ४०% ने किसी को वोट नहीं दिया। अब जिस पार्टी को ३०% वोट मिले, उस पार्टी का राज्य चलेगा और वे १००% लोगों पर राज्य करेंगे। अब वे जो ३०% वोट पानेवाले राज्य करने लगे, उनकी सरकार की तरफ से पार्लमेंट में एक बिल आता है, जिसकी चर्चा पहले पार्टी की बैठक में होती है। वहां १६% लोगों ने इस बिल को कबूल किया और १४% ने कबूल नहीं किया, तो भी पार्टी-बैठक में वह बिल पास हो जाता है। फिर वह बिल पार्लमेंट में आता है, तो जिन १४% ने उसे पसंद नहीं किया, उन्हें भी वहां उसे पसंद करना पड़ेगा। उसके पक्ष में हाथ उठाना पड़ेगा, क्योंकि पार्टी का अनुशासन होता है। तो आखिर भारत पर कितने प्रतिशत की सत्ता चली? यह केवल भारत की ही हालत नहीं है, सारी दुनिया के लोकतंत्रों की हालत है। आखिर १६% का राज्य चलता है और इसका नाम है बहुमत का शासन। और वे जो १६ हैं, उनमें भी २-४ लोगों के पीछे सब लोग चलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि २-४ व्यक्तियों के ही दिमाग-का राज्य भारत पर चलता है। संस्था की शैली से यह सब होता है। इसमें क्रांति का सवाल ही नहीं आता है, क्योंकि बुद्धि की आजादी नहीं होती। वहां तो हाथों की गिनती होती है। इसीलिए हमने कहा कि क्रांति के लिए तंत्र नहीं चाहिए। हमारे इस निश्चय के बाद ग्रामदानों की संख्या बढ़ती ही गई।

भूदान में एक के बाद एक अद्भुत् घटनाएं घटती गईं। लोग भूदान के विचार की ओर ध्यान देने लगे, यह एक आश्चर्य ही है। फिर भूदान से आरंभ करते-करते लोग ग्रामदान तक आते हैं, यह दूसरी बड़ी घटना है। फिर सारे भारत में जो तंत्र बना था, वह तोड़ने के लिए लोग तैयार हो गये, यह और एक बड़ी घटना है। बावजूद तंत्र तोड़ने के, ग्रामदान बढ़ रहे हैं, यह एक अद्भुत ही घटना है और इस सबके सिर पर एक बड़ी घटना मैसूर प्रदेश में

घटी। वहां हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न राजनीतिक पक्षों की चोटी के नेता, जिनके विचार एक दूसरे से मिलते नहीं, इकट्ठे हुए और उन्होंने प्रस्ताव करके देश को ग्रामदान का काम उठाने का आदेश दिया। लोग हमसे पूछते हैं कि बाबा, आप तो '५७ में क्रांति होगी, ऐसा कहते थे। हम उनसे कहते हैं कि क्या आप देखते नहीं कि क्रांति हो चुकी है, क्या आपको उसका दर्शन नहीं हुआ ? जहां परस्पर विरोधी विचार रखनेवाले देश के गण्यमान्य नेता ग्रामदान का एक विचार मान्य करते हैं, वहां वैचारिक क्रांति हुई या नहीं हुई। वैचारिक क्रांति ही वास्तव में क्रांति है। वह हाथों से होने वाली है, वह पीछे आती है। इसलिए आगे का सवाल बहुत कठिन नहीं है।

हम तो बिल्कुल विचार से भर गये हैं। क्रांति हमारे साथ आ रही है। हम उसके पीछे-पीछे जाते थे, उसे पकड़ना चाहते थे, अब वह हमारी पकड़-में आ गई है। उसे हाथ में लेकर अब हम आगे बढ़ेंगे।

अब इसके आगे हमें क्या करना है, इस बारे में मैं योजना रखूंगा। जब वैचारिक क्रांति हो गई तो अब इसके आगे हमारे कार्यकर्ताओं को जागृत रहना चाहिए। उनके मुख से मधुर वाणी ही निकलनी चाहिए। खंडन नहीं होना चाहिए। यह तो मैंने नेताओं के सम्मेलन के पहले ही कालड़ी में कहा था कि अब खंडन-पर्व समाप्त हुआ है, इसके आगे परम शांति पर्व आया है। नेताओं के सम्मेलन के बाद हरेक को इसका दर्शन होना चाहिए कि हम कुछ खंडन करते हैं तो हमारे काम के लिए वह बाधक होता है। अब विश्वास रखना चाहिए कि राष्ट्र का संकल्प हुआ है, इस संकल्प के पीछे परमेश्वर का बल है, अब यह बाबा का व्यक्तिगत संकल्प नहीं रहा है, न यह सर्वोदय के साधकों का संकल्प रहा है। यह कुल हिंदुस्तान देश का संकल्प हुआ है। इसलिए हमें परमेश्वर-दर्शन तो हो चुका है, इसके बाद उसकी सेवा करने का कार्यक्रम है, वह बड़े प्रेम से हम करेंगे। जब तक परमेश्वर का दर्शन नहीं हुआ था तब तक बड़ी विकट साधना करनी पड़ती थी। वैराग्य बहुत जरूरी था। बहुत क्लेश, कष्ट, विरोध आदि की जरूरत थी। परंतु ईश्वर को दर्शन होने के बाद तो प्रेम से सेवा करनी है। इसलिए जहां देश को नेताओं का आदेश मिल गया, वहां हमें क्रांति का दर्शन हो गया।

अब तो लोगों के काम में जोश आना चाहिए। हमने कहा कि इसके आगे

कार्यकर्ताओं के मुख से मंगल शब्द ही निकलना चाहिए। कहीं किसी की मदद मिली, नहीं मिली तो कोई चिंता नहीं करनी चाहिए। यह देश का कार्यक्रम है और देश इसे उठायेगा, ऐसा विश्वास रखना चाहिए।

दूसरी सूचना यह है कि ग्रामदान का विचार क्या है, इसे पूर्ण रूप से समझ लीलिये। अभी तक लोग समझते थे कि जिनके पास है, उनसे लेना है, और जिनके पास नहीं है उनको देना है, याने जिनके पास है, उनका देने का धर्म है और जिनके पास नहीं है, उनका लेने का ही धर्म है। धर्म इस तरह नहीं होता है। धर्म सबको लागू होता है। सत्य बोलना धर्म है तो किनके लिए है ? सबके लिए है। प्रेम करना आदि धर्म है तो सबके लिए है। उसी तरह अगर देना धर्म है तो देने का धर्म सबको लागू है। इसलिए समझने की जरूरत है कि इस देश में और दुनिया में संपत्तिहीन कोई नहीं है। हर किसीके पास देने लायक कुछ-न-कुछ चीज है। किसीके पास जमीन है, किसीके पास संपत्ति है, किसीके पास बुद्धि है, किसीके पास श्रम-शक्ति है। प्रेम तो सबके पास है, अथवा होना चाहिए। जिसके पास देने की जो चीज है, वह उसे ग्रामदान में देनी चाहिए। गांव के सब जमीनवालों ने अपनी सारी जमीन दान दी तो ग्रामदान हुआ, यह अपूर्व विचार है। जमीनवाले अब तक अपनी जमीन का उपयोग अपने घर के लिए करते थे, अब उन्होंने जमीन का उपयोग गांव के लिए करने का तय किया है, यह बहुत अच्छी बात है। उसी तरह से मजदूर अब तक अपनी मजदूरी का उपयोग घर के लिए करते थे, अब उन्हें अपनी मजदूरी सारे ग्राम को समर्पण करनी चाहिए। ग्रामदान में केवल जमीनवालों का ही हृदय-परिवर्तन नहीं करना है, कुल जनता का हृदय-परिवर्तन करना है। कुछ लोगों से लेना और कुछ लोगों को देना, ऐसा यह विचार नहीं है। आरंभ में तैलंगाना में जब भूदान-यज्ञ शुरू हुआ था तब ऐसा विचार था और हम भी इस तरह कहते थे, लेकिन आकाश में संचार करते-करते विचार का विकास हुआ और अब एक पूर्ण विचार आया है कि ग्राम में जिस किसीके पास जो भी हो, वह ग्राम-समाज के लिए अर्पण करे। उस पूर्व-विचार को समझकर इसे जनता के सामने रखना चाहिए।

तीसरी सूचना यह है कि हमें एक बात में लोगों को निर्भय बनाना चाहिए। कुछ लोग समझे हुए हैं कि ग्रामदान हुआ तो गांव की कुल जमीन

एक करनी पड़ेगी। फिर सारे लोग मजदूर-ही-मजदूर बनेंगे। यह बिल्कुल गलत विचार है। गांव की योजना गांववाले अपनी इच्छा के अनुसार ही करेंगे। अगर वे चाहें तो गांव की कुल जमीन का एक खेत कर सकते हैं, चाहें तो चार खेत वना सकते हैं, चाहें तो हर घर में जमीन बांट सकते हैं। मालकियत के तौर पर नहीं, वल्कि काश्त करने के लिए। इस तरह से वे जिस प्रकार की योजना चाहते हैं, वैसी कर सकते हैं। लेकिन एक बात बड़े महत्व की है कि जो भी करे, एक-दूसरे के साथ सहयोग की भावना होनी चाहिए। सहयोग नाम का जो गुण है, वह होना चाहिए, फिर खेती सहकारी बनानी है या नहीं, यह विपय गौण है। ग्रामदान के हर गांव में एक ही प्रयोग नहीं चलेगा, वल्कि भिन्न-भिन्न प्रयोग चलेंगे। उनमें किस प्रयोग से ज्यादा लाभ होता है, यह सब देखेंगे। हम चाहते हैं कि लोग अलग न रहें, सब लोग एकत्र काम करें तो अच्छा होगा। परन्तु यह पूर्ण विचार से और स्वतंत्र बुद्धि से काम करने की बात है, इसमें दबाव कुछ नहीं है।

चौथी वात यह है कि ग्रामदाम में किसीको कुछ भी खोना नहीं है। यह वात प्रथम ध्यान में आनी चाहिए। राजा-महाराजा गये और उनकी रियासतें भारत में शामिल हुईं, इसमें उन्होंने क्या खोया? उन्हें पूरा रक्षण मिला और जो नाहक का वैभव उनके पीछे लगा था, जिसकी उन्हें चिंता करना पड़ती थी, वह खत्म हुई और उनमें से जो बुद्धिवाले थे, उन्हें प्रजा का प्रेम मिला। इसी तरह से ग्रामदान में किसीको कुछ खोना नहीं है। उसमें अपना पैसा बैंक में रखने-जैसी बात है। व्यक्ति के लिए समाज ही सबसे बढ़कर बैंक है। सारे समाज को अपनी जमीन समर्पण करने में व्यक्ति का पूरा रक्षण है। हमने चार वैचारिक सूचनाएं दीं। अब आचार-योजना के बारे में कुछ कहेंगे।

अब इस काम का भार भूदान के चंद कार्यकर्ताओं पर है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। हमने भूदान-समितियां तोड़ डालीं, फिर भी एक जिले के लिए निवेदक के तौर पर एक-एक मनुष्य रखा। जिले में क्या चल रहा है, इस बारे में वह 'सर्व-सेवा-संघ' से निवेदन करेगा। वह अकेला शख्स एक जिले में क्या करेगा? कुछ वड़े लोगों से प्रेम से तगादा करेगा, इससे ज्यादा वह कुछ नहीं कर सकता।

जिन नेताओं ने यह काम उठाने का आदेश दिया है, उनके अनुयायियों

को यह काम उठा लेना चाहिए। अब यह आंदोलन सबके आधार पर है। इसमें सबकी इज्जत खतरे में है। देश की आबरू इसके साथ जुड़ी हुई है, यह समझकर सब प्रकार के भेदभावों को छोड़कर, सबको यह काम उठा लेना चाहिए। यह हमारी प्रत्यक्ष आचार-योजना है। उन-उन लोगों से बात करते समय हम उनसे पूछेंगे कि आप क्या काम करते रहे हैं ? अब यह बाबा का काम नहीं है, आपका काम है। बाबा आपके जिले में घूम रहा है; उसका उपयोग करो। अभी तक यह था कि बाबा के काम में ये लोग मदद करते थे और बाबा को उनका उपकार मानना पड़ता था। अब वे उनके काम में बाबा की मदद लेंगे और बाबा ने मदद की तो उसका उपकार मानेंगे। अब परिस्थिति बदल गई है। फिर भी हम आप से अपेक्षा नहीं करते हैं कि आप हमारा उपकार मानें। हम तो सबके चरणों के सेवक हैं। हमें बहुत दफा नम्मलवार का एक वचन याद आता है, जिसमें वह कहता है कि "मैं तेरे दास के दास के दास का दास हूं।" यही विनोबा की हैसियत है। इसलिए विनोबा आपकी चरण-सेवा के लिए हमेशा तैयार है। लेकिन आप सबको यह काम उठाना चाहिए।

आप यह काम करेंगे और जगह-जगह लोग ग्रामदान के लिए तैयार हो जायंगे। लेकिन जहां लोग ग्रामदान के लिए तैयार होते हैं, वहां उनके पीछे राहु, केतु शनि, मंगल रूप में साहूकार लगते हैं। साहूकार उनसे कहते हैं कि पुराना कर्जा जल्द वापस दो और इसके आगे तुम्हें कर्जा नहीं मिलेगा; क्योंकि तुम्हारी मालकियत नहीं रही है। यहां तक कि सरकार भी उन्हें कर्जा देने को राजी नहीं होती है, याने उन गांववालों ने कुछ पाप ही किया हो, इस तरह से सब लोग उन पर हमला करते हैं। इसलिए ग्रामदान-प्राप्ति के बाद कुछ आगे का काम करना पड़ता है।

ग्रामदान के बाद ग्राम-स्वराज्य की स्थापना करने का काम आता है। एक गांव को मजबूत बनाने की बात है। यह काम सबको करना है। इसमें पहली जिम्मेदारी गांव की है। इसमें दाता, व्यापारी, खादी कमीशन, कम्युनिटी प्रोजेक्ट आदि सबकी जिम्मेदारी है। देश में एक बड़ी घटना बनी तो ग्राम के उत्थान के लिए जिम्मेदारी सबकी है, वह काम हम नहीं करेंगे। इसका मतलब यह है कि देश में ग्रामदान से नैतिक हवा निर्माण हुई तो उसे

टिकाये रखना चाहिए। लोगों के पास सतत जाकर विचार समझानेवालों को और सेवा करनेवालों की एक सेना खड़ी करनी चाहिए। उसे हमने 'सेवा-सेना' नाम दिया है। शहर में ऐसी 'सेवा-सेना' बननी चाहिए। दस लाख की जनसंख्यावाले बंगलौर शहर के लिए हर पांच हजार मनुष्यों के पीछे एक सेवक, इस हिसाब से दो सौ सेवक चाहिए। वे सेवक पांच हजार लोगों से संपर्क रखेंगे। रोज लोगों के घर जायंगे। उन्हें साहित्य पहुंचायेंगे। हरेक का दुःख जानेंगे। फिर अपने लोगों में वह बात रखेंगे और कुछ दुःख-निवारण की कोशिश करेंगे। इस तरह एक निरंतर सेवा की योजना सारे भारत में होनी चाहिए। तब ग्रामदान-क्रांति शाश्वत होगी, स्थिर होगी, ग्रामदान से जो नैतिक हवा बनती है, उसकी गर्मी बनी रहेगी, बल्कि वह गर्मी बढ़ती रहेगी। उसके लिए सारे भारत में सत्तर हजार सेवकों की एक सेवा-सेना चाहिए।

हमने 'सेवा-सेना' नाम क्यों लिया ? हिन्दुस्तान में सेवा है, परंतु सेवा-सेना नहीं है। याने सेवा का आक्रमण नहीं हो रहा है। हमारे सामने कोई भिखारी आता है तो उसका दुःख देखकर हमारा दिल पिघलता है और हम कुछ सेवा करते हैं। इस तरह की सेवा से सामाजिक क्रांति नहीं होती है। सेवा का आक्रमण होना चाहिए। जैसे बच्चा भागना चाहता है तो भी मां उसे पकड़ती है, उसकी नाक साफ करती है, उसे दूध पिलाती है। वह रोता ही रहता है, मुंह खोलता ही नहीं, तो मां नाक दबाकर मुंह खोलती है और उसे दूध पिलाती है। उसके हित की बात मां समझाती है। वैज्ञानिक कहते हैं कि बच्चा अगर नहीं रोयेगा तो उसे दूध हजम नहीं होगा। उसका रोना लाजमी है, रोते हुए भी मां उसके मुंह में दूध डालेगी, तभी वह उसे पचा सकेगा। इस तरह जैसे माता प्रेम का आक्रमण करती है, वैसे ही सेवा का आक्रमण होना चाहिए। हमारी आंख के सामने कोई दुःख आया और फिर हमने उसके निवारण की कोशिश की, यह सेवा-सेना नहीं है, सेवा-सेना के सेवक खुद घर-घर जायंगे। यह सेवा-सेना ही मौके पर 'शांति-सेना' बनेगी।

विनोबाजी की अन्य पुस्तकें

1. विनोबा के विचार (तीन भाग)
2. शान्ति-यात्रा
3. गांधीजी को श्रद्धांजलि
4. ईशावास्यवृत्ति
5. स्वराज्य-शास्त्र
6. स्थितप्रज्ञ-दर्शन
7. ईशावास्योपनिषद्
8. सर्वोदय-विचार
9. भूदान-यज्ञ
10. सर्वोदय का घोषणा-पत्र
11. गांव सुखी, हम सुखी
12. राजघाट की सन्निधि में
13. सर्वोदय-संदेश
14. विचार-पोथी